इक्कीस कहानियाँ

संपादक—

राय कृष्णदास

वाचस्पति पाठक

प्रकाशक का वक्तव्य

'इक्कीस कहानियाँ' लेकर अपने कहानी-प्रेमी पाठकों के सम्मुख आने में हमें हार्दिक आनन्द हो रहा है, क्योंकि इसकी कहानियों के चुनाव में संग्रह के योग्य और सहृदय संपादकों ने विशेष श्रम किया है—कई सौ कहानियों में से छाँट कर ये प्रतिनिधि कहानियाँ इस संग्रह में गुंफित की गई हैं।

जिन कहानीकारों और प्रकाशकों ने हमें इस संग्रह में अपनी कहानियाँ देने की अनुमति प्रदान की है, उनके हम आभारी हैं।

इस संग्रह का 'आमुख' और 'ये इक्कीस कहानियाँ—' राय कृष्णदास ने तथा लेखकों का परिचय श्री वाचस्पति पाठक ने लिखा है। ये अंश, हम आशा करते हैं, कहानी-साहित्य-सम्बन्धी परिज्ञान बढ़ाने में एवं इन इक्कीस कहानियों की विशेषताओं पर प्रकाश डालने में उपादेय पाए जायँगे।

श्रावण शुक्ल,
१९९८ वि०

—प्रकाशक

क्रम

आमुख

मानव ने जिस दिन से भाषा द्वारा अपने भावों की अभिव्यक्ति आरम्भ की होगी, सम्भवतः उसी दिन से उसने कहानी कहना और सुनना भी आरम्भ कर दिया होगा। दूसरे शब्दों में--

कहानी की परंपरा

दस हजार बरस से कम पुरानी नहीं, अधिक भले ही हो।

विचित्र और आश्चर्य-वार्ता के कहने और सुनने, दोनों में आनन्द आता है। फिर उस समय तो मनुष्य वैसी बातों पर विश्वास करता था, अतएव वैसी कहानियां उसके मनोरंजन ही नहीं, श्रद्धा-विश्वास की वस्तु भी थीं। इसी कारण संसार भर के पुराने धार्मिक वाङमय की कथायें चमत्कारमय घटनाओं से भरी हुई हैं।

मनुष्यता के विकास के साथ साथ कहानियों का रूप भी बदलता गया, किन्तु उसका कहानी-प्रेम ज्यों का त्यों बना रहा। फलतः तब से अब तक मनुष्य--बच्चा--जिस दिन से बात समझने लगता है, कहानी सुनना चाहता है; केवल सुनना नहीं चाहता यदि बच्चे में तनिक भी कल्पना है तो सुनाना भी चाहता है और, अन्त में स्वयं एक कहानी हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य-जीवन कहानी से गुथा हुआ है। जीवन की कठोर वास्तविकता से ऊब कर जब वह एकदम किसी नये वातावरण में पहुंच कर विश्रान्ति और परिवर्तन चाहता है तो गान की भांति, कहानी ही उसका एक मुख्य सहारा होती है।

पुरानी कहानियों का रस मुख्यतः उनकी घटना-चमत्कार के द्वारा उत्पन्न होता था। इसका यह तात्पर्य नहीं कि विचित्र कथा कहने वालों का युग बीत चुका---आजकल के बड़े से बड़े कहानी लेखकों में सिद्ध-हस्त अद्‌भुत कथा लेखक भी हैं। वे भी वैसी ही लोकोत्तर और असम्भव बातें कहते हैं, जैसे दो-तीन हजार वर्ष पूर्व के कथाकार कहते थे। किन्तु दोनों में, कहने का ढंग इतना पृथक है कि दोनों के स्वाद बिल्कुल भिन्न भिन्न हो जाते हैं। जब कि पुराने कथाकार का उद्देश्य केवल कथा सुनाना और उसमें अद्‌भुत वार्ता के साथ साथ अलंकारिक वर्णनों और वाक्यों का पुट देकर उसे मनोरंजक बनाना रहता था, तब आधुनिक आख्यायिकाकार चरित्रों के विकास, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं भावों के उत्थान पतन को ही मुख्य ध्येय बनाता है। इस प्रकार उसकी कहानी का अद्‌भुत वा लोकोत्तर अंश केवल पृष्ठिका बन जाता है, अतः हम उसकी असम्भवता पर तर्क करने नहीं बैठते। दूसरी बात यह है कि कितनी ही प्राचीन कहानियों में जो चमत्कार मणि, मन्त्र, परी वा दैत्य-दानव के द्वारा दिखाये जाते थे, उनके लिये अब अनेक बार विज्ञान का आश्रय लिया जाता है। फिर भी इस प्रकार की कहानियों का, आधुनिक कहानी-साहित्य में बाहुल्य नहीं; यह उसकी एक शाखा मात्र है। केवल प्रसंग वश उसकी इतनी चर्चा यहाँ की गई है।

आधुनिक कहानी की विशेषता

जैसा कि हमने ऊपर कहा है, उसकी अभिव्यक्ति में है, चाहे उसकी शैली भाव-प्रधान हो वा तथ्य-प्रधान। कलाकार जो भी वस्तु (थीम) वा कथानक (प्लाट) लेता है उसमें चरित्रों का विकास और मनोवृत्ति

ा निदर्शन यथेष्ट रूप में रखता है, जिसे हम कथा की नाटकीय व्यंजना ह सकते हैं। साथ ही आधुनिक कहानी के--

विधान (टेकनीक)

ो एक मुख्य विशेषता यह है कि वह न तो--'एक था......' से रम्भ होती है और न---'जैसे उनके दिन बीते, वैसे सबके बीतें' समाप्त। लेखक उस स्थल से अपनी कहानी आरम्भ करता है जहां से समझता है कि पाठक को सबसे अधिक आकृष्ट और प्रभावित कर गा और अपनी कथा को अधिक से अधिक बल एवं सौन्दर्य प्रदान सकेगा। घटना-विन्यास की यह वक्रता भी बहुत कुछ नाटकीय धान (टेकनीक) से ली गई है। इसी प्रकार वह कहानी का अन्त उस ठिकाने पहुँचाकर कर देता है जहां हमारे हृदय पर स्थायी-स्थायी रेखा उत्कीर्ण हो जाय। सच पूछिये तो आधुनिक कहानी की से बड़ी सफलता उसके अन्त में है। आरम्भ चाहे थोड़ा शिथिल और र हो तो किसी प्रकार चल भी सकता है, किन्तु उसकी समाप्ति तो ल होनी ही न चाहिये क्योंकि, कलाकार उसे ठेठ अन्त तक तो पहुँ-ता नहीं, केवल एक पराकाष्ठा (क्लाइमैक्स) तक पहुँचाकर छोड़ ा है। बस वह पराकाष्ठा न बन पड़ी कि कहानी फेल हो गई।

ऐसी पराकाष्ठा के लिए कभी कभी कहानी नदी के प्रवाह की ति एक अतर्कित घुमाव घूम जाती है, जिसके कारण हमारे सामने ो बिलकुल नई दुनियां आ खड़ी होती है किंवा; हमारा हृदय अन्त जिस गम्भीर परिणाम की आशंका से धड़कता रहता है उसके विप-त एक बिलकुल हलके परिणाम में, कभी कभी तो एक मजाक में, ानी की पूर्ति होती है मानों पहाड़ खोदने पर चुहिया निकल पड़ती और इससे हमें विशेष चमत्कार होता है।

कितनी ही कहानियों की पराकाष्ठा एक तनिक से वाक्य
जरा सी घटना पर आधृत रहती है। कलाकार इसी तनिक से वा
वा जरा सी घटना को उपस्थित करने के लिये कई पृष्ठ का फूला फै
प्रस्ताव तैयार कर डालता है। ऐसे प्रस्ताव में व्यापक सरसता औ
तौल (बैलेन्स) होना, कि वह कहीं से खले वा अखरे नहीं, कृती
कौशल है।

विधान की यह नवीनता पाश्चात्य की देन है, और सचमुच
उत्कृष्ट देन है।[1] प्रायः सौ वर्ष पूर्व से वहां इसका आरम्भ हुआ। उ
पहलेवाली वहां की कहानियों में पर्याप्त कहानीपन है अर्थात् उन
मेरुदण्ड कथानक (प्लाट) है। उसी की सफलता लेखक की सफल
है। किन्तु लगभग सौ वर्ष की ऐसी ऐसी योरोपीय कहानियां
अच्छी संख्या में मिल सकती हैं जो आज भी आधुनिक कही जा सकती

'प्रसाद' जी ने एक बार इन पंक्तियों के लेखक से प्रसंगवश
बात कही थी, जिसका भाव लेकर--

कहानी की परिभाषा

यों बनाई जा सकती है--आख्यायिका में सौंदर्य की एक झलक
रस है। मान लीजिये कि आप किसी तेज सवारी पर चले जा रहे
रास्ते में एक गोल मटोल शिशु खेल रहा है, सुन्दरता की मूर्ति। उस
झलक मिलते न मिलते भर में सवारी आगे निकल जाती है। कि
उतनी ही झलक ऐसी होती है कि उसकी स्थायी रेखा आपके अन्तर्पट
अंकित हो जाती है। यही काम कहानी भी करती है।

---

१. अपने यहां के अनेक दोहों और कवित्तों की बंदिश इस विध
के बहुत निकट है।

यह आवश्यक नहीं कि कहानी का कथानक छोटा ही हो। कहानी
ी घटनाओं का रंगमंच उपन्यास से भी लम्बा हो सकता है। उदा-
ग में 'प्रसाद' जी की आकाश-दीप, इन्द्रजाल, नूरी और गुंडा कहानी
द आ रही है। इसके विपरीत कितने ही कहानियों में कथानक
र घटना का अभाव-सा रहता है। तो भी, एक बात में दोनों ही
कार की कहानियां समान होती हैं। उनका अंकन कलाकार कम से
न रेखाओं द्वारा करता है--वह केवल उन्हीं रेखाओं का उपयोग
रता है जो सौन्दर्य की आधार हैं। ये विशिष्ट रेखायें ऐसी शक्ति-
ली होती हैं कि अवान्तर रेखाओं को हठात् दरसा देती हैं। प्रेमचन्द
के मतानुसार--"कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुञ्जा-
 नहीं होती। यहां हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य को चित्रित करना
हीं वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है।"

आधुनिक कहानी के उद्देश्य

सम्बन्ध में भी अब कुछ विचार कर लेना चाहिये। आजकल भांति-
ांति के वादों की धूम है, इनके विवाद में न पड़कर हम केवल इतना
हना चाहेंगे कि आख्यायिका, चाहे वह किसी लक्ष्य को सामने रखकर
खी गई हो वा लक्ष्य-विहीन हो मनोरंजन के साथ साथ अवश्य
सी न किसी सत्य का उद्घाटन करती है। यह सत्य जितना आंशिक
र एकदेशीय होगा, कहानी भी उसी अनुपात में निम्न श्रेणी की
गी; वह कुप्रवृत्तिजनक तक हो सकती है। किन्तु यदि वह सत्य देश
र काल से मुक्त है तो कहानी भी स्थायी साहित्य की वस्तु एवं
ास्थ्य-कर होगी। एकाध उदाहरण लेकर इसे और स्पष्ट कर सकते
—'नारी स्वभाव से विलासप्रिय है,--यह एक बहुत ही संकुचित सत्य
नहीं, नहीं, सत्य का मिथ्या भास मात्र है; 'नारी स्वभाव से भाव-

प्रवण है और पुरुष ने उसके इस स्वभाव का लाभ उठाकर, अप उच्छृंखलता की तुष्टि के लिए उसे विलास-प्रिय बना डाला है, अन्य उसकी प्रवृत्ति त्याग और तपस्या मूलक ही है,--यह एक व्यापक स है। यदि कहानी पहले सूत्र को पकड़कर चलती है तो वह एक उत्पा रचना हो सकती है; यदि वह दूसरे सूत्र को आधार मानकर विकसि होती है तो वह मानवता को दानवता के उस दलदल से उबारने कारणों में हो सकती है, जिसमें आज मानवता बुरी तरह जा फँसी है

ऊपर का उदाहरण मानव प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। अब मान जीवन के असली पहलू से सम्बन्धित एक सत्य को लीजिये--'दरिद्र सब कष्टों की जननी है'--यह एक आंशिक सत्य है; रोग का निदा नहीं, एक लक्षण मात्र है। निदान है मानव समाज की आर्थिक योजन वह एक विपत्ति है जिसे मानवता ने आप गढ़ा है और आप अप ऊपर लादा है और, अब स्वयं उसके बोझ से दबी जा रही है। यदि कलाकार दरिद्रता को ही निदान मानकर चलता है तो उसकी परि संकुचित है, किन्तु यदि वह बीमारी की जड़ तक पहुँच गया है तो व उसे--"उघरहिं अन्त न होहिं निबाहू, कालनेमि जिमि रावण राहू के रूप में उद्‌घाटित करके हमारे नयनों को भी उद्‌घाटित कर देगा

कलाकार का सत्य

सीमित और संकुचित नहीं है। अतएव वह मानवता की ही गुत्थि में उलझा-जकड़ा नहीं रहता। उसका प्रत्येक अंकन एक सच्चा चि होगा।

किसी जंगली पशु के जीवन का एक पन्ना, किसी पक्षी के जीव की एक घड़ी, किसी फूल के जीवन के कुछ पहर, किसी रोड़े, पत्थ के जीवन की एक झलक--सारांश यह कि त्रिकालाबाध्य सारे ज

जंगम वाह्य जगत से लेकर अन्तर्जगत् के द्वन्द्व तक कलाकार की अनुभूति सहानुभूति और अभिव्यक्ति के परे नहीं। जो जितना बड़ा कलाकार होगा उसकी बिम्बग्राहिता भी उतनी ही व्यापक और मार्मिक होगी। प्रसंगवश यहां यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि वाह्य जगत् का अंकन मुख्यतः यथार्थ शैली द्वारा और अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण प्रायशः भावमूलक शैली द्वारा किया जाता है।

सत्य का स्फुटीकरण करने के लिये अथवा मिथ्या (अशिव) का मिथ्यात्व (अशिवत्व) दिखाने के लिये, कितनी ही बार कलाकार को--

मिथ्या का अंकन

भी करना पड़ता है। यहीं पता चलता है कि वह कलाकार है वा अन्यथा। कलाकार मिथ्या को मिथ्या ही दरसावेगा। वह अपनी आख्यायिका में एक क्षण के लिये भी हमें मिथ्या के प्रति अनुकूल न होने देगा; पतन का चित्र घिनौना ही अंकित करेगा। किन्तु यदि वह पतित के आचरितों को ऐसे शब्दों में अंकित करता है कि उन (आचरितों) के प्रति तीखी वितृष्णा होने के बदले हम आकृष्ट हों, तो वह मिथ्या को सत्य के रूप में चित्रित कर रहा है; अतः वह कलाकार नहीं कहा जा सकता, और चाहे जो कुछ कहा जाय। वह हमें रस नहीं प्रदान कर सका है; बदले में उसने मादकता प्रदान की है; हमें क्लोरोफार्म के सुगंध से मूछित किया है, पुष्प के सुगन्ध से उद्‌बुद्ध नहीं। इस सम्बन्ध में एक बात और है जो--

वास्तविक कलाकार की कसौटी

है, सर्वोपरि। मिथ्या को तो वह मिथ्या ही रखेगा, किन्तु जिस पात्र के द्वारा मिथ्या की अभिव्यक्ति हो रही है उसके प्रति भी उसकी (कला-

कार की) उतनी ही सहानुभूति छलकती रहेगी जितनी किसी भी अन्य पात्र के प्रति। दूसरे शब्दों में, उसका विरोध पतन से है पतित से नहीं। समाज जिन्हें पतित कहता है (और अनेक अवस्थाओं में जिनके पतन का दोषी वही––समाज ही––है) वे ही नहीं, सारी मानवता हाड़-मांस की बनी है, इस तथ्य को महसूस करता है।

एक अत्याचारी जमींदार, एक अर्थ-पिशाच पूंजीपति, एक वज्रहृदय पुलिसवाला, वेशिकों को लुब्धक की तरह जाल में फँसानेवाली एक वेश्या के प्रति भी उसकी इस कारण सहानुभूति रहती है कि वे स्वयं अपना और मानव समाज का भला बुरा सोचने में असमर्थ हैं, उनकी चेतना मूढ़ हो गई है, अतः उनकी प्रवृत्ति ऐसी हो रही है। इसके लिये वे क्रोध के नहीं दया के पात्र हैं। ऐसी दया करके वह उनके पुनरुत्थान में विश्वास रखता है। उसे निश्चय है कि उनके भीतर जो मानवता मूर्छित पड़ी है वह किसी न किसी दिन अवश्य जाग उठेगी। कवि के शब्दों में––

> आज मेरा भुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी,
> लेके दिखा दूंगा कल मैं ही अपवर्ग भी[१]।

फिर पतित के प्रति कलाकार सहानुभूति क्यों न रक्खे और उस सहानुभूति का वितरण क्यों न करे?

कभी कभी वह (कलाकार) अशिव का चित्र एक समस्या के रूप में उपस्थित करके छोड़ देता है, कि हम आंख मूंदकर उसके अनुयायी न बन जायं बल्कि हमारा अंतस सक्रिय हो उठे और हम स्वतः सत्य असत्य का निर्णय कर ले सकें।

---

१ 'नहुष' श्री मैथिलीशरण गुप्त।

कितने ही कहानीकारों ने—

मानवता के प्रति अनास्था

अंकित की हैं, बड़ी कटु। विधान (टेकनीक) की दृष्टि से इन कहानियों में कोई कसर नहीं पाई जाती। किन्तु यदि कोई गान ताल में ठीक हो अर्थात् कहीं से बेताला न हो, परन्तु उसके स्वर बेसुरे हों, तो वह संगीत नहीं माना जायगा। उक्त प्रकार के कहानियों के बारे में भी यही बात लागू होती है। मानवता में अनास्था योग्य अंश भी है, किन्तु वह मानवता के अपवाद रूप में ही है, नियम के रूप में नहीं; वह मानव प्रकृति की एक विलक्षणता मात्र है। इस विलक्षणता का चित्रण यदि मनुष्य स्वभाव के अच्छे पहलू के द्वन्द्व में किया जाय तब तो हमारे हृदय में, वह अवश्य उस विलक्षणता के प्रति विद्रोह उत्पन्न करता है और, इस प्रकार हमारे उत्थान का कारण बन सकता है। किन्तु यदि वह चित्रण एकांगी है, केवल उस विलक्षणता का ही है तो उसे हम व्यंजना के रूप में नहीं ग्रहण कर पाते प्रत्युत गम्भीरता पूर्वक ग्रहण करते हैं। एवं उलटे अपनी जाति (मनुष्यता) के प्रति सशंक बन जाते हैं। अर्थात्, अनास्था का वह चित्र अनास्था का कोई सुधार न करके उसकी परम्परा को और भी दृढ़ करता जाता है।

यही हाल कहानियों में मानव-दुर्बलता के चित्रण एवं समाज के—

नग्न चित्रण

का भी है। ऐसा करके लेखक वस्तुतः यथार्थ चित्रण नहीं करता, गन्दगी को और फैलाता है। इस प्रसंग में एक बात याद आती है— किसी अंगरेजी कहानी-लेखक की, सम्भवतः एच० जी० वेल्स की

एक कहानी है जिसमें एक सनकी किसी प्रसिद्ध डाक्टर की प्रयोगशाला में जाता है और उसे बातों में उलझाकर किसी भीषण रोग के कीटाणुओं से भरी एक टच्यूब लेकर भागता है कि उसे जलकल की मुख्य टंकी में डाल के सारे नगर का नाश कर दे। यही हाल ऐसी कहानियों का भी है। इनसे हम उन दुर्बलताओं का प्रचार ही करते हैं, नग्नता बढ़ाते ही हैं, इसके विपरीत नहीं। जहां कितने रोग ऐसे हैं जो उभार देने से अच्छे होते हैं, वहां कितने रोग ऐसे भी हैं जो उपेक्षा करने से ही अच्छे हो जाते हैं : यही उनकी चिकित्सा है। समाज के रोगों के सम्बन्ध में भी ठीक यही बात है। नग्न चित्रण हमारे परिज्ञान को पीछे बढ़ाते हैं, वासनाओं को पहले।

आख्यायिका की शक्ति

कहानीकार अपनी भावना एवं उसकी अभिव्यक्ति के लिये अपेक्षित कल्पना का शब्द-चित्र प्रस्तुत करके हमारे संवेदन को इतना तीव्र कर देता है कि वह शब्द-चित्र सजीव रूप धारण करके हमारे सामने अभिनय करने लगता है और हमें उन दृश्यों एवं घटनाओं की अनुभूति होने लगती है। इस अनुभूति किंवा प्रतिक्रिया में ही हमें 'रस' मिलता है, जो सारे पार्थिव अर्थात् इन्द्रियजन्य आस्वादों से पृथक अतएव लोकोत्तर होता है; गीता के शब्दों में--सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। इस स्वाद का स्थायी प्रभाव हम पर बना रहता है और हमारे आन्तरिक विकास का कारण होता है।

कुछ परिवर्तन के साथ आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में--"वर्तमान जगत में उपन्यास, आख्यायिकाओं की बड़ी शक्ति है। समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियां उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास, आख्यायिकायें उनका प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करतीं,

आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकती हैं ।" इतना ही नहीं, इनसे भी गहरी, गम्भीर और चिरकालीन परिस्थितियों को, जो हमें नाश की ओर लिये जा रही हैं, ठीक ठिकाने लाना भी उन्हीं का काम है । किन्तु ऐसा न तो अनास्था से किया जा सकता है, न नंगापन-फूहड़पन से । इसके लिये तो वही सहानुभूति अपेक्षित है जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है ।

सत्यं, शिवं, सुन्दरम्

कहानीकार भी दूसरे कलाकारों की भांति, अपनी कृतियों द्वारा हमें ऐसा प्रभावित कैसे कर पाता है, अभी इसकी कुछ चर्चा की जा चुकी है अब तनिक और ब्योरे में पैठा जाता है---कलाकार की अभिव्यक्तियों का रूप रमणीय, अतः पुरअसर होता है । यह रमणीयता उस दर्द का उस सहृदयता का प्रतिबिम्ब है जिसे कलाकार ने पाया है---उसका हृदय सहानुभूति से ओतप्रोत है । इस प्रकार कलाकार को ईश्वर ने, प्रकृति ने, नियति ने---जो जी चाहे कह लीजिये तीन देनें दी हैं---अनुभूति, सहानुभूति और अभिव्यक्ति, जिनके संयोग से उसकी कृति सत्यं, शिवं, सुन्दरम् बनती है । उसकी अनुभूति से सत्यं, सहानुभूति से शिवं और अभिव्यक्ति से सुन्दरम् ।

शिवं अर्थात् सहानुभूति का विमर्श ऊपर किया जा चुका है । यहां उसके सत्यं और सुन्दरम् का विवेचन कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

कलाकार का सत्य दार्शनिक के सत्य से भिन्न है । ज्ञानी सत्य को देख भर सकता है किन्तु भक्ति-भावना के अभाववश उससे तादात्म्य नहीं कर पाता, अतएव उसका सत्य अधूरा रहता है । पहाड़ तले से उसका शिखर देख भले ही लिया जाय, उस तक

'गम' नहीं हो सकती । इस 'गम' के लिये 'लौ' होनी चाहिए लगन होनी चाहिये जो भावुक को ही प्राप्त है ।

पहाड़ तले से देखने वाले को शिखर ऊँचा भर जँचता है, किन्तु जो वहां पहुँच जाता है उसके लिये उस ऊँचाई का अभाव हो जाता है और उसके स्थान पर रमणीयता की उपलब्धि होती है । अर्थात्, दर्शन में उस शिखर का जो स्वरूप था, उपलब्धि में उससे बिलकुल भिन्न हो गया । इसी से तत्त्वदर्शी के भगवान् निर्गुण निराकार हैं, किन्तु भक्त के, कोटि-कन्दर्प-विमोहक असीम सुन्दर । यही है सत्य की पूर्णता जिसमें सत्यं और सुन्दरम् का अभेद है । इसका भागी कोरा दार्शनिक नहीं हो सकता; इसका भागी तो कलाकार है, जो अपना व्यक्तित्व अपनी भावना में विलीन कर देता है । ....

एक बार "गाल्सवर्दी ने, आक्सफर्ड में अपना वक्तव्य देते हुए बताया था कि किस प्रकार उनकी कथा आगे बढ़ती है । वे एक आरामकुर्सी पर कागज लेकर बैठते हैं । मुंह में 'पाइप' होता है । बस, उनकी कल्पना जाग्रत हो उठती है । उनका व्यक्तित्व पात्र में खो जाता है । वह सोचते हैं, अब साँस उठता होगा.....।"

यही, सुन्दरं की अभिव्यक्ति कला है । सत्य से अभिन्न होने के कारण यह सुन्दरं विश्वतोमुख है । वह सुरूप और शोभन तो है ही, विरूप और अशोभन भी है । फलतः कला में जिस प्रकार शृंगार, वीर, करुणा और शान्त रस हैं उसी प्रकार, हास्य, अद्भुत रौद्र, भयानक और वीभत्स भी ।

कहानियों के विषय

कहानियां सभी रसों की होती हैं । उनके विषय मुख्यतः धार्मिक, सामाजिक, प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, यौन

और प्राकृतिक (पशु-पक्षी, वृक्ष, पर्वत इत्यादि का स्वभाव-अंकन एवं जीवन-चर्या आदि) होते हैं। कुछ कहानियां केवल रस विशेष की अभिव्यक्ति के लिये अर्थात् रमणीय कल्पना की अभिव्यक्ति के लिये लिखी जाती हैं। ऐसी कहानियां गद्यकाव्य के निकट की चीज होती हैं।

प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक कहानियाँ

प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक कहानियों के सम्बन्ध में कुछ अधिक कहना अनुचित न होगा क्योंकि उनका एक अपना क्षेत्र है।

प्रागैतिहासिक कहानी में मनुष्यता और उसकी संस्थाओं के विकास का चित्रण रहता है। ये तथा ऐतिहासिक कहानियां हमें वर्तमान देश काल के वातावरण से उठाकर एकदम उस समय के देश काल में रख देती हैं। बालकों के लिये जैसे परी-देश की कहानियां हैं, वैसे ही हमारे लिये ऐसी कहानियां। उनमें चरित्र-चित्रण और भावों का उत्थान पतन आदि तो रहता ही है, ऊपर से यह देश काल वाला अन्तर एक और ही स्वाद उत्पन्न कर देता है।

किन्तु ऐतिहासिक कहानी में यदि उपयुक्त वातावरण उपस्थित करने में कलाकार कोई कचाई कर जाता है तो वह कांटे सी कसकने लगती है एवं, कहानी का वह पक्ष सर्वथा फीका, फलतः निष्फल हो जाता है। ऐसी अवस्था में यदि वह अज्ञात देश-काल की कहानी होती तो हमें कहीं अधिक रस-प्रदान कर सकती। उदाहरण में प्रसाद जी की प्रसिद्ध कहानी 'नूरी' उपस्थित की जा सकती है, जिसमें अकबर जैसे आदर्श सम्राट को एक विलासी का रूप मिल जाने के कारण कहानी की पचास प्रतिशत उत्कृष्टता नष्ट हो गई है। यदि यह कहानी पूरब के 'किसी' वैभवशाली और विलासी बादशाह के दरबार की होती तो इसका रचना-कौशल कितना निखर उठा होता।

यों तो ऐतिहासिक कहानियां सभी रसों की हो सकती हैं, किन्तु वीर रस के लिये वे एक बहुत अच्छी वाहक हैं। खेद है कि हमारे साहित्य में ऐसी वीर रस की कहानियों का अभाव है। सम्भवतः अपनी वर्त्तमान जटिल समस्याओं के कारण हममें विगत की वीरता की ओर देखने का अवकाश ही नहीं रह गया है।

हास्य रस की कहानी

इस ठिकाने हास्यरस की कहानियों के विषय में भी कुछ कहना आवश्यक है क्योंकि उनकी एक अलग दुनिया है। ये कहानियां मुख्यतः दो भागों में बांटी जा सकती हैं। एक तो वे जिनका काम खिल्ली उड़ाना मात्र है। ऐसी कहानियां दूसरों को विद्रूप करके, चाहे वे इसके पात्र हों वा न हों पाठकों को हँसाती हैं। हम अपने नित्य के जीवन में कितने ही बाज़ारू लोगों को देखते हैं जिन्हें किसी को बेवकूफ बनाकर हँसने में ही तुष्टि मिलती है और इसी में वे अपनी वाहवाही समझते हैं। उक्त कहानियां भी इसी मनोवृत्ति की प्रतीक हैं। फूहड़ बातें तक कह जाने में ऐसे कहानीकार नहीं हिचकिचाते।

किन्तु एक दूसरा हास्य भी है, जो वस्तुतः हास्य के नाम पर रुदन है। हृदय की जो पीड़ा कलाकार आंसुओं से भी नहीं निकाल पाता उससे वह हास्य-कथायें प्रस्तुत करता है। देखने में तो वह बे सिर पैर की बातें करता है किन्तु उनके अन्तस्तल में उस कृती की, मानवता की कोरकसर वा अधःपतन के प्रति करुणा ओतप्रोत रहती है। वह अनाप शनाप बातों द्वारा समाज की किसी अवांछनीय स्थिति पर कटाक्ष करता है अथवा अतिरंजित चित्र द्वारा समाज के सड़े-गले वा खोखले अंग का दोष दिखाता है, साथ ही हमें उसके दूरीकरण के लिये प्रेरणा देता है।

जासूसी कहानियाँ

जासूसी कहानियों का भी एक अलग वर्ग है। उसमें सनसनी एवं चक्करदार घटनायें, जासूस का बुद्धिबल और साहस एवं अपराधी की प्रतिद्वन्द्विता दूसरी घटनाओं एवं भावों को आरोपित कर लेती हैं। उसके मुख्य रस वीर और अद्भुत कहे जा सकते हैं किन्तु जासूसीपृष्ठिका के कारण उनके स्वाद बिलकुल बदल जाते हैं।

कहानियों का विन्यास-प्रकार

कहानियों के विन्यास के कुछ मुख्य प्रकारों का इंगित ऊपर स्थान स्थान पर हो चुका है। उनके सिवा कुछ अन्य मुख्य प्रकार ये हो सकते हैं--(१) किसी पात्र के मुंह से, (२) पत्रों द्वारा, (३) इजहारों द्वारा, (४) अखबारी समाचारों द्वारा, (५) स्वप्न द्वारा, (६) संस्मरण वा डायरी द्वारा तथा (७) अन्योक्ति द्वारा अर्थात्, लाक्षणिक (उदाहरणार्थ, किसी कहानी का नायक सड़क का रोड़ा है किन्तु वस्तुतः वह रोड़ा दलित मानवता का प्रतीक है)।

हिन्दी कहानियों का यदि विषयवार विभाजन किया जाय तो प्रेम-कहानियों के बाद दुख-दर्द की कहानियों की संख्या आवेगी। दलित भारत के कलाकारों की ऐसी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। इनके बाद ऐतिहासिक और तब सेक्स समस्या वाली कहानियों का स्थान है, उपरान्त हास्य रस की कहानियों का। जासूसी कहानियों की ओर गहमरी जी के बाद प्रायः किसी का झुकाव न हुआ। जीवट और वीरता की कहानियों का अपने यहां भारी अभाव है।

हिन्दी का कहानी-साहित्य

नींव

कथा-साहित्य में अधिकांश पाठकों को आश्चर्य और कौतूहल ही सब से अधिक आकृष्ट करता है। यही कारण है कि हमारे कथा-साहित्य के आरम्भ काल में देवकीनन्दन खत्री की चन्द्रकान्ता और सन्तति ने इतनी लोकप्रियता प्राप्त की कि आज तक इनकी मांग चली जाती है। यद्यपि उसी समय के आसपास स्वर्गीय किशोरीलाल जी गोस्वामी ने वासना-मूलक अनेक-अनेक उपन्यास लिखे, किन्तु लोक-रुचि ने उनका बहुत ही शीघ्र परित्याग कर दिया। श्री गोपालराम गहमरी ने उन्हीं दिनों 'जासूस' का प्रकाशन प्रारम्भ किया था। इस मासिक पत्र में बंगला से अनूदित छोटी छोटी जासूसी कहानियां रहती थीं। यद्यपि गहमरी जी का जासूसी कहानियों की ओर झुकाव उनके जीवन की एक घटना के कारण हुआ था फिर भी बँगला में उस प्रकार का पर्याप्त साहित्य विद्यमान होने के कारण उन्होंने अपने उस झुकाव को मूर्त्त रूप मुख्यतः उक्त अनुवादों द्वारा ही दिया। आगे चल कर उन्होंने कुछ मौलिक जासूसी गल्प भी लिखे।

इस प्रकार छोटी कहानियां, गल्प वा आख्यायिकायें, पहले पहल मुख्यतः जासूस के द्वारा ही बँगला से हिन्दी में आईं। सौदामिनी नाम की एक छोटी सामाजिक कहानी इसके कुछ पूर्व श्री राधाचरण गोस्वामी बँगला से अनूदित कर के प्रकाशित करा चुके थे। छोटी कहानी के लिये उन्होंने नवन्यास शब्द प्रयोग किया था किन्तु वह चला नहीं। 'हीरे का मोल' नाम की एक आख्यायिका भी उन्हीं दिनों, १६०० ई० के लगभग निकली थी। यह भी बँगला के नगेन्द्रनाथ गुप्त लिखित एक गल्प का अनुवाद था।

किन्तु इन प्रयासों से हमारे साहित्य में कहानी की कोई धारा न चल पाई। यद्यपि गहमरी जी निरन्तर जासूसी कहानियां निकालते रहे, जिनमें अनुवाद ही नहीं कभी-कभी मौलिक आख्यायिकायें भी होतीं, तो भी उन कहानियों की कोई पद्धति न चली। लोक ने उनके पढ़ने में रुचि तो दिखलाई किन्तु उनके अनुकरण पर कोई साहित्य न तैयार किया।

ऊपर के विश्लेषण से हम पायेंगे कि हमारे कथा-साहित्य की आरम्भिक अवस्था के मुख्य तीन अग्रणी, देवकीनन्दन, किशोरीलाल और गोपालराम ने जो कुछ लिखा, यद्यपि वह थोड़े वा बहुत दिनों के लिये लोकप्रिय हुआ किन्तु उससे साहित्य का कोई मार्ग न बन पाया। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह वस्तुतः वह खाद्य न था जिसकी लोक-रुचि को सच्ची भूख थी, भले ही स्वयं उसे वैसी भूख का ज्ञान न रहा हो।

प्रथम उत्थान

१६०० ई० में नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से इण्डियन प्रेस के उत्साही संस्थापक स्वर्गीय चिन्तामणि घोष ने सरस्वती का प्रकाशन आरम्भ किया। हम कुछ दावे के साथ कह सकते हैं कि जनता जिस प्रकार के मानसिक भोजन की भूखी हो रही थी उसकी सामग्री सरस्वती ने अपने जन्म से ही प्रस्तुत करनी आरम्भ कर दी। अपनी आरम्भिक अवस्था में जिस प्रकार हमारे साहित्य ने बँगला से बहुत कुछ लिया उसी प्रकार सरस्वती का आदर्श भी उसने बँगला से लिया। उन दिनों संपादकाचार्य रामानन्द बाबू प्रयाग में ही रहते थे और उनका 'प्रवासी' इण्डियन प्रेस से ही निकलता था। यही मुख्यतः सरस्वती के प्रकाशन में प्रेरक हुआ ! इस मासिक पत्रिका ने हिन्दी के एक नये युग

का श्रीगणेश किया। अस्तु, लोकरुचि जहां सभी प्रकार का नया साहित्य चाहती थी वहां नये ढंग की कहानियां भी चाहती थी।

सरस्वती द्वारा इसका भी आयोजन हुआ। पहले ही वर्ष से उसमें छोटी कहानियां निकलने लगीं। इनमें अधिकांश बंग भाषा का अनुवाद वा उन पर अवलम्बित होतीं। इस प्रकार बँगला से लेने वाले लेखकों में प्रमुख स्थान इन्डियन प्रेस के मैनेजर श्री गिरिजाकुमार घोष का, जो कहानियों में अपना नाम लाला पार्वती नन्दन रखते, मिरजापुर के श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य का, जो भट्टाचार्य के नाम से लिखते और सर्वोपरि बंगमहिला का है। श्रीमती बंगमहिला भी मिरजापुर निवासी एक सम्भ्रान्त बंग कुल की थीं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'दृष्टिदान' जैसी उच्च कोटि की कहानी १९०३ ई० में सरस्वती द्वारा हिन्दी पाठकों को मिल चुकी थी। कुछ अंगरेजी कहानियों के अनुवाद वा सारांश भी निकलते रहे।

इन अनुवादों के साथ सरस्वती के द्वारा मौलिक कहानियों की जमीन तैयार होने लगी। उसके प्रथम वर्ष (१९०० ई०) में ही किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' नामक कहानी निकली। आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में "यदि 'इन्दुमती' किसी बंगला कहानी की छाया नहीं है तो" वह अवश्य एक नई दिशा में प्रयत्न है। इसके बाद कई और मौलिक कहानियां सरस्वती में निकलीं किन्तु उनमें नवीनता न थी। १९०३ ई० में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक कहानी निकली। इसमें यद्यपि कथानक (प्लाट) और भाव है किन्तु अभिव्यक्ति बिलकुल पुरानी कहानियों के ढंग की और भाषा भारी भरकम, उपाध्याय बदरीनारायण की शैली की है। इसी सन् की एक दूसरी कहानी 'पंडित और पंडितानी' (ले० श्री

गिरजादत्त वाजपेयी) आधुनिकता की दृष्टि से अधिक सफल हुई। इसमें यथा-तथ शैली के कण पर्याप्त मात्रा में चमक रहे हैं। किन्तु इस कहानी पर अंगरेजी की छाया का सन्देह होता है।

हिन्दी की वास्तविक पहली कहानी बंगमहिला की 'दुलाई वाली' है जो १९०७ ई० में प्रकाशित हुई। यह यथातथ शैली का एक छोटा-सा सुन्दर चित्र है, जिसके कथोपकथन प्रसंगानुकूल, स्वाभाविक और मार्मिक हैं। कहानी का उत्थान गति के साथ हुआ है और अन्त एक सुखद अतर्कित परिस्थिति के संग। इन विशेषताओं के कारण यह आधुनिक लेखन कौशल का एक सफल नमूना है। आज भी दो चार वाक्यों को छोड़ कर इस कहानी का कलेवर बिलकुल अद्यतन बना हुआ है। फिर भी इस कहानी के बाद मौलिक कहानी की प्रगति, बहुत ही मन्थर, नाम मात्र की रही, यहां तक कि 'दुलाई वाली' का लिखा जाना हम एक आकस्मिक घटना कह सकते हैं। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के अनुसार ('विशाल भारत' फरवरी १९३९ ई०) माधव प्रसाद मिश्र ने १९०३ ई० से "बंगाली कहानी लेखकों की देखा-देखी हिन्दी में कहानियां लिखनी शुरू की।" ये कहानियां न तो मुझे कहीं देखने को मिलीं, न उक्त उल्लेख के सिवा इनकी कहीं चर्चा हुई है। अतएव उनके सम्बन्ध में कुछ और नहीं कहा जा सकता।

दूसरा उत्थान

१९०९ में काशी से 'इन्दु' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ। वस्तुतः यहीं से हिन्दी कहानियों का दूसरा उत्थान समझना चाहिये। प्रसाद जी की निर्मायिका प्रतिभा उनके भीतर ओज मार रही थी; उसी को मूर्त्त रूप देने के लिये उन्होंने अपने भांजे स्व० अम्बिकाप्रसाद गुप्त द्वारा 'इन्दु' निकलवाया। हिन्दी को नये ढंग की

कृतियां देने के लिये प्रसाद जी मार्ग खोज रहे थे। इस उद्देश्य से उन्होंने पहले पहल उर्वशी नामक चम्पू लिखा, क्योंकि उस समय तक हिन्दी में चम्पू का क्षेत्र प्रायः रिक्त था (अब तक भी उसकी वही दशा है)। किन्तु इससे उनका जी न भरा। शायद एक और चम्पू लिख कर उन्होंने उस लाइन में कलम न उठाई। इन्दु में वे और और प्रयोग (एक्सपेरिमेन्ट) करने लगे। प्रसाद जी के निर्माण का विकास-क्रम जानने के लिये मुख्य साधन इन्दु की फाइलें ही हैं।

उन दिनों स्व० केदारनाथ पाठक, जो अपने युग के हिन्दी साहित्य के जोवित विश्वकोष थे, उदीयमान हिन्दी लेखकों को प्रोत्साहन देने में एक ही थे। श्री बंगमहिला, प्रसाद जी, जायसवाल जी एवं आचार्य शुक्ल जी तथा और भी कितने ही साहित्यकारों के निर्माण में उनका बहुत कुछ हाथ था। पाठक जी का बँगला साहित्य में अच्छा प्रवेश था और वे अपने प्रोत्साहितों को बँगला की ओर प्रवृत्त किया करते थे। उन्होंने प्रसाद जी को भी बँगला साहित्य के प्रति आकृष्ट किया और उसकी अच्छी अच्छी रचनाओं की सैर कराई। फलतः यद्यपि प्रसाद जी ने जो कुछ लिखा मौलिक ही लिखा, उनकी आरम्भिक रचनाओं के बहिरंग पर बँगला का बहुत कुछ प्रभाव पाया जाता है।

अस्तु, हम यह कहने जा रहे थे कि हिन्दी कहानियों की वास्तविक धारा प्रसाद जी द्वारा, इन्दु से, प्रवाहित हुई। उसमें उनकी पहली कहानी 'ग्राम' १९११ में प्रकाशित हुई। फिर चार कहानियां और निकलीं। इन पांचों का संग्रह छाया नाम से १९१२ में प्रकाशित हुआ। छाया की कहानियां यद्यपि भाव और कथानक में सर्वथा मौलिक हैं, किन्तु उनकी बोझिल भाषा और वस्तुविन्यास बंगला-

प्रभाव से लंतपत है, तो भी उनमें बीच बीच में 'प्रसाद' के निजस्व का अरुणोदय दीख पड़ रहा है।

'इन्दु' के द्वारा कई अन्य कहानी-लेखक भी उत्पन्न हुये--श्री जे० पी० श्रीवास्तव १९११ से ही हास्यरस की कहानी लिखने लगे। उस समय इन कहानियों का अच्छा स्वागत हुआ। इनमें शिष्ट हास्य का प्रायः अभाव है। १९१२ में श्री विश्वम्भर नाथ जिज्जा ने 'परदेसी' नाम की सुन्दर कहानी लिखी जो आज भी ताजी बनी है। राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की 'कानों में कँगना' नामक उत्कृष्ट कहानी १९१३ में प्रकाशित हुई। राजा साहब ने सुन्दर कथानक के साथ साथ बड़ी ही सुन्दर भाषा का भी प्रयोग किया। खेद है कि इधर उन्होंने अपना भाषा सम्बन्धी वह मार्ग छोड़ कर एक दूसरा मार्ग ग्रहण कर लिया है जिसमें उनकी वह विशेषता बिलकुल जाती रही है।

उन दिनों प्रयाग से 'गृहलक्ष' नामक स्त्रियों की एक अच्छी मासिक पत्रिका निकलती थी, जिसमें १९१०-१२ में श्री किशोरीलाल जी के सुपुत्र श्री छबीलेलाल गोस्वामी ने कुछ अच्छे सामाजिक चित्र खींचे। लाला पार्वतीनन्दन के कल्पित नाम से श्री गिरिजाकुमार घोष ने भी, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है, उसमें कुछ अच्छी कहानियां लिखीं, किन्तु ये कहानियां न तो स्थायी साहित्य की चीज हुईं न इन्होंने कोई नई पद्धति चलाई।

सरस्वती में १९१३ में श्री विश्वम्भरनाथ 'कौशिक' की पहली कहानी रक्षा-बन्धन निकली, जो इस संग्रह में दी गई है। शर्मा जी अब तक तीन सौ से ऊपर कहानियां लिख चुके हैं और उस समय की शैली के एक प्रमुख प्रतिनिधि हैं। १९१४ से श्री ज्वालादत्त शर्मा सरस्वती में कहानियां लिखने लगे। वस्तुतः ये कहानी के रूप में सदुपदेश मात्र

हैं। १९१५ में गुलेरी जी की अमर कहानी 'उसने कहा था' सरस्वती में ही छपी और १९१६ में प्रेमचन्द जी की पहली हिन्दी कहानी पंच परमेश्वर; यद्यपि वे उर्दू में बहुत पहले से लिख रहे थे और अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुके थे। प्रेमचन्द की सब कहानियां तीन सौ से ऊपर हैं।

गुलेरी जी ने उक्त कहानी के पहले दो कहानियां और लिखी थीं, यह उनकी तीसरी ही कहानी है; किन्तु है यह कहानी-नभो-मण्डल का एक दिव्य नक्षत्र। अपने प्रकाशन के समय यह समय से आगे की चीज थी। गुलेरी जी कहानियां भी लिखना चाहते थे पर अधिक गम्भीर कामों में लगे रहने और असामयिक देहान्त के कारण उनकी इच्छा मन में ही रह गई।

श्री चतुरसेन शास्त्री की पहली कहानी १९१४ में गृहलक्ष्मी में प्रकाशित हुई। शास्त्री जी की कहानियों ने मुख्यतः उनकी भाषा की गढ़न और तड़क-भड़क के कारण सफलता पाई है, अन्यथा उनमें काल और क्रिया के ऐक्य का अभाव अथवा प्राक्रमभंग दोष विद्यमान है। इन पंक्तियों के लेखक ने १९१७ से, श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने १९१८ से और स्व० चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' तथा श्री गोविन्दबल्लभ पन्त ने १९१९ से आख्यायिका क्षेत्र में प्रवेश किया। १९२० में सुदर्शन जी की पहली कहानी छपी है। आप भी उसके पहले से उर्दू कहानी-लेखकों में ख्याति पा चुके थे। 'उग्र' जी का रचना काल १९२२ से आरम्भ हुआ। श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी १९२४ से लिखने लगे। आप भी अब तक तीन सौ से अधिक कहानियां लिख चुके हैं। १९२५ से श्री विनोदशंकर व्यास ने और १९२७ से श्री वाचस्पति पाठक ने कहानी लिखना आरम्भ किया। यही १९२७ इस काल की अपर

सीमा है। इसी समय से नये नये कहानी लेखक नई और अद्यतन भावनायें लेकर साहित्य-क्षेत्र में आये, अतः यहां से हमारी कहानियों के इतिहास का एक तीसरा उत्थान शुरू होता है जिसकी चर्चा आगे की जायेगी।

उक्त काल का सिंहावलोकन

इस काल में मौलिक कहानी-साहित्य का आरम्भ ही नहीं, यथेष्ट पल्लवन भी हुआ। अनेक ऐसी कहानियां लिखी गईं जो हमारे स्थायी साहित्य की निधि हैं। कितने ही कहानीकार लिखने लगे जिनमें से कुछ के नाम ऊपर दिये गये हैं। इन नामों को प्रतीक मात्र समझना चाहिये।

प्रसाद जी की कला

इस उत्थान में मुख्यतः दो शैलियों का प्रवर्तन हुआ--(क) भावमूलक तथा (ख) यथार्थ। भावमूलक शैली के स्रष्टा प्रसाद जी थे और यथार्थ के प्रधान-पुरुष प्रेमचन्द जी।

१६१५ से २० तक प्रसाद जी का गंभीर मनन वा तैयारी का काल कहना चाहिये, जिसके फलस्वरूप उनको अद्वितीय साहित्यि कशक्ति उद्बुद्ध हुई और आरम्भ से ही वे जिस स्वतन्त्र मार्ग की खोज में थे वह उन्हें प्राप्त हुआ, बंगला का जो बहिरंग प्रभाव उन पर था उसे इस बीच उन्होंने झटकार दिया। इसके बाद उन्होंने कहानी, कविता, नाटक, काव्य सभी में हिन्दी को एक नये पथ पर चलाया।

प्रसाद जी की आख्यायिकायें जैसा ऊपर कहा जा चुका है, भाव-प्रधान होती हैं, भले ही उनकी पृष्ठिका प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक वा राजनैतिक हो। भावों को कहानी-रूप में ढालने के लिये उनके पास विशद कल्पना थी और उस कल्पना

को साहित्यिक रूप देने के लिये प्रचुर अभि-व्यंजना एवं विन्यास-शक्ति। अपनी कहानियों में से कुछ में तो उन्होंने घटना-बाहुल्य का प्राधान्य रक्खा है, कुछ में घटना भाग बिलकुल अवान्तर कर दिया है, उनमें घटना का अभाव-सा है। किन्तु इससे उनके रस में कोई कमी वा अन्तर नहीं पड़ा है क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति बड़ी रमणीय है।

प्रसाद जी के कथोपकथन कवित्वमय और हृदय में चुभने वाले होते हैं। उनमें आवश्यकतानुसार सुकुमारता एवं प्रौढ़ता पाई जाती है। मनोवृत्तियों का सूक्ष्म निरीक्षण तथा विश्लेषण और वस्तु के दार्शनिक तथ्य का स्फुटीकरण उन्होंने बड़ी सुन्दरता से एवं उच्च कोटि का किया है, प्राचीन भारतीय संस्कृति, आदर्श और वातावरण के वे परम भक्त और अभिमानी थे। इसकी छटा उनकी रचनाओं में ओत-प्रोत रहती है। इसी भावना का प्रतीक उनकी भाषा भी है। कुछ लोग प्रसाद जी की भाषा को गरिष्ट बताते हैं। किन्तु अभिव्यक्ति के लिये समुचित वाहक भी तो चाहिये। जो कुछ उन्हें कहना है वह उससे हल्की वा अन्य शब्दों वाली भाषा में कहा ही नहीं जा सकता। इस भाषा में अमूर्त भावनाओं के आधार पर मूर्त की अभिव्यक्ति की गई है, इस कारण चाहे उसे छायावादी भाषा कह लीजिये।

प्रसाद जी कहानी का आरम्भ जैसे मार्के के स्थल से करते हैं, अन्त भी उससे बढ़ कर मार्के के ठिकाने करते हैं। प्रेमचन्द जी के शब्दों में उनकी कहानियों का अन्त—'अपने ढंग का निराला होता है—बड़ा ही भावपूर्ण, ध्वन्यात्मक और सहसा।....... पाठक का मन झकझोर उठता है, वह एक समस्या को पुनः सुलझाने लगता है.......।'

उन्होंने स्केच वा पर्सनल एसे-जैसी कुछ चीजें भी लिखीं। इनमें

उन्होंने अपनी व्यथा के साथ साथ निरीहों का दुख-दर्द भी भर दिया है। इनमें के कतिपय स्केचों में उनके जीवन के कई पृष्ठों का आख्यानिक अंकन है और उनके परिचितों तथा मित्रों का चरित्र-चित्रण। जो लोग समझते हैं कि प्रसाद जी ने स्थूल जगत से कुछ नहीं लिया उन्हें जान लेना चाहिये कि उनके नाटक, उपन्यास एवं कहानियों के कितने ही पात्र एक वा एकाधिक वास्तविक व्यक्ति के चित्रण हैं।

प्रसाद जी की प्रौढ़ कहानियां भारत के साहित्य में उच्च तथा स्थायी स्थान रखती हैं और यदि सफल अनुवादक उन्हें विदेशी भाषाओं में ढाल दें तो वे उन देशों की अच्छी-से-अच्छी कहानी से उन्नीस न बैठें।

उसने कहा था

गुलेरी जी की 'उसने कहा था' का प्रकाशन (१९१५) भी इस उत्थान की एक मुख्य घटना है। इस एक कहानी की अद्वितीयता पर आगे 'ये इक्कीस कहानियां' में विस्तृत विचार किया गया है। अतः यहां अधिक कहा नहीं जाता।

प्रेमचन्द और यथार्थ शैली

इस द्वितीय उत्थान की तीसरी मुख्य घटना १९१६ में प्रेमचन्द का हिन्दी क्षेत्र में आना है। उर्दू में वे बहुत पहले से और सफलतापूर्वक लिख रहे थे। वे अपनी उर्दू में प्रकाशित कहानियां लेकर आये। इनकी पहली कहानी, पंच-परमेश्वर ने ही अपना प्रभाव जमा लिया। इस प्रभाव में अन्य विशेषताओं के साथ साथ उनकी भाषा का भी मुख्य हाथ था।

उर्दू से हिन्दी में आने के कारण प्रेमचन्द की भाषा उर्दू का शासन मान कर चली । उसमें तराश और चुलबुलापन है । तराश-खराव से भाषा का लोच-लचाव तो जाता ही रहता है, उसकी स्वाभाविकता भी नष्ट हो जाती है । उर्दू में हमें बिगड़ी हुई मुस्लिम संस्कृति का कृत्रिम और बाह्य शिष्टाचार--तकल्लुफ और दुनियादारी--भर मिलता है, जिसके फलस्वरूप उसमें बड़ी नीरसता, खोखलापन और अहादिकता विद्यमान है, भले ही उसकी मांज-खराद और चुस्ती परले सिरे की हो । उर्दू की शैली कण्ठ का स्वर हो सकती है हृदय का मर्म नहीं ।

राष्ट्रीय भावना, दलितों--ग्रामीणों--के प्रति गहरी सहानुभूति अत्याचारों के विरुद्ध ऊँची आवाज प्रेमचन्द की मुख्य विशेषतायें हैं उनकी शैली यथार्थ है और कथोपकथन नाटकीय; फलतः अनेक स्थानों पर वे कृत्रिम और अनावश्यक हो गये हैं । विधान (टेकनीक) पर उनका पूरा अधिकार है । किन्तु कथानक में वे वस्तु-स्थिति की भूलों पर ध्यान नहीं देना चाहते । घटना और व्यक्ति दोनों के सम्बन्ध में यह बात लागू होती है । अनेक बार उनके देहाती पात्र तक जिनके प्रति उनकी सब से अधिक सहानुभूति है, देहाती नहीं जान पड़ते । नारी-स्वभाव के अंकन में वे बहुधा भटक जाते हैं । साथ ही उनके पात्र प्रायः अपनी गति नहीं रखते शतरंज के मुहरों की भांति उनकी इच्छा पर चलते हैं ।

इन अभावों के होते हुए भी वे एक महान कलाकार हैं और उनकी बीसियों कहानियां भारत की ही नहीं मनुष्य जाति मात्र की मूल्यवान सम्पत्ति हैं ।

यथार्थवादी होने के साथ साथ, वे आदर्शवादी भी हैं । किन्तु य

आदर्शवादिता अनेक बार प्रचारक का रूप धारण कर लेती है। अपने सम्बन्ध में उन्होंने एक भूमिका में श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी की सम्मति उद्धृत की है, जिसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—'ये महाशय कहानी या उपन्यास जो कुछ भी लिखते हैं वह सोद्देश रूप से। उनकी हरेक कहानी में जनसमाज के लिये कोई न कोई उपदेशात्मक सन्देश रहता है। सामाजिक और राजनैतिक कुरीतियों का निवारण आप का लक्ष्य रहता है।'

सुदर्शन जी भी १९२० में हिन्दी में आये। उनकी रचनाओं में प्रायः समग्र रूप से प्रेमचन्द का अनुहार है। यथार्थ-शैली वाले कलाकारों में प्रेमचन्द के बाद सुदर्शन जी ने ही सब से अधिक लोक ख्याति और प्रियता पाई है।

उग्र

इस उत्थान के कलाकारों में उग्र की फड़कती हुई भाषा और लाक्षणिकता ने उन्हें एक बहुत ऊँचा कहानीकार होने का सुयोग प्रदान किया था। उनकी कुछ कहानियां हैं भी बहुत उत्कृष्ट, परन्तु अनेक चित्तता के कारण उनकी शक्तियां बिखरती ही रही हैं।

सेक्स कहानी

सेक्स समस्या की पहली कहानी 'रजिया की समस्या' इसी उत्थान काल में लिखी गई। इसे १९२२ के लगभग स्व० कृष्ण कान्त मालवीय ने अभ्युदय में लिखा था। इसकी भाषा उर्दू मिश्रित है, किन्तु अपने वस्तु (थीम) को उन्होंने अच्छा निबाहा है। उस समय इस कहानी की काफी चर्चा हुई थी और सहृदय समुदाय इसकी ओर विशेष

आकृष्ट हुआ था। यह उनके 'मनोरमा के पत्र' में उद्धृत
गई है।

तीसरा उत्थान

प्रगतिशील कहानी-साहित्य

प्रसाद जी तथा उनके परवर्ती और अनुवर्ती साहित्यकार हि
को बंगला के सहारे से छुटकारा दिला चुके थे। साहित्य के
विभाग में प्रगति हो चली थी। संसार के अन्य देशों के साहित्य
हमें यथेष्ट जानकारी हो रही थी और उनका रसास्वादन भी हम क
लगे थे। संसार बड़े बड़े राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति
के बीच से गुजर चुका और गुजर रहा था। इसका प्रभाव सा
पर न पड़ना असम्भव था। १९२७-२८ से नये कहानीकार नव
भावनाओं को लेकर हमारे बीच आये।

इस युग को हम प्रगतिशील या आधुनिक कह सकते हैं। अथ
उत्थान सम्भवतः सबसे उपयुक्त शब्द होगा। इस उत्थान की कहानि
का वादीस्वर--विद्रोह की भावना है। इस विद्रोह की भावना में
हद तक उस सहानुभूति का अभाव है जिसकी चर्चा ऊपर की जा चु
है, क्योंकि विद्रोही प्रतिगामी वा गाड़ी-के-काठ के प्रति कटु है, तीव्र
प्रतिहिंसक है। किन्तु विद्रोह की एक आध्यात्मिक धारा भी है
हमें इस बात का गौरव प्राप्त है कि उसे प्रवाहित करने के लिये ह
बीच बापू अवतरित हुए हैं। फलतः प्रगतिशील कहानियों में दोनों
प्रकार की भावनाओं का अंकन हुआ है। किन्हीं में कटु विरोध है, कि
में व्यापक सहानुभूति। इन कहानियों की एक विशेषता मनोवैज्ञानि
है। कथोपकथन तथा चरित्र-चित्रण में लेखकों ने मानववृत्ति

वृत्तियों एवं उनकी उलझनों को सफलता और मार्मिकता पूर्वक दर-
शाया है तथा उनका समुचित विश्लेषण भी किया है । रूसी साहित्य
का इस उत्थान पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा, क्योंकि वहां के देश काल और
दृष्टि-कोण से भारत से साम्य था ।

अधिकांश अद्यतन कहानियों के विधान में कथानक और नाटकीय
संलाप की कमी एवं वर्णन-विवरण तथा विश्लेषण की अधिकता रहती
है जो घरेलू और अकृत्रिम शब्दों में लिखे जाते हैं । ऐसी अभिव्यक्ति
में कला तो रहती ही है विजातीय द्रव्य के अभाव के कारण हमारे
मनोजगत से उसका पूरा सामंजस्य हो जाता है । इनकी भाषा में
उनके विधाताओं के हृदय का स्पन्दन है; इसमें उन्होंने 'एक जान'
ही नहीं अपनी जान डाल दी है । सर्वश्री जैनेन्द्र, अज्ञेय और भग-
वतीचरण वर्मा इस उत्थान के आदि पुरुष हैं ।

"फांसी" और "खेल" जैनेन्द्र जी की बहुत पहले की कहानियां
हैं । १९२८ के लगभग लिखी गई थीं । इन कहानियों ने अपने
समय भी पाठकों को बहुत प्रभावित किया था । उसी समय स्पष्ट हो गया
था कि यह कलाकार हमें नये भाव और उसके साथ साथ नई भाषा
देने जा रहा है । इस भाषा में केवल कंठ का स्वर नहीं हृदय का मर्म
है । उर्दू का शासन उनकी भाषा ने नहीं माना । गुजराती के कुछ
प्रयोग उन्होंने अपनाये जो बुरे नहीं लगते । दिल्ली की बोलचाल की
हिन्दी का, जो उर्दू नहीं, वास्तविक एवं जीती जागती हिन्दी है, उन्होंने
बड़ी सफलता से उपयोग किया है । हिन्दी के इस रूप के सम्बन्ध में
आचार्य शुक्ल जी का मत बहुत स्पष्ट और प्रामाणिक है—"यही खड़ी
बोली असली और स्वाभाविक भाषा थी; मुंशियों की उर्दू-एमुअल्ला
नहीं ।...यह अपने ठेठ रूप में बराबर पछांह के घरों में बोली जाती है ।"

जैनेन्द्र जी ने हमें बहुत अच्छी अच्छी कहानियां दी हैं । यदि दर्शन की ओर न झुक गये होते तो वे इस लाइन को और अधिक प्र कर सकते ।

अज्ञेय जी की कहानियां बड़े मार्के की होती हैं । उनमें एक ऐ अन्तर्मुख वृत्ति का स्फुरण पाया जाता है, जिसकी नींव में विद्रोह है

भगवतीचरण वर्मा की कहानियों में 'एक प्रकार की उच्छृङ्खलता हो सकती है । किन्तु उन कहानियों का अन्तस्तल कुछ और ही है बहुतेरे लोग यह सुन कर अकचकायेंगे कि उनमें मानवता के प ओर उच्छृङ्खलता के लिये जो आह और उसके विरुद्ध जो विद्रो एवं आस्तिकता, नैतिकता तथा आदर्शवाद का जो संदेश है तथा इ विपरीत की जो भर्त्सना है वही उनकी विशेषता है । नये हं हुए भी वर्मा जी वस्तुतः सनातन सत्य के झंडाबरदार हैं ।

सर्वश्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, बलराज साहनी, हरदयाल 'मौ रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी, 'पहाड़ी' उपेन्द्रनाथ 'अश्क' अख्तर हु रायपुरी आदि इस उत्थान के प्रमुख कहानी लेखक हैं । किन्तु आधु शैली का जैसा परिपाक यशपाल जी की लेखनी में हुआ है वह अभूत है । उनकी कहानियां उन्नत से उन्नत भाषा के साहित्य में प्र स्थान पाने की अधिकारी हैं । उनमें आह, व्यापक सहानुभू मनोविश्लेषण, रमणीयता, प्रौढ़ता, क्या नहीं है ? यह बात ल करने की है कि इस उत्थान के अधिकांश कलाकार दिल्ली-पं के हैं ।

उक्त कलाकारों के सिवा आज कितने ही ऐसे सरस्वती-पुत्र भी जिनकी एकाध कहानी ने ही स्थायी साहित्य में उनका स्थान दिया है ।

द्वितीय उत्थान के कलाकारों ने भी इस शैली का अनुमोदन किया। उदाहरण के लिए—प्रेमचन्द का 'कफन' और प्रसाद का 'मधुआ' इस अनुमोदन के मूर्तरूप हैं।

हमारे नई धारा के कवि भी इस उत्थान के कहानीकारों में सम्मिलित हुए। पन्त, निराला और सियारामशरण की कहानियों से हिन्दी संसार खूब परिचित है। सियाराम जी की कहानियां उनकी साहित्यिक साधना, चिन्तनशीलता एवं भावों की कोमलता से परिपूर्ण रहती हैं।

इस उत्थान ने हमें उत्कृष्ट कहानी-लेखिकायें भी दीं—सर्वश्री सत्यवती मलिक, कमला देवी चौधरी, उषा मित्रा तथा होमवती देवी की कहानियां बड़ी ही स्वादु तथा सुकुमार हैं।

इसी भांति हास्यरस के कई कहानी लेखक भी इस काल में आगे आये। इनमें सर्वश्री अन्नपूर्णानन्द, कृष्णदेवप्रसाद गौड़, राधाकृष्ण, अमृतलाल नागर तथा रघुकुलतिलक उल्लेखनीय हैं। इनके हास्य में प्रायः शिष्टता का अभाव नहीं रहता और समाज के किसी दूषण पर आक्रमण करना ये खूब जानते हैं।

श्री श्रीराम शर्मा की शिकारी कहानियां और संस्मरणों का काल भी इसी उत्थान के भीतर आता है, यद्यपि उनकी भाषा उर्दू शासित, दूसरे उत्थान काल की है जिसमें तली भाजी की तरह सोंधापन भर रह जाता है, निजी स्वाद, रस और जीवन-तत्व जल जाता है। चित्रण की दृष्टि से शर्मा जी की कृतियां काफी सजीव हैं।

उपसंहार

अपने कहानी-साहित्य के इस घसीट रेखा-चित्र से हम पावेंगे कि उसकी चतुर्दिक प्रगति हो रही है। इस रेखांकन में यदि किसी

कलाकार का नाम छूट गया हो तो वह सर्वथा अनिच्छित, अतः क्षम्य है। द्वितीय उत्थान से आज तक के कहानीकारों की संख्या पांच सौ तक पहुँच जाय तो आश्चर्य नहीं। इसी प्रकार कहानियों की गिनती भी पांच-सात हजार तक हो सकती है।

अपने साहित्य के इस अंग की प्रगति बतलाने के लिये ये आंकड़े अलं हैं। इनके उपरान्त किसी टीका टिप्पणी की आवश्यकता नहीं रह जाती। यदि इनमें से उत्कृष्टतम कलाकारों की संख्या पांच प्रतिशत भी रक्खी जाय (जो हर तरह संकीर्ण संख्या है) तो हमारे कहानी लेखकों में कम से कम दो दर्जन ऐसे कृती अवश्य हैं जिनकी आख्यायिकाएं साहित्य की स्थायी निधि होंगी।

यह प्रगति सर्वथा श्लाघनीय और भारत के किसी भी साहित्य से कम नहीं है। इतना ही नहीं, विश्व के कहानी साहित्य में हिन्दी कहानियों ने अपना निश्चित स्थान बना लिया है। फिर भी, हमारे कहानी साहित्य की अभी आरम्भावस्था ही है। इस आरम्भिक अवस्था में हम जैसे जैसे कलाकारों को पा चुके हैं उनसे कहीं ऊंचे कलाकार अभी आने वाले हैं। हमारा भविष्य हमारे अतीत और वर्तमान से कहीं समुज्ज्वल होगा। अपनी प्रगति को क्षिप्रगति में हम उस भविष्य उत्कर्ष को भली भांति देख सकते हैं।

ये इक्कीस कहानियाँ

१. देवरथ--ऐसी कहानी प्रसाद जी ही लिख सकते थे जिसके लिये विगत तो वर्तमान था ही; मनोवृत्तियों की गतिविधि भी हस्तामलक थी। इस चित्रण के लिये उन्होंने जो पट चुना है उसमें अतीत की पृष्ठिका के साथ साथ वह वातावरण भी है जिसमें पड़कर हमारा इतना पतन हुआ है। इसे हम नैतिक दुर्बलता, धार्मिक स्वेच्छाचार और आडम्बर कह सकते हैं। सनातन मानव प्रवृत्तियों पर ऐसे वातावरण की क्या प्रतिक्रिया हो सकती है, इसका उन्होंने कमाल का अंकन किया है--

बौद्ध धर्म के इजारेदार नितान्त जघन्य और नर-राक्षस हो चुके थे, धर्म की ओट में अधर्म का नग्ननृत्य हो रहा था। तथाकथित धर्म शासन 'घरों को चूर-चूर करके बिहारों की सृष्टि' कर रहा था (यहां प्रसाद जी ने बिहार शब्द का कैसा ध्वनिपूर्ण प्रयोग किया है, इसे लक्ष्य कीजिये)। नारी के शील का कोई मूल्य न रह गया था। संघ वस्तुतः भैरवीचक्र हो उठे थे जिनमें नारी का घिनौना से घिनौना उपयोग होता था।

यदि संयोगवश पुरुष का औदार्य नारी को उस पंक से उबारना चाहता है, तो एक ओर उस (नारी) की शील-भावना अपने को ही अयोग्य पाती है--'मैं वह अमूल्य उपहार--जो स्त्रियां, कुलवधुयें अपने पति के चरणों में समर्पण करती हैं--कहां से लाऊँगी? वह वरमाला जिसमें दूर्वा-सदृश कौमार्य हरा-भरा रहता हो, जिसमें मधक-कुसुम-सा

रस भरा हो,* कैसे कहां से तुम्हें पहना सकूंगी ?' दूसरी ओर व इस कारण भी अप्रस्तुत है कि उसकी कदर्थना स्वयं उसके लिये घिनौन है । उसमें इतनी नैतिक निर्बलता आ गई है कि 'अपनी सारी लांछना पुरुष के 'साथ बांट कर उसकी जीवन-संगिनी बनने का दुस्साहस वह नहीं कर सकती ।

इस समस्या का एक स्वस्थ पहलू भी है--पुरुष नारी की लांछना को बांट कर भी 'पारिवारिक पवित्र बन्धन को' टूटने न दे तो ए लांछित दल का सदस्य बना रहने से कहीं अच्छा । किन्तु नारी यह पुकार ऐसे समय उठाती है जब सुनने वाला उसे सुन नहीं पाता अब उसका प्रायश्चित्त वैसा अस्तित्व मिटा देने में ही है ।..........

कहानी की नायिका सुजाता अपने को देवता के रथ के नीचे जो गृहरी लोक भर बना सकता है, डाल देती है किन्तु प्रायश्चित्त केवल उसका ही नहीं उस सड़े गले संघ का भी हो जाता है, क्योंकि 'मनुष्यता का नाश करके कोई धर्म खड़ा नहीं रह सकता' । इध सुजाता का शरीर देवरथ के भीषण चक्र से पिस उठता है उध हिन्दू से मुसलमान बना 'काला पहाड़' इस सड़ाव की सफाई करने के लिये आ टूटता है ।

२. उसने कहा था--गुलेरी जी की यह अमर कहानी हमारी यथार्थवादी कहानियों में आज भी उसी प्रकार अद्वितीय है जैसे १९१५ ई० में अपने प्रकाशन के समय थी, यद्यपि इस बीच हमारे

---

* ऐसी अनूठी उपमा प्रसाद जी ही दे सकते थे जिन्हें ज्ञात था, कि वरमाला दूब और महुवे के फूल से गूंथी जाती थी और जो इस गुम्फन के तत्त्व तक पहुंच सकते थे ।

कहानी वाङ्मय यथेष्ट समृद्ध हो चुका है। इसका स्थान संसार की श्रेष्ठ कहानियों में है। भाषा, विधान, कथानक और अभिव्यक्ति कहानी के इन चारों ही मुख्य अंगों में यह कहानी पूर्णतः सम्पन्न है।

गुलेरी जी ने भाषा को एक ऐसे अनूठे सांचे में ढाला था, जिसका जोड़ आज तक तैयार न हो सका। कहानी का पहला लम्बा पैरा तो इसका अच्छा नमूना है ही, सारी कहानी की भाषा में यह उत्कृष्टता एकरस व्याप्त है।

इसके बाद विधान का नम्बर है--कहानी का पहला लम्बा पैरा अमृतसर का बाजार हमारे सामने खड़ा कर देता है जिसमें एक बालक बालिका महीने भर तक निरंतर मिला करते हैं। इनके बाल-सुलभ आलाप और चेष्टित का कुछ इंगित करके कलाकार हमें एकदम से (दूसरे परिच्छेद से) विगत महायुद्ध के रणक्षेत्र में पहुँचा देता है, जिसका सम्बन्ध हम कहानी के आरम्भकि अंश से नहीं जोड़ पाते, फलतः एक अधर में पड़ जाते हैं; फिर भी चित्रण इतना सजीव है कि पढ़ने में नहीं रुकते। अन्त में मरते हुए जमादार लहना सिंह की पूर्व स्मृति के रूप में पुनः कहानी अपने आरम्भिक अंश से जा मिलती है और वहीं उसकी वे कड़ियां भी प्रकट होती हैं जिसमें रस का सारा परिपाक है। विधान की ऐसी उमेठदार बन्दिश से कहानी का सौन्दर्य दूना हो उठा है।

अब कथानक को लीजिये--यद्यपि गुलेरी जी ने मनोवृत्ति और उसकी प्रेरक शक्ति का ही अंकन किया है, किन्तु उस अंकन का वातावरण बिलकुल यथार्थ है अर्थात् उनका कथानक, दूसरे शब्दों में वाह्य जगत की कल्पना भावमूलक न होकर घटना मूलक है और यदि हम केवल इस दृष्टि से कहानी को देखें अर्थात्, इस

आख्यायिका से यदि केवल कथा भाग अलग कर लें तो वह इतना मनोरञ्जक है कि उसके लिये किसी अन्य अंग की आवश्यकता नहीं रह जाती।

अभिव्यक्ति इस कहानी की सबसे बड़ी विशेषता है। कलाकार अपनीओरसे कोई बात नहीं कहता, जैसाकि अधिकांश कहानीकारों की रीति है और जिसके कारण कहानी का निन्यानवे प्रतिशत रस और ओज नष्ट हो जाता है। घटना और कथोपकथन के द्वारा ही इस कहानी की सारी भावाभिव्यक्ति हो जाती है। उक्त बालक और बालिका अमृतसर के भीड़ वाले चौक में मिला करते हैं। उनकी वह अवस्था है जिसमें सेक्स तिरोहित रहता है, फिर भी वे एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं। ऐसा बालकालीन आकर्षण बालक बालिका-स्वभाव की मौलिक विभिन्नता के कारण होता है। शारीरिक विभिन्नताओं की भांति, मानसिक विभिन्नता का सृजन भी प्रकृति हमारे सृजन के साथ साथ करती है कि उसके आकर्षण द्वारा समय आने पर यौन उद्देश्य की पूर्ति हो सके।

बालक का बालिका पर ममत्व हो जाता है; अपनी जान पर खेलकर उसकी रक्षा करता है और जिस दिन सुनता है कि उसकी मँगनी हो गई, आहत हो उठता है, अपना कुछ खो बैठता है, जिसकी कसर निकालने के लिये रास्ते भर उलझता, भिड़ता, टकराता हुआ घर लौटता है।

मध्यावस्था में इस युगल का पुनः सामना होता है। यद्यपि यह वह समय है जब दोनों की सेक्स-भावना अपना अपना निश्चित मार्ग तै कर रही हैं, किन्तु एक बार पुनः वही निर्लिप्त ममता जाग्रत होती है जिसकी परिणति, अमृतसर वाली बालिका के लिये

अपने प्राणों पर खेल जाने वाला, बालक, आज का जमादार लहना सिंह अपने वीरोचित बलिदान द्वारा करता है ।

इस प्रकार कहानी का चतुरंग सरोतर उतरा है और चारों के संयोग से यह एक अद्वितीय रचना हो उठी है ।

३. रक्षा-बन्धन--प्रसाद जी के उत्थान से पूर्व हिन्दी कहानी किस प्रकार पनप रही थी, इसका यह एक सुन्दर उदाहरण है । इसमें स्वजन-प्रेम का एक करुण चित्र उपस्थित किया गया है जो अन्त में एक अतर्कित किन्तु आह्लादक परिस्थिति में पूरा होकर हमें चमत्कृत करता है । स्थान स्थान पर भाव भी विद्यमान हैं ।

समाज के भिन्न भिन्न स्तरों की मनोवृत्ति के अनुरूप कथोपकथन प्रस्तुत करके पात्रों का रूप स्फुट करने की, कौशिक जी में स्तुत्य क्षमता है । इस सम्बन्ध में सम्भवतः वे हमारे कहानीकारों में अद्वितीय हैं । इस कहानी का परदा उठते ही हम इसका नमूना पाते हैं--मां, बेटी के संवाद में । फिर आगे भी ।

४. नशा--इसमें जमींदारी के नशे का, निकम्मेपन का चित्र तो है, पर इसके ऊपर भी एक बात है । धर्मशास्त्र में जहां पांच महापातकी गिनाये गये हैं वहां चार तो वस्तुतः पाप करने वाले हैं पांचवां उनका संसर्गी--'तत्संसर्गी च पञ्चमः ।' जमींदारों की संगति भी ऐसी ही होती है । इसी नशे का यह एक अच्छा खण्ड चित्र है ।

प्रेमचन्द जी हाथ धोकर जमींदारों के पीछे पड़े रहते थे । जमींदार हैं भी इसके पात्र, किन्तु इस एकांगिता के कारण प्रेमचन्द की कला बहुत कुछ अवरुद्ध रह गई ।

५. रमणी का रहस्य--नारी-स्वभाव का विश्लेषण और उसके जीवन का लक्ष्य इंगित करने के उद्देश्य से यह कहानी लिखी गई है ।

इसका मुख्य वाक्य सम्भवतः यह हो सकता है—'नारी का प्रकृत रूप उसके मुसकान में नहीं, आंसुओं में प्रत्यक्ष होता है ।'

इस कहानी का वातावरण प्राचीन कथाओं का रखा गया है किन्तु जो विचित्र देश रमणी की जन्मभूमि है वह काल्पनिकता की ओट में, उत्तरी ध्रुव है ।

६. हार की जीत—यह सुदर्शन जी की वहुत पहले की कहानियों में से है, किन्तु आज भी उनकी सब से वढ़िया रचनाओं में है। प्रेम मनुष्य जीवन का मुख्य संबल है । यह आवश्यक नहीं कि वह मनुष्य पर ही हो । उसकी सोमा में पशु पक्षी भी आ जाते हैं । इस कहानी में एक त्यागी विरागी की लगन एक घोड़े से लगी है, जिसके बिना वह रह नहीं सकता । किन्तु कहानी इससे भी ऊँची उठती है । जब छल से यह घोड़ा छीन लिया जाता है तो वे यही चाहते हैं कि घटना गुप्त रहे क्योंकि 'लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया तो वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे ।'

यह एक वाक्य सारी कहानी का बोझ उठाये हुए है । किन्तु उस बोझ को कलाकार ने ऐसे हिसाब से रखा है कि न तो वह बेडौल मालूम होता है, न वाक्य रूपी खम्भा उसके लिये क्षीणकाय । जिस प्रकार कृष्ण की कानी उँगली पर गोवर्द्धन का विपुल शरीर शोभा देता था, उसी प्रकार इस वाक्य पर सारी कहानी सुशोभित है ।

बाबाजी के स्नेह से यदि उनके मानव-हृदय का पता लगता है तो मानवता के तगादे पर निस्सनेह हो जाने से उसका पता और भी अधिक लगता है । उनकी महाशयता से एक दुराशय का परिवर्त्तन होना अनिवार्य था ।

इक्कीस कहानियां

७. गंगा, गंगदत्त और गांगी—पौराणिक कहानी लिखने का उद्देश्य न रखते हुए भी उग्र जी ने इस कहानी का वातावरण पौराणिक रखना ही ठीक समझा, यह उनकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। जो कुछ वे कहना चाहते हैं उसके लिये इससे उपयुक्त वातावरण हो नहीं सकता।

प्रसंगवश यह कह देना अनुचित न होगा कि उग्र जी ने इस कहानी में यथा स्थान पौराणिक संस्कृति की जो भी झलक दिखलाई है वह खटकने वाली नहीं, यद्यपि वे हस्तिनापुर को इन्द्रप्रस्थ लिख गये हैं जिसे शान्तनु के चार पीढ़ी बाद युधिष्ठिर ने बसाया था। परन्तु वे ऐसी भूलों से बिलकुल बचे हैं जैसी कि कहानीकार बनने के लोलुप एक इतिहास के पंडित-पुंगव ने हाल में की है। आपने एक पच्चीस सौ वर्ष पुराने राज-प्रासाद की दीवारों पर आइने लटकवाये हैं, जिसकी प्रथा फिरंगियों के संग भारत में आई।

इस कहानी में स्त्री और पुरुष की प्रकृतियों के विभिन्न दृष्टिकोण का, एवं आनुषंगिक रूप में विधाता के विधान-वैचित्र्य का बड़ा सुन्दर व्यंग है। उग्र जी की भाषा ने कहानी में और भी जान डाल दी है।

८. श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी—रहस्यवादमय गद्य लिखने में निराला जी सचमुच निराला हैं। इस कहानी का पहला परिच्छेद इसका नमूना है। दूसरे परिच्छेद से सुन्दर और सुतीक्ष्ण व्यंग का आरंभ होता है जो कहानी तक ही सीमित न रहकर जीवन के और पहलुओं को भी अपना लक्ष्य बनाता है। किन्तु खेद है कि कहीं-कहीं निराला जी सीमा के बाहर चले गये हैं। उदाहरणार्थ छायावादी कवियों विषयक पैरा।

इस कहानी के मुख्य दो पहलू हैं। पहला--स्त्री के मामले में पुरुष की सनातन कापुरुषता और इसके फलस्वरूप स्त्री की प्रतिहिंसा-बुद्धि। दूसरा पहलू हमारे वर्त्तमान समाज से सम्बन्ध रखता है--आज सामाजिक उथलपुथल का संक्रान्ति काल है। पुराना जा रहा है, नया आ रहा है; किन्तु दोनों ही अपदस्थ हैं। इस कारण समाज में एक विचित्र अव्यवस्था व्याप्त है। इस अव्यवस्था पर निराला जी का यह कटाक्ष अच्छा उतरा है--पिता व्याकुल है कन्या को किसी न किसी के गले मढ़ने के लिये; वर पागल है किसी की कन्या ब्याहने के लिये, भले ही वह उसकी कन्या की अवस्था वाली हो।

ये तो हुये चित्र के गम्भीर पहलू। उसका एक हलका रुख भी है--विज्ञापन की करामात से होने वाली सफलता का मखौल।

इस कहानी के संवाद सुन्दर हैं।

९. रेल की रात--जोशी जी की इस कहानी का कलेवर भरा हुआ है और इसकी गति में एक मन्थरता है जो बुरी नहीं लगती। मानव किस प्रकार अपने सुन्दर, समृद्ध वर्त्तमान को ठुकराकर खो देता है और फिर आहत होकर मृगतृष्णा के पीछे मारा मारा फिरता है, इसका यह एक अच्छा चित्रण है।

१०. निदिया लागी--वर्गों में बँटते बँटते आज हमारी सामाजिकता छिन्न भिन्न ही नहीं हो गई है, एक वर्ग में दूसरे के प्रति चुनौती का भाव भी उत्पन्न हो गया है। इस चुनौती को बलवत्तर धौंस के रूप में और निर्बल कतरब्योंत के रूप में एक दूसरे के प्रति बरत रहा है। फलतः सहानुभूति एवं दृष्टि-बिन्दु की एकता-जैसी चीज तो समाज में केवल अभाव के रूप में पाई जाती है। हां, संशय अविश्वास और हृदयहीनता अवश्य हमारे समाज का व्यापक-तन्तु हो रहा है और मानव

संसार की सारी अशान्ति एवं संघर्ष का मूल है। कठिनता तो यह है कि यह कटु सत्य हम ग्रहण करने को भी प्रस्तुत नहीं।

निदिया लागी इसी दुरवस्था का चित्रण है।... पतिया के प्रति यदि कोई आकर्षण है तो उसके रूप-यौवन के कारण। किन्तु उसके दुख-दर्द से किसी को क्या सरोकार?

इस कहानी के कथोपकथन में दार्शनिकता का पुट देकर बाजपेयी जी ने उसे बोझिल बना दिया है। कहानी का तात्त्विक अंश तो उसकी गति-विधि से आप ही आप ध्वनित हो जाता।

११. विधाता--मध्यवित्त गृहस्थ हमारे साहित्य में उपेक्षित है। किन्तु सच पूछिए तो वह भी खेतिहर वा मजदूर से कम सहानुभूति का भागी नहीं। शहरी मध्य श्रेणी में जैसा अभाव एवं अशान्ति, साथ ही लोक-लज्जा के कारण मूकता व्याप्त है उसकी ओर बहुत कम निगाहें गई हैं। विनोद जी ने एक ऐसी ही परिस्थिति लेकर उसे अच्छा निबाहा है।

घर की एक मात्र शैशवी का भोलापन खिलौने वाले से कहता है--'खिलौनेवाले आज पैसा नहीं है, कल आना।' दैनिक भोजन में तरकारी तक नहीं बन सकती, जब कि प्राकृतिक चिकित्सक--'अधिक तरकारी खाओ, अधिक तरकारी खाओ'--चिल्लाकर जमीन आसमान एक कर रहे हैं।... गृहस्वामिनी जूठे कूठे पर अपना दिन काट रही है। तिस पर घर का 'कर्त्ता' बिना वेतन पाये लौटता है, टूटा हुआ, बुझा हुआ, मरा हुआ।... मालिक, मकानवाला सभी उसके जान के गाहक हैं। परन्तु, रोटी का प्रश्न...!

१२. कागज़ की टोपी--कहानी-लेखन में प्रसाद-शैली के सबसे

सफल अनुयायी वाचस्पति पाठक हैं। भाषा, भावों की अभिव्यक्ति औ वस्तु-विन्यास तीनों ही में उनका पूरा सादृश्य पाया जाता है।

पाठक जी की कहानियां प्रायः समाज के उपेक्षितों के प्रति करुण के भार से लदी रहती हैं। इस करुणा में समाज के किसी अन्य अंग प्रति 'बनाम' की भावना नहीं रहती, केवल निरीहों के चित्रण द्वारा पाठक जी अपनी कृति को ऐसी सबल बना देते हैं कि प्रतिपक्षी के चित्र की आवश्यकता नहीं रह जाती। ...दादी पोते के करुण अस्तित्व औ उससे भी करुण अन्त (उसे मुक्ति कहें तो अधिक उपयुक्त होगा से हम स्वतः उस समाज के प्रति विद्रोही हो उठते हैं जो इसकी जड़ में है

इस कहानी का दर्द हृदय पर देर तक बना रहता है।

१३. पत्नी--कितना स्वाभाविक चित्रण है यह--नवीनतम शैल का, जिसमें घटना का अभाव, फिर भी पर्याप्त आकर्षण रहता है।

भारतीय पत्नी का यह चित्र आज २०वीं शताब्दी में भी भारती ही नहीं, संसार की अधिकांश पत्नियों की दशा का सूचक है; केव सामाजिक विभिन्नताओं के कारण उसका बाह्यरूप पृथक हो सकता है मेरे इस कथन पर चौंकिए मत। स्त्रियों की पराधीनता संसार में अ कोटियों बनी है। सम्भवतः मानव-जाति के विनाश तक बनी रहेगी क्योंकि स्त्री अपना स्वभाव नहीं बदल सकती और पुरुष उदारता के लिए प्रस्तु नहीं। जिस दिन तक स्त्री का अस्तित्व सेवाभाव, परायणता और पुरु बुद्धि पर आस्था आदि से निर्मित रहेगा उस दिन तक 'पत्नी' की घट का दैनिक प्रत्यावर्तन होता रहेगा।

१४. झूठ-सच--लेखक के मन पर किसी परिस्थिति की प्रतिक्रिया होती है, जो अनुभूति होती है वा प्रभाव पड़ता है उसी

आधार पर घटना और परिस्थिति का चित्रण अँगरेजी में, 'पर्सनल एसे' कहलाता है।

ऐसा व्यक्ति घटना वा परिस्थिति वास्तविक हो सकती है और काल्पनिक भी। इसी से कहानी और 'पर्सनल एसे' की सीमान्त रेखाओं का निर्णय करना कुछ कठिन-सा है। दोनों में बहुत कुछ अभिन्नता है।

झूठ-सच भी एक ऐसा ही निबन्ध है। सियारामशरण जी में थोड़ी सी बात को बहुत विस्तार तथापि यथेष्ट रमणीयता के साथ कहने की अद्वितीय प्रतिभा है। मानव प्रकृति का एक ऐसा पहलू इसमें उन्होंने चित्रित किया है जिसकी परिधि के बाहर इने गिने की ही गति हो सकती है। कलाकार ने परिस्थिति के अनुकूल वाक्यों में ध्वनि का प्रयोग विशेष कौशल के साथ किया है, जिसके कारण वे दोधारी तलवार का काम करते हैं। इस ध्वनि का अतर्कित परिपाक अन्त में होता है। और हमें अपने मानसिक पतन का बोध हो जाता है, जो तप्त मुद्रा की तरह हमारे हृदय को दाग उठता है।

१५. हूक—इस आख्यायिका का विधान बिलकुल नया है। नाटकीय कथनोपकथन का प्रायः अभाव, सीधा-सादा हलका-सा कथानक, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति में कला, फलतः प्रभाव।

बलराज और ऊषा दोनों ही अविवाहित हैं। यदि एक दूसरे के प्रति आकृष्ट नहीं, तो दक्षिण अवश्य हैं, तथापि वे निकट होने के बदले दूर होते गये। बलराज में उस अधिकार का अभाव था जिसे पुरुष स्त्री पर रखता है; भले ही नारी ऐसे अधिकार से पिस रही हो फिर भी, पुरुष में वह उसकी अपेक्षा करती है, उसने ऐसा स्वभाव ही पाया है। यहां तो ऊषा में ही अधिकार की एक प्रवृत्ति थी जिससे बलराज आतंकित हो गया था। इसी कारण दोनों के

बीच का आकाश क्रमशः बढ़ता गया।..परन्तु ऊषा का अ
बलराज के लिये असह्य था।

१६. पान वाला--यह भी एक 'पर्सनल एसे' के ढंग का चित्र है। इसमें पन्त जी की प्रतिक्रिया करुण है। ऐसे खंड चित्रों की सफलता की सबसे बड़ी कसौटी यह है कि यह निरन्तर रमणीय हो, कहीं से मन उबाने वाली न हो। पानवाला में यह बात पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। इसे हम एक सफल गद्यकाव्य कह सकते हैं, जिसमें कवि पन्त निरन्तर झलक रहे हैं।

इस निबन्ध और गद्यकाव्य की अनुगामिनी पृष्ठिका में एक कथा भी है, जिसमें व्यक्ति बनाम समाज की समस्याओं की जटिलताओं के घात प्रतिघात की कुछ रेखायें उरेही गई हैं। इस घात प्रतिघात में व्यक्ति ही विताड़ित होता है, क्योंकि उसका आधार-समाज ही आज अनवस्था में पड़ा है। यह विताड़न व्यक्ति को जो रूप देता है उसी का एक प्रतीक यह पानवाला भी है। उसकी नियति तक उसकी धारणा के अनुरूप बन गई है। ....आज व्यक्ति कितना उत्साह लेकर समष्टि के रंगमंच पर आता है और कैसा भग्न होकर निष्क्रान्त होता है !

इस कहानी में तात्त्विक विश्लेषण अपेक्षाकृत बहुत बढ़ गया है जिससे इसका कहानीपन कुंठित हो गया है।

१७. दो बांके--वर्मा जी की अधिकांश कहानियां मानव की जीवन की गम्भीर स्थितियों और उलझी हुई परिस्थितियों को लेकर चलती हैं। दो बांके में उसका अभाव है। यह तो एक हलका-सा चित्रण है--पर्सनल एसे-जैसा।

फिर भी शहरी जीवन के खोखलेपन एवं अवध की ह्रास कालीन संस्कृति के अवशिष्ट, 'रस्सी जल गई, ऐंठन न गई' वाले दिखावटी जीवन का उन्होंने ऐसा सजीव व्यंग चित्रण किया है और ऐसी मीठी चुटकी ली है कि यदि हम दो बांके को आंख खोलकर न पढ़ें तो सचमुच मान बैठें कि--'एक बांका दूसरे बांके से ही लड़ सकता है। देहातियों से उलझना उसे शोभा नहीं देता' एवं उस्ताद की मौजूदगी में, शागिर्दों को 'हाथ उठाने का कोई हक नहीं है।'

१८. घीसा--यह वस्तुतः एक संस्मरण है, किन्तु इसे हम कहानी की परिधि में ले सकते हैं। ऊपर झूठ-सच की टिप्पणी में हम इंगित कर चुके हैं कि किसी अनुभूति की जो प्रतिक्रिया कलाकार पर होती है उसी को अभिव्यक्ति उसकी कला है। ऐसी अनुभूति चाहे वास्तविक पात्रों वा घटनाओं के कारण हो, चाहे काल्पनिक के। यही बात घीसा के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

महादेवी जी की शैली कवित्वमय है, किन्तु खलने वाली नहीं क्योंकि वह दुलहिन की भांति अवगुंठित और अलंकारों के बोझ से लदी-दबी नहीं है। बिहारी के शब्दों में--'जगर मगर' हो रही है--गांव का एक नन्हा, मलिन, सहमा विद्यार्थी 'एक छोटी लहर के समान' उनके 'जीवन-तट को अपनी सारी आर्द्रता से छूकर अनन्त जलराशि में विलीन हो गया है।' कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति है! करुण! ऐसी करुण रमणीयता घीसा में अथ से इति तक व्याप्त है और उसके अन्तिम पैरा में तो ममता और वात्सल्य का जो परिपाक हुआ है वह एक लेखिका के ही कलम से सम्भव है।

कवियित्री होने के साथ साथ महादेवी जी चित्रकारी भी हैं, शब्दों के द्वारा भी इस कला की पूरी प्रवीणता उन्होंने इस कृति में दिखलाई

है । ऐसे अंकन के लिये कथा-भाग एक गौण वस्तु रह जाता है उसकी न्यूनता से निबन्ध के स्वारस्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता

१९. प्रोफेसर भीम भंटा राव--लोग कहते हैं, भारत के युवकों में टी० बी० भयंकर रूप से फैला हुआ है किन्तु वस्तुतः युवकों की सबसे व्यापक और असाध्य बीमारी है--बेकारी । बेचारे बिना केवट की नैया की तरह इधर से उधर मारे मारे फिर रहे हैं । अकबर के शब्दों में--

> कालिज से सदा आ रही है पास पास की ।
> ओहदों से सदा आ रही है दूर दूर की ॥

पर यही बेकारी किसी किसी युवक को कैसा चलता-पुर्जा बना देती है, इसी का यह एक चुटीला व्यंग-चित्र है । अँगरेजी वुडहाउस नामक हास्य रस के प्रसिद्ध कहानीकार से इसकी शैली बहुत मिलती है ।

२०. रोज--भले ही मनुष्य ने आध्यात्मिक जीवन की अमरता सिद्ध कर ली हो फिर भी, प्रकृति के तगादे के अनुसार उसे अपने भौतिक जीवन पर इतना ममत्व है कि उसने जिस दिन से होश सम्हाला है उस दिन से आज तक जरा-मृत्यु नाशक उपायों की खोज में लगा हुआ है । धनवान मरते-मरते, जीवन का केवल एक क्षण बढ़ जाने की आशा में डाक्टर वैद्य के लिये तोड़े का मुँह काट देता है । उसी जीवन में यदि कोई रस नहीं रह जाता तो उसका एक एक क्षण दूभर हो जाता है ।

अज्ञेय जी ने 'रोज' में भारतीय कुटुम्ब की इस बड़ी गहरी त्रुटि का विश्लेषण किया है, जिसे दूर किये बिना वह स्मशान बना

जा रहा है--मुर्दों की बस्ती; फिर ऐसे कुटुम्बों की समष्टि, समाज में जीवन कहां से आवे !

'आहार निद्रा भय मैथुनं च' के सिवा कुटुम्ब में एक जिन्दादिली, एक चहलपहल भी होनी चाहिये । हमारे जीवन में तो दिन रात वही पसीना, वही पसीना ।

साधारणतः योरप के कुटुम्ब जीवन का रस बनाये रहने के लिये, अपनी व्यस्तता में भी किस प्रकार समय निकाल लेते हैं । इसमें सुविभाजन और सुव्यवस्था तो है ही , वे इसका महत्व भी समझते हैं, इसीसे प्रयासपूर्वक उसका साधन जुटाते हैं ।

कोई स्वस्थ विनोद या कोई बौद्धिक मनोरंजन जीवन का एक दैनिक अंग हुये बिना, अपने यहां अनेक कुटुम्बों की आज वही दशा हो रही है जो हम 'रोज' के कुटुम्ब की पाते हैं । कहानी सुनने वाले के शब्दों में--"मैंने देखा कि सचमुच उस कुटुम्ब में कोई गहरी, भयंकर छाया घर कर गई है, उनके जीवन के इस पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गई है, उसका इतना अभिन्न अंग हो गई है कि वे उसे पहचानते ही नहीं, उसी की परिधि में घिरे हुए चले जा रहे हैं ।"

अपनी बातें बहुत ही घरेलू और अकृत्रिम शब्दों में कह कर उन्हें प्रभावपूर्ण बनाने में अज्ञेय जी एक ही हैं ।

२१. पिंजरा--यह बिलकुल नई कहानी का एक सुन्दर नमूना है, जिसमें कथानक और कथोपकथन की कमी एवं वर्णन तथा विश्लेषण की अधिकता रहती है । ऐसी रचना हमारे जीवन के लिये विजातीय द्रव्य नहीं रह जाती, उसमें घुल मिल जाती है, अतः भरपूर काम करती है ।

मनुष्य मनुष्य के बीच आज वर्गों की अलंघ्य खाइयां बन गई हैं। ये खाइयां उतनी सांस्कृतिक नहीं हैं जितनी कि आर्थिक। कहां सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग, के दिन लद गये हैं; अब तो उपेक्षा और—'दूर दूर' का साका व्याप उठा है। 'अश्क' जी ने इसी का एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमें स्त्री-पारतन्त्र्य की चुभन भी है। दलितों के प्रति लेखक की मार्मिक सहानुभूति को हम बरबस अपना लेते हैं।

जयशङ्कर 'प्रसाद'

(जन्म—१८८६ मृत्यु—१९३७ ई०)

काशी के एक प्रतिष्ठित और धनी वैश्य घराने में प्रसाद जी का जन्म हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा घर पर तथा क्वींस कालेज में ८वें दर्जे तक हुई। १२ वर्ष की अवस्था में पिता की मृत्यु हो जाने से स्कूल की पढ़ाई छूट गई। इन्होंने बड़े भाई के संरक्षण में घर पर ही संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त किया। इनके घर पर समस्यापूर्ति करने वाले कवियों का जमघट लगा रहता था। इस मंडली के प्रभाव से बाल्यकाल से ही कविता के प्रति इनकी रुचि जागृत हो गई। यह १५ वर्ष की अवस्था में दूकान पर बहीखाते के रद्दी कागज पर कविताएं लिखा करते थे। प्रसाद जी के जीवन में ही उनके ८ कविता-संग्रह, ६ नाटक, २ उपन्यास और ५ कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए। उनके निबन्धों का एक संग्रह उनकी मृत्यु के दो वर्ष बाद प्रकाशित हुआ तथा एक अधूरा उपन्यास भी कुछ काल बाद प्रकाशित हुआ। प्रसाद जी एक नये साहित्यिक युग के निर्माता ही नहीं थे, एक नई विचारशैली और नव्य दर्शन के उद्भावक भी हैं। उन्होंने उदात्त और शक्तिशाली भावनाओं तथा जीवनमय चरित्रों का निर्माण अपने साहित्य में किया है।

देवरथ

दो-तीन रेखाएँ भाल पर, काली पुतलियों के समीप मोटी और काली बरौनियों का घेरा, घनी आपस में मिली रहने वाली भवें और नासा-पुट के नीचे हलकी-हलकी हरियाली उस तापसी के गोरे मुंह पर सबल अभिव्यक्ति की प्रेरणा प्रगट करती थीं।

यौवन, काषाय से कहीं छिप सकता है ? संसार को दुःखपूर्ण समझकर ही तो वह संघ की शरण में आई थी। उसके आशापूर्ण हृदय पर कितनी ही ठोकरें लगी थीं। तब भी यौवन ने साथ न छोड़ा। भिक्षुकी बन कर भी वह शान्ति न पा सकी थी। वह आज अत्यन्त अधीर थी।

चैत की अमावस्या का प्रभात था। अश्वत्थ वृक्ष की मिट्टी-सी सफेद डालों और तने पर ताम्र अरुण कोमल पत्तियां निकल आई थीं। उन पर प्रभात की किरणें पड़कर लोट-पोट हो जाती थीं। इतनी स्निग्ध शय्या उन्हें कहां मिली थी।

सुजाता सोच रही थी। आज अमावस्या है। अमावस्या तो उसके हृदय में सबेरे से ही अन्धकार भर रही थी। दिन का आलोक उसके लिए नहीं के बराबर था। वह अपने विशृंखल विचारों को छोड़ कर कहां भाग जाय। शिकारियों का झुंड और अकेली हरिणी ! उसकी आंखें बन्द थीं।

आर्यमित्र खड़ा रहा। उसने देख लिया कि सुजाता की समाधि अभी न खुलेगी। वह मुस्कुराने लगा। उसके कृत्रिम शील ने भी उसको वर्जित किया। संघ के नियमों ने उसके हृदय पर कोड़े लगाये; पर वह भिक्षु वहीं खड़ा रहा।

भीतर के अन्धकार से ऊब कर सुजाता ने आलोक के लिए आंखें खोल दीं। आर्य्यमित्र को देखकर आलोक की भीषणता उसकी आंखों के सामने नाचने लगी। उसने शक्ति बटोर कर कहा—बन्दे !

आर्य्यमित्र पुरुष था, भिक्षु था। भिक्षुकी का उसके सामने नत होना संघ का नियम था। आर्य्यमित्र ने हँसते हुए अभिवादन कर उत्तर दिया, और पूछा—सुजाता, आज तुम स्वस्थ हो ?

सुजाता उत्तर देना चाहती थी। पर... आर्य्यमित्र के काषाय के नवीन रंग में उसका मन उलझ रहा था। वह चाहती थी कि आर्य्यमित्र चला जाय; चला जाय उसकी चेतना के घेरे के बाहर। इधर वह अस्वस्थ थी, आर्य्यमित्र उसे औषधि देता था। संघ का वह वैद्य था। अब वह अच्छी हो गई है। उसे आर्य्यमित्र की आवश्यकता है नहीं; किन्तु ....है तो ...हृदय को उपचार की अत्यन्त आवश्यकता है। तब भी आर्य्यमित्र ! वह क्या करे। बोलना ही पड़ा।

'हां अब तो स्वस्थ हूँ।'

'अभी पथ्य सेवन करना होगा।'

'अच्छा।'

'मुझे और भी बात कहनी है।'

'क्या ? नहीं, क्षमा कीजिये। आपने कब से प्रवज्या ली है ?'

'वह सुनकर तुम क्या करोगी। संसार ही दुःखमय है।'

'ठीक तो......अच्छा, नमस्कार।'

आर्य्यमित्र चला गया; किन्तु उसके जाने से जो आन्दोलन

आलोक-तरंग में उठा, उसी में सुजाता झूमने लगी थी। उसे मालूम नहीं, कब से महास्थविर उसके समीप खड़े थे।

* * * *

समुद्र का कोलाहल कुछ सुनने नहीं देता था। संध्या धीरे-धीरे विस्तृत नील जल राशि पर उतर रही थी। तरंगों पर तरंग बिखर कर चूर हो रही थीं। सुजाता बालुका की शीतल वेदी पर बैठी हुई अपलक आंखों से उस क्षणिकता का अनुभव कर रही थी; किन्तु नीलाम्बुधि का महान सम्भार किसी वास्तविकता की ओर संकेत कर रहा था। सत्ता की सम्पूर्णता धुंधली संध्या में मूर्तिमान हो रही थी। सुजाता बोल उठी।

'जीवन सत्य है, संवेदन सत्य है, आत्मा के आलोक में अन्धकार कुछ नहीं है।'

सुजाता, यह क्या कह रही हो ?—पीछे से आर्य्यमित्र ने कहा।

'कौन, आर्य्यमित्र !'

'मैं भिक्षुनी क्यों हुई आर्य्यमित्र !'

'व्यर्थ सुजाता ! मैंने अमावस्या की गम्भीर रजनी में संघ के सन्मुख पापी होना स्वीकार कर लिया है। अपने कृत्रिम शील के आवरण में सुरक्षित नहीं रह सका। मैंने महास्थविर से कह दिया कि संघमित्र का पुत्र आर्य्यमित्र सांसारिक विभूतियों की उपेक्षा नहीं कर सकता। कई पुरुषों की संचित महौषधियां, कलिंग के राजवैद्य पद का सम्मान, सहज में छोड़ा नहीं जा सकता। मैं केवल सुजाता के लिये ही भिक्षु बना था। उसी का पता लगाने के लिए मैं नील विहार में आया था। वह मेरी वाग्दत्ता भावी पत्नी है।

किन्तु आर्य्यमित्र, तुमने विलम्ब किया, मैं तुम्हारी पत्नी न हो सकूंगी।--सुजाता ने बीच ही में रोक कर कहा।

'क्यों सुजाता। यह काषाय क्या श्रृंखला है ? फेंक दो इसे। वाराणसी के स्वर्ण-खचित वसन ही तुम्हारे परिधान के लिए उपयुक्त हैं। रत्नमाला, मणि-कंकण और हेम-कांची तुम्हारे कमल कोमल अंग-लता को सजावेंगी। तुम राज रानी बनोगी।'

'किन्तु....'

'किन्तु क्या सुजाता ? मेरा हृदय फटा जाता है। बोलो, मैं संघ का बन्धन तोड़ चुका हूँ और तुम तो जीवन की, आत्मा की क्षणिकता में विश्वास नहीं करती हो ?'

'किन्तु आर्य्यमित्र ! मैं वह अमूल्य उपहार--जो स्त्रियां, कुलवधुएँ अपने पति के चरणों में समर्पण करती हैं--कहां से लाऊँगी ? वह वरमाला जिसमें दूर्वा-सदृश कौमार्य्य हरा-भरा रहता हो, जिसमें मधूक-कुसुम-सा हृदय रस भरा हो, कैसे, कहां से तुम्हें पहना सकूंगी ?'

क्यों सुजाता ? उसमें कौन-सी बाधा है !--कहते-कहते आर्य्य-मित्र का स्वर कुछ तीक्ष्ण हो गया। वह अंगूठे से बालू बिखेरने लगा।

'उसे सुनकर तुम क्या करोगे ? जाओ, राज-सुख भोगो। मुझ जन्म की दुखिया के पीछे अपना आनन्द-पूर्ण भविष्य-संसार नष्ट न करो आर्य्यमित्र ! जब तुमने संघ का बन्धन भी तोड़ दिया है, तब मुझ पामरी के मोह का बन्धन भी तोड़ डालो।'

सुजाता के वक्ष में श्वास भर रहा था।

आर्य्यमित्र ने निर्जन समुद्र-तट के उस मलिन सायंकाल में,

सुजाता का हाथ पकड़कर तीव्र स्वर में पूछा--सुजाता, स्पष्ट कहो; क्या तुम मुझसे प्रेम नहीं करती हो ?

'करती हूँ आर्य्यमित्र। इसी का दुःख है। नहीं तो भैरवी के लिए किस उपभोग की कमी है।

आर्य्यमित्र ने चौंककर सुजाता का हाथ छोड़ते हुए कहा--क्या कहा--भैरवी !

'हां आर्य्यमित्र ! मैं भैरवी हूँ, मेरी...'

आगे वह कुछ न कह सकी। आंखों से जल-बिन्दु ढुलक रहे थे, जिसमें वेदना के समुद्र ऊर्मिल हो रहे थे।

आर्य्यमित्र अधीर होकर सोचने लगा--पारिवारिक पवित्र बन्धनों को तोड़कर जिस मुक्ति को--निर्वाण की--आशा में जनता दौड़ रही है, क्या उस धर्म की यही सीमा है ! यह अन्धेर--गृहस्थों का सुख न देख सकने वालों का यह निर्मम दण्ड, समाज कब तक भोगेगा ?

सहसा प्रकृतिस्थ होकर उसने कहा--सुजाता ! मेरा सिर घूम रहा है, जैसे देवरथ का चक्र; परन्तु मैं तुमको अब भी पत्नी-रूप से ग्रहण करूँगा। सुजाता, चलो।

'किन्तु मैं तो तुम्हें पतिरूप से ग्रहण न कर सकूंगी। अपनी सारी लाञ्छना तुम्हारे साथ बांटकर जीवन-संगिनी बनने का दुस्साहस मैं न कर सकूंगी। आर्य्यमित्र, मुझे क्षमा करो ! मेरी वेदना रजनी से भी काली है और दुःख समुद्र से विस्तृत है। स्मरण है ? इसी महोदधि के तट पर बैठकर, सिकता में हम लोग अपना नाम साथ-ही साथ लिखते थे। चिर-रोदनकारी निष्ठुर समुद्र अपनी लहरों की उँगली से उसे मिटा देता था। मिट जाने दो हृदय की सिकता से प्रेम का

नाम ! आर्यमित्र, इस रजनी के अन्धकार में उसे विलीन हो जाने दो।'

'सुजाता'—सहसा एक कठोर स्वर सुनाई पड़ा।

दोनों ने घूमकर देखा, अन्धकार-सी भीषण मूर्ति, संघ-स्थविर !

*　　　*　　　*　　　*

उसके जीवन के परमाणु बिखर रहे थे। निशा की कालिमा में, सुजाता सिर झुकाये हुए बैठी, देव-प्रतिमा की रथ-यात्रा का समारोह देख रही थी; किन्तु दौड़कर छिप जाने वाले मूक दृश्य के समान वह किसी को समझ न पाती थी। स्थविर ने उसके सामने आकर कहा—सुजाता, तुमने प्रायश्चित्त किया ?

किसके पाप का प्रायश्चित्त ! तुम्हारे या अपने ?—तीव्र स्वर में सुजाता ने कहा।

'अपने और आर्यमित्र के पापों का—सुजाता ! तुमने अविश्वासी हृदय से धर्म-द्रोह किया है।'

'धर्मद्रोह ! आश्चर्य !!'

'तुम्हारा शरीर देवता को समर्पित था सुजाता ! तुमने...'

बीच ही में उसे रोककर तीव्र स्वर में सुजाता ने कहा—चुप रहो असत्यवादी। वज्रयानी नर-पिशाच...............

एक क्षण में उस भीषण मनुष्य की कृत्रिम शान्ति विलीन हो गई। उसने दांत किट-किटाकर कहा—मृत्यु-दण्ड !

सुजाता ने उसकी ओर देखते हुए कहा—कठोर से भी कठोर मृत्यु-दण्ड मेरे लिए कोमल है। मेरे लिए इस स्नेहमयी धरणी पर बचा

ही क्या है ? स्थविर ! तुम्हारा धर्मशासन घरों को चूर-चूर करके विहारों की सृष्टि करता है—कुचक्र में जीवन को फँसाता है । पवित्र गार्हस्थ्य बन्धनों को तोड़कर तुम लोग भी अपनी वासना-तृप्ति के अनुकूल ही तो एक नया घर बनाते हो, जिसका नाम बदल देते हो । तुम्हारी तृष्णा तो साधारण सरल गृहस्थों से भी तीव्र है, क्षुद्र है और निम्न-कोटि की है !

'किन्तु सुजाता तुम को मरना होगा ।'

'तो मरूँगी स्थविर; किन्तु तुम्हारा यह काल्पनिक आडम्बरपूर्ण धर्म भी मरेगा । मनुष्यता का नाश करके कोई भी धर्म खड़ा नहीं रह सकता !'

'कल ही !'

'हां, कल प्रभात में तुम देखोगे कि सुजाता कैसे मरती है !'

सुजाता मन्दिर के विशाल स्तम्भ से टिकी हुई, रात्रि व्यापी उत्सव को स्थिर दृष्टि से देखती रही। एक बार उसने धीरे से पूछा—

देवता, यह उत्सव क्यों ? क्या जीवन की यंत्रणाओं से तुम्हारी पूजा का उपकरण संग्रह किया जाता है ?

प्रतिमा ने कोई उत्तर नहीं दिया ।

प्रभात की किरणें मन्दिर के शिखर पर हँसने लगीं ।

देव-विग्रह ने रथ-यात्रा के लिए प्रयाण किया । जनता तुमुल नाद से जय-घोष करने लगी ।

सुजाता ने देखा, पुजारियों के दल में कौशेय वसन पहने हुए आर्य्यमित्र भी भक्ति-भाव से चला जा रहा है । उसकी इच्छा हुई कि आर्य्यमित्र को बुलाकर कहे कि वह उसके साथ चलने को प्रस्तुत है ।

सम्पूर्ण बल से उसने पुकारा--आर्य्यमित्र !

किन्तु उस कोलाहल में कौन सुनता है । देवरथ विस्तीर्ण राज-पथ से चलने लगा । उसके दृढ़ चक्र धरणी की छाती में गहरी लीक डालते हुए आगे बढ़ने लगे । उस जन समुद्र में सुजाता फांद पड़ी और एक क्षण में उसका शरीर देवरथ के भीषण चक्र से पिस उठा ।

रथ खड़ा हो गया । स्थविर ने दृष्टि से सुजाता के शव को देखा । अभी वह कुछ बोलना ही चाहता था कि दर्शकों और पुजारियों का दल, 'काला पहाड़ ! काला पहाड़ !!' चिल्लाता हुआ इधर-उधर भागने लगा । धूलि की घटा में बरछियों की बिजलियां चमकने लगीं ।

देव-विग्रह एकाकी धर्मोन्मत्त 'काला पहाड़' के अश्वारोहियों से घिर गया--रथ पर था देव-विग्रह और नीचे सुजाता का शव ।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

(जन्म—१८८३, मृत्यु—१९२२ ई०)

गुलेरी जी का जन्म जयपुर के एक समृद्ध घराने में हुआ। आपके पिता पंडित शिवराम शास्त्री जयपुर संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल थे और अपने समय के श्रेष्ठ विद्वान् थे। चन्द्रधर जी का विद्यार्थी-जीवन बहुत गौरवपूर्ण रहा। सोलह वर्ष की अवस्था में प्रयाग विश्वविद्यालय की एन्ट्रेंस परीक्षा पास की और उसमें सर्वप्रथम रहे। कलकत्ता युनिवर्सिटी की एन्ट्रेन्स परीक्षा में भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। १९०४ में प्रयाग विश्वविद्यालय की बी० ए० की परीक्षा पास की और उसमें सर्वप्रथम रहे। इसी वर्ष मेयो कालेज, अजमेर में संस्कृत के प्रधान अध्यापक नियुक्त हो गए। १९०४ से १९०७ के बीच बहुत से लेख लिखे, जिसके फलस्वरूप इनकी पुरातत्व, भाषातत्व, प्राचीन इतिहास, संस्कृत, वैदिक संस्कृत, पाली तथा प्राकृत के श्रेष्ठ विद्वानों में गणना होने लगी। इनका 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक लेख ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्व का है। आप १९२० में हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस में कालेज आफ ओरियंटल लर्निंग एन्ड थियोलौजी के प्रिंसपल नियुक्त हुए। आपने ३ कहानियां ही लिखी थीं। इनमें से 'सुखमय जीवन' १९११ में 'भारतमित्र' में छपी थी। दूसरी कहानी 'बुद्धू का कांटा' है। 'उसने कहा था' अक्टूबर १९१५ को 'सरस्वती' में छपी थी। आपकी यह तीन कहानियां ही आपको कथा साहित्य में अमर करने को पर्याप्त हैं।

उसने कहा था

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ी वालों की जबान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है, और कान पक गये हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है, कि अमृतसर बम्बूकार्टवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए, इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट-सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह-चलते पैदलों की आंखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अंगुलियों के पोरों को चींथकर अपने-ही को सताया हुआ बताते हैं, और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने, नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले तंग चक्करदार गलियों में, हर-एक लड्ढीवाले के लिए ठहरकर, सब्र का समुद्र उमड़ाकर 'बचो खालसा जी!' 'हटो भाई जी!' 'ठहरना भाई!' आने दो लाला जी!' 'हटो बाछा!'*—कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, और गन्ने, खोमचे और भारेवालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है, कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती, तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा जीणे जोगिए; हट जा करमा वालिए; हट जा पुत्तां प्यारिए; बच जा लम्बी वालिए। समष्टि में इनके अर्थ हैं, कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, पुत्रों को

* बादशाह।

प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहिये के नीचे आना चाहती है ?--बच जा।

ऐसे बम्बूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था, कि दोनों सिक्ख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिये दही लेने आया था, और यह रसोई के लिये बड़ियां। दूकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर-भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

'तेरे घर कहां है ?'

'मगरे में;--और तेरे ?'

'मांझे में;--यहां कहां रहती है !'

'अतरसिंह की बैठक में; वे मेरे मामा हैं।'

'मैं भी मामा के यहां आया हूं, उनका घर गुरु बाजार में है।'

इतने में दूकानदार निबटा, और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुसकराकर पूछा--तेरी कुड़माई* हो गई ?

इस पर लड़की कुछ आंखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई, लड़का मुंह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्जीवाले के यहां, दूधवाले के यहां, अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा,--तेरी कुड़माई हो गई ? और उत्तर में वही 'धत्' मिला।

* मँगनी।

एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हंसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की, लड़का की सम्भावना के विरुद्ध बोली—हां हो गई।

'कब ?'

'कल; देखते नहीं, यह रेशम से कढ़ा हुआ 'सालू' *

लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छाबड़ीवाले की दिन-भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

२

'राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है! दिन रात खन्दकों में बैठे हड्डियां अकड़ गईं। लुधियाना से दस-गुना जाड़ा और मेंह, और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। ग़नीम कहीं दिखता नहीं;—घंटे-दो-घंटे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी खन्दक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस ग़ैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का जलजला सुना था, यहां दिन में पचीस जलजले होते हैं। जो कहीं खन्दक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।

'लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खन्दक में बिता ही दिये। परसों 'रिलीफ' आ जायगी, और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका† करेंगे, और पेट-भर खाकर सो रहेंगे। उसी

* ओढ़नी। † बकरा मारना।

फिरंगी* मेम के बाग में--मखमल की-सी हरी घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।'

'चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जर्मनों को अकेला मारकर न लौटूं, तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े--संगीन देखते ही मुंह फाड़ देते हैं, और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था--चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो--'

नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों?--सूबेदार हजारासिंह ने मुसकरा कर कहा--लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाए नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गये तो क्या होगा?

सूबेदार जी, सच है--लहनासिंह बोला--पर करें क्या? हड्डियों हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं, और खाई में दोनों तरफ से चम्बे की बावलियों के से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय, तो गरमी आ जाय।

उदमी† उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वजीरा, तुम चार जने बाल-टियां लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदला दे।--यह कहते हुए सूबेदार सारी खन्दक में चक्कर लगाने लगे।

---

* फ्रेंच। † उद्यमी।

वज़ीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भर कर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!—इस पर सब खिलखिला पड़े, और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब भर में नहीं मिलेगा।

'हाँ देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा* जमीन यहां मांग लूंगा, और फलों के बूटे† लगाऊँगा।'

'लाड़ीहोरां‡ को भी यहां बुला लोगे? या वही दूध पिलाने वाली फिरंगी मेम—'

'चुपकर। यहां वालों को शरम नहीं।'

'देश-देश की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तम्बाखू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है और पीछे हटता हूँ, तो समझती है, कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिए लड़ेगा नहीं।'

'अच्छा, अब बोधासिंह कैसा है?'

'अच्छा है।'

'जैसे मैं जानता ही न होऊँ! रात भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न मांदे पड़ जाना। जाड़ा

* जमीन की नाप। † पेड़। ‡ स्त्री का आदरवाचक शब्द।

क्या है मौत है, और 'निमोनिया' से मरनेवालों को मुरब्बे* नहीं मिला करते।'

'मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आंगन के पेड़ की छाया होगी।'

वजीरासिंह ने त्यौरी चढ़ाकर कहा—'क्या मरने-मारने की बात लगाई है ? मरे जर्मनी और तुरक ! हां भाइयो, कैसे—'

दिल्ली शहर तें पिशौर नुं जांदिए,
कर लेणा लौंगां दा व्योपार मंडिए;
(ओय) लाणा चटाका कदुए नुं।
कद्दू बणाए मजेदार गोरिए,
हुण लाणा चटाका कदुए नुं ॥

कौन जानता था कि दाढ़ियोंवाले, घरबारी सिख ऐसा लुच्चों का गीत गायेंगे, पर सारी खन्दक इस गीत से गूंज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गये, मानों चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

३

दो पहर बीत गई है। अन्धेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधासिहखाली बिसकुटों के तीन टिनों पर, अपने दोनों कम्बल बिछाकर और लहनासिंह के दो कम्बल और बरानकोट† ओढ़ कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आंख खाई के मुंह पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर। बोधासिंह कराहा।

---

* नई नहरों के पास वर्ग-भूमि। † ओवरकोट।

'क्यों बोधा भाई, क्या है ?'

'पानी पिला दो !'

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुंह से लगाकर पूछा--कहो कैसे हो ? पानी पोकर बोधा बोला--कँपनी* छुट रही है । रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं । दांत बज रहे हैं ।

'अच्छा, मेरी जरसी पहन लो ?'

'और तुम ?'

'मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है । पसीना आ रहा है ।'

'ना, मैं नहीं पहनता; चार दिन से तुम मेरे लिये--'

'हां, याद आई । मेरे पास दूसरी गरम जरसी है । आज सबेरे ही आई है । विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं । गुरु उनका भला करे ।' यों कहकर लहना अपना कोट उतार कर जरसी उतारने लगा ।

'सच कहते हो ?'

और नहीं झूठ ?--यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और जीन का कुरता भर पहन-कर पहरे पर आ खड़ा हुआ । मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी ।

आधा घंटा बीता । इतने में खाई के मुंह से आवाज आई--सूबेदार हजारा सिंह !

* कँपकपी ।

कौन लपटन साहब ? हुकुम हुजूर--कहकर सूबेदार तनकर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

'देखो, इसी समय धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से जियादह जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काट कर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं जहां मोड़ है वहां पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहां दस आदमी छोड़कर सब को साथ ले उनसे जा मिलो। खन्दक छीन कर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहां रहेगा।'

'जो हुकुम।'

चुपचाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कम्बल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझ कर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुंह फेरकर खड़े हो गए और जेब से सिगरेट निकाल कर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा--लो तुम भी पियो।

आंख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुंह का भाव छिपाकर बोला--लाओ साहब--हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुंह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में कहां उड़ गये और उनकी जगह कैदियों-से कटे हुए बाल कहां से आ गये ?

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है ? लहनासिंह ने जांचना चाहा । लपटन साहब पांच वर्ष से उसकी रेजिमेंट में थे ।

'क्यों साहब हम लोग हिन्दुस्तान कब जायेंगे ?'

'लड़ाई खत्म होने पर । क्यों क्या यह देश पसन्द नहीं ?'

'नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहां कहां ? याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी जिले में शिकार करने गये थे--'हां, हां'--वही जब आप खोते* पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था ? 'बेशक पाजी कहीं का'--सामने से वह नील गाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी । और आपकी एक गोली कन्धे में लगी और पुट्ठे में निकली । ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मजा है ! क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न ? आपने कहा था कि रजमेंट की मेस में लगायेंगे ।' 'हो, पर मैंने वह विलायत भेज दिया'--'ऐसे बड़े-बड़े सींग ! दो-दो फुट के तो होंगे ?'

'हां, लहनासिंह, दो फुट चार इञ्च के थे । तुमने सिगरेट नहीं पिया ?'

पीता हूं साहब, दियासलाई ले आता हूं--कहकर लहनासिंह खन्दक में घुसा । अब उसे सन्देह नहीं रहा था । उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए ।

अंधेरे में किसी सोनेवाले से वह टकराया ।

* गधा ।

'कौन ? वजीरासिंह ?'

'हां, क्यों लहनासिंह ? क्या, कयामत आ गई ? जरा तो आंख लगने दी होती ?'

४

'होश में आओ। कयामत आई और लपटन साहब की वर्दी पहन कर आई है।'

'क्या' ?

'लपटन साहब या तो मारे गये हैं या कैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुंह नहीं देखा। मैंने देखा और बातें की हैं। सौहरा* साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू और मुझे पीने को सिगरेट दिया है ?'

'तो अब ?'

'अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार होरां कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहां खाईं पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खन्दक की बात झूठ है। चले जाओ, खन्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।'

'हुकुम तो यह है कि यहीं—'

'ऐसी तैसी हुकुम की ! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो

* सुसरा (गाली)।

इस वक्त यहां सब से बड़ा अफसर है उसका हुकुम है । मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ ।'

'पर यहां तो तुम आठ ही हो ।'

'आठ नहीं दस लाख । एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है । चले जाओ ।'

लौट कर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया । उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह-जगह खन्दक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बांध दिया । तार के आगे सूत की गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा । बाहर की तरफ़ जाकर एक दियासलाई जला-कर गुत्थी पर रखने--

बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तान कर दे मारा । धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी । लहनासिंह ने एक कुन्दा साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'आंख ! मीन गौट्ट'* कहते हुए चित्त हो गये । लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खन्दक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया । जेबों की तलाशी ली । तीन-चार लिफ़ाफ़े और एक डायरी निकाल कर उन्हें अपने जेब के हवाले किया ।

साहब की मूर्छा हटी । लहनासिंह हँसकर बोला--क्यों लपटन साहब ? मिजाज कैसा है ? आज मैंने बहुत बातें सीखीं । यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं । यह सीखा कि जगाधरी के ज़िले में

* हाय ! मेरे राम (जर्मन)

नीलगायें होती हैं और उनके दो फुट चार इञ्च के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ़ उर्दू कहां से सीख आये! हमारे लपटन साहब तो बिना 'डैम' के पांच लफ्ज़ भी नहीं बोला करते थे।

लहना ने पतलून के जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने, मानो जाड़े से बचाने के लिए, दोनों हाथ जेब में डाले।

लहनासिंह कहता गया—चालाक तो बड़े हो पर मांझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिये चार आंखें चाहिए। तीन महीने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गांव में आया था। औरतों को बच्चे होने की ताबीज बांटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा* बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था जर्मनीवाले बड़े पण्डित हैं। वेद पढ़-पढ़ कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायेंगे तो हत्या बन्द कर देंगे। मण्डी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपया निकाल लो; सरकार का राज्य जाने वाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्ला जी की दाढ़ी मूड़ दी थी। और गांव से बाहर निकालकर कहा था कि मेरे गांव में अब पैर रक्खा तो—

साहब की जेब में से पिस्तौल चली और लहना की जांघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरीमार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल क्रिया कर दी। धड़ाका सुन कर सब दौड़ आये।

* खटिया।

बोधा चिल्लाया—क्या है ?

लहनासिंह ने उसे यह कहकर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया' और औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफा फाड़ कर घाव के दोनों तरफ़ पट्टियां कसकर बांधी। घाव मांस में ही था ! पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द होगया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहां थे आठ (लहना सिंह तक-तक कर मार रहा था।—वह खड़ा था, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़ कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनटों में वे..........

अचानक आवाज आई 'वाह गुरुजी की फतह ? वाह गुरुजी का खालसा !!' और धड़ाधड़ बन्दूकों के फायर जर्मनों के ऊपर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों नें भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—'अकाल सिक्खों की फौज आई ! वाह गुरुजी की फतह ! वाह गुरुजी का खालसा। सत श्री अकाल पुरुख !!! —और लड़ाई खतम हो गई। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गए। सूबेदार के दाहने कन्धे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खन्दक की गीली मिट्टी से पूर लिया

और बाकी का साफा कसकर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना को दूसरा घाव--भारी घाव--लगा है।

लड़ाई के समय चांद निकल आया था, ऐसा चांद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य' कहलाती। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और कागजात पाकर वे उसकी तुरन्त-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाईवालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहां से झटपट दो बीमार ढोने की गाड़ियां चलीं, जो कोई डेढ़ घंटे के अन्दर अन्दर आ पहुँची। फील्ड अस्पताल नजदीक था। सुबह होते-होते वहां पहुँच जायेंगे, इसलिये मामूली पट्टी बांधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गई। सूबेदार ने लहनासिंह की जांघ में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है सबेरे देखा जायगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा--तुम्हें बोधा की कसम है, और सूबेदारनी जी की सौगन्ध है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।

'और तुम ?'

'मेरे लिये वहां पहुँच कर गाड़ी भेज देना और जर्मन मुरदों के

लिये भी तो गाड़ियां आती होंगी । मेरा हाल बुरा नहीं है । देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ ? वजीरासिंह मेरे पास है ही ।'

'अच्छा, पर--'

'बोधा गाड़ी पर लेट गया ? भला। आप भी चढ़ जाओ । सुनिये तो, सूबेदारनी होरां को चिट्ठी लिखो, तो मेरा मत्था टेकना लिख देना । और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उसने कहा था वह मैंने कर दिया ।'

गाड़ियां चल पड़ी थीं । सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़ कर कहा--तैंने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं । लिखना कैसा ? साथ ही घर चलेंगे । अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना । उसने क्या कहा था ?

'अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ । मैंने जो कहा, वह लिख देना, और कह भी देना'

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया ।--'वजीरा पानी पिला दे, और मेरा कमरबन्द खोल दे । तर हो रहा है ।'

५

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है । जन्मभर की घटनायें एक-एक करके सामने आती हैं । सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं; समय की धुन्ध बिल्कुल उन पर से हट जाती है ।

* * * *

लहनासिंह बारह वर्ष का है । अमृतसर में मामा के यहां आया हुआ है । दहीवाले के यहां, सब्जीवाले के यहां, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है । जब वह पूछता है तेरी कुड़-

माई हो गई ? तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है । एक दिन उसने वैसे ही पूछा, तो उसने कहा—हां, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू ?—सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ । क्रोध हुआ । क्यों हुआ ?

'वजीरासिंह, पानी पिला दे ।'

*　　　*　　　*　　　*

पचीस वर्ष बीत गये । अब लहनासिंह नं० ७७ रैफल्स में जमादार हो गया है । उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा । न-मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं । सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकदमे की पैरवी करने वह अपने घर गया । वहां रेजिमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली, कि फौज लाम पर जाती है, फौरन चले आओ । साथ ही सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं । लौटते हुए हमारे घर होते जाना । साथ ही चलेंगे । सूबेदार का गांव रास्ते में पड़ता था, और सूबेदार उसे बहुत चाहता था । लहनासिंह सूबेदार के यहां पहुँचा ।

जब चलने लगे, तब सूबेदार बेढे* में से निकल कर आया । बोला—लहना, सूबेदारनी तुझको जानती हैं, बुलाती हैं । जा मिल आ ।—लहनासिंह भीतर पहुँचा । सूबेदारनी मुझे जानती है ? कब से ? रेजिमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं । दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना ?' कहा । असीस सुनी । लहनासिंह चुप ।

'मुझे पहचाना ?'

* जनाने ।

'नहीं ।'

'तेरी कुड़माई हो गई––धत्––कल हो गई––देखते नहीं, रेशमी बूटोंवाला सालू––अमृतसर में––'

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली । करवट बदली । पसली का घाव बह निकला ।

'वजीरा, पानी पिला'––उसने कहा था ।

*   *   *   *

स्वप्न चल रहा है । सूबेदारनी कह रही है––'मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया । एक काम कहती हूँ । मेरे तो भाग फूट गये । सरकारने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है । पर सरकार ने हम तीमियों* की एक घँघरिया पल्टन क्यों न बना दी, जो मैं भी सूबेदार के साथ चली जाती ? एक बेटा है । फौज में भर्ती हुए उसे एक ही बरस हुआ । उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया ।–– सूबेदारनी रोने लगी ।––अब दोनों जाते हैं । मेरे भाग ! तुम्हें याद है, एक दिन टांगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दूकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे । आप घोड़े की लातों में चले गये थे, और मुझे उठाकर दूकानदार के तख्ते पर खड़ा कर दिया था । ऐसे ही इन दोनों को बचाना । यह मेरी भिक्षा है । तुम्हारे आगे मैं आंचल पसारती हूँ ।

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी† में चली गई । लहना भी आंसू पोंछता हुआ बाहर आया ।

---

* स्त्रियों । † अन्दर का घर ।

'वजीरासिंह, पानी पिला'--उसने कहा था ।

* * * *

लहना का सिर अपनी गोद में रक्खे वजीरासिंह बैठा है । ज
मांगता है, तब पानी पिला देता है । आध घण्टे तक लहना चुप रह
फिर बोला--'कौन ! कीरतसिंह ?"

वजीरा ने कुछ समझ कर कहा--हां ।

'भइया, मुझे और ऊँचा कर ले । अपने पट्ट* पर मेरा सि
रख ले ।'

वजीरा ने वैसा ही किया ।

'हां, अब ठीक है । पानी पिला दे । बस, अब के हाड़† मे
यह आम खूब फलेगा । चचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना ।
जितना बड़ा तेरा भतीजा है, उतना ही यह आम है । जिस महीने
उसका जन्म हुआ था, उसी महीने में मैंने इसे लगाया था ।'

वजीरासिंह के आंसू टप-टप टपक रहे थे ।

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा--फ्रान्स और बेलजियम
--६८वीं सूची--मैदान में घावों से मरा--नं० ७७ सिख राइफल्स
जमादार लहनासिंह ।

---

* जांघ । † अषाढ़ ।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

(जन्म १८९१ ई०)

कौशिक जी का जन्म अम्बाला छावनी में एक साधारण स्थिति के कौशिक गोत्रीय आदि गौड़ वंश में हुआ। पिता फौज में स्टोर कीपर थे। जब आपकी अवस्था चार वर्ष की हुई, तब आपके एक बाबा ने, जो कानपुर में वकालत करते थे और निस्संतान थे आपको अपना दत्तक पुत्र बना लिया। आपने स्कूल में मैट्रिक तक शिक्षा पाई। स्कूल में फारसी और उर्दू पढ़ी, हिन्दी तथा संस्कृत का ज्ञान घर पर अर्जित किया। उर्दू में 'साग़िब' के उपनाम से कविता भी करते थे। इनका हिन्दी में लिखने का क्रम १९११ से आरम्भ हुआ। स्व० महावीर प्रसाद द्विवेदी से जब प्रथम बार भेंट हुई तो उन्होंने पूछा, 'तुम्हारी रुचि किस ओर है ?' उत्तर मिला, 'कहानी उपन्यास की ओर।' तब उन्होंने कहा, 'तो वही लिखा करो।' १९१२ में 'सरस्वती' में पहली कहानी 'रक्षाबन्धन' छपी। अब तक आपके ५ कहानी-संग्रह तथा दो उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। हास्यरस के कुछ सुन्दर पत्र ''विजयानन्द दुबे' के नाम से आपने लिखे हैं। 'दुबे जी का चिट्ठा' नाम से कुछ पत्रों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है। कौशिकजी एक बंगला उपन्यास तथा एक बंगला नाटक का अनुवाद भी कर चुके हैं। ३ संकलन ग्रंथ भी हैं।

रक्षा-बन्धन

(१)

'मां मैं भी राखी बांधूंगी।'

श्रावण की धूमधाम है। नगरवासी स्त्री-पुरुष बड़े आनन्द तथा उत्साह से श्रावणी का उत्सव मना रहे हैं। बहनें भाइयों के और ब्राह्मण अपने यजमानों के राखियां बांध बांध कर चांदी कर रहे हैं। ऐसे ही समय एक छोटे से घर में एक दस वर्ष की बालिका ने अपनी माता से कहा--मां मैं भी राखी बांधूंगी।

उत्तर में माता ने एक ठंडी सांस भरी और कहा--किसके बांधेगी बेटी--आज तेरा भाई होता तो...।

माता आगे कुछ न कह सकी। उसका गला रुंध गया और नेत्र अश्रु-पूर्ण हो गये।

अबोध बालिका ने अठलाकर कहा--तो क्या भइया ही के राखी बांधी जाती है और किसी के नहीं? भइया नहीं है तो अम्मा मैं तुम्हारे ही राखी बांधूंगी।

इस दुःख के समय भी पुत्री की बात सुनकर माता मुसकराने लगी और बोली--अरी तू इतनी बड़ी हो गई--भला कहीं मां के भी राखी बांधी जाती है।

बालिका ने कहा--वाह, जो पैसा दे उसी के राखी बांधी जाती है।

माता--अरी कँगली! पैसे भर नहीं--भाई ही के राखी बांधी जाती है।

बालिका उदास हो गई।

माता घर का काम काज करने लगी। घर का काम शेष करके उसने पुत्री से कहा—आ तुझे न्हिला (नहला) दूं।

बालिका मुख गम्भीर करके बोली—मैं नहीं नहाऊंगी।

माता—क्यों, नहावेगी क्यों नहीं?

बालिका—मुझे क्या किसी के राखी बांधनी है?

माता—अरी राखी नहीं बांधनी है तो क्या नहावेगी भी नहीं। आज त्योहार का दिन है। चल उठ नहा।

बालिका—राखी नहीं बाधूंगी तो तिवहार काहे का?

माता—(कुछ क्रुद्ध होकर) अरी कुछ सिड़न हो गई है। राखी-राखी रट लगा रक्खी है। बड़ी राखी बांधने वाली बनी है। ऐसी ही होती तो आज यह दिन देखना पड़ता। पैदा होते ही बाप को खा बैठी। ढाई बरस की होते होते भाई से घर छुड़ा दिया। तेरे ही कर्मों से सब नास (नाश) हो गया।

बालिका बड़ी अप्रतिभ हुई और आंखों में आंसू भरे हुए चुपचाप नहाने को उठ खड़ी हुई।

* * * *

एक घंटा पश्चात् हम उसी बालिका को उसके घर के द्वार पर खड़ी देखते हैं। इस समय भी उसके सुन्दर मुख पर उदासी विद्यमान है। अब भी उसके बड़े बड़े नेत्रों में पानी छलछला रहा है।

परन्तु बालिका इस समय द्वार पर क्यों? जान पड़ता है, वह किसी कार्य वश खड़ी है, क्योंकि उसके द्वार के सामने से जब कोई निकलता

है तब वह बड़ी उत्सुकता से उसकी ओर ताकने लगती है। मानों वह मुख से कुछ कहे बिना केवल इच्छा-शक्ति ही से, उस पुरुष का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करती थी। परन्तु जब उसे इसमें सफलता नहीं होती तब उसकी उदासी बढ़ जाती है।

इसी प्रकार एक, दो, तीन करके कई पुरुष, बिना उसकी ओर देखे, निकल गये।

अन्त को बालिका निराश होकर घर के भीतर लौट जाने को उद्यत ही हुई थी कि एक सुन्दर युवक की दृष्टि, जो कुछ सोचता हुआ धीरे-धीरे जा रहा था, बालिका पर पड़ी। बालिका की आंखें युवक की आंखों से जा लगीं। न जाने उन उदास तथा करुणा-पूर्ण नेत्रों में क्या जादू भरा था, कि युवक ठिठक कर खड़ा हो गया और बड़े ध्यान से सिर से पैर तक देखने लगा। ध्यान से देखने पर युवक को ज्ञात हुआ कि बालिका की आंखें अश्रुपूर्ण हैं। तब वह अधीर हो उठा। निकट जाकर पूछा--बेटी क्यों रोती हो?

बालिका इसका कुछ उत्तर न दे सकी। परन्तु उसने अपना एक हाथ युवक की ओर बढ़ा दिया। युवक ने देखा, बालिका के हाथ में एक लाल डोरा है। उसने पूछा--यह क्या है? बालिका ने आंखें नीची करके उत्तर दिया--राखी।--युवक समझ गया। उसने मुस्कराकर अपना दाहिना हाथ आगे बढ़ा दिया।

बालिका का मुख-कमल खिल उठा। उसने बड़े चाव से युवक के हाथ में राखी बांध दी।

राखी बंधवा चुकने पर युवक ने जेब में हाथ डाला और दो रुपये निकाल कर बालिका को देने लगा। परन्तु बालिका ने उन्हें लेना स्वीकार न किया। बोली--नहीं, पैसे दो।

युवक--ये पैसे से भी अच्छे हैं।

बालिका--नहीं--मैं पैसे लूंगी, यह नहीं।

युवक--ले लो बिटिया। इसके पैसे मंगा लेना। बहुत से मिलेंगे।

बालिका--नहीं, पैसे दो।

युवक ने चार आने पैसे निकाल कर कहा--अच्छा ले पैसे भी ले और यह भी ले।

बालिका--नहीं, खाली पैसे लूंगी।

तुझे दोनों लेने पड़ेंगे--यह कह कर युवक ने बलपूर्वक पैसे तथा रुपये बालिका के हाथ पर रख दिये।

इतने में घर के भीतर से किसी ने पुकारा--अरी सरसुती (सरस्वती) कहां गई?

बालिका ने--आई--कहकर युवक की ओर कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि डाली और चली गई।

(२)

गोलागञ्ज (लखनऊ) की एक बड़ी तथा सुन्दर अट्टालिका के एक सुसज्जित कमरे में एक युवक चिंता-सागर में निमग्न बैठा है। कभी वह ठण्डी सांसें भरता है; कभी रूमाल से आंखें पोंछता है; कभी आप ही आप कहता है--हा! सारा परिश्रम व्यर्थ गया। सारी चेष्टायें निष्फल हुईं। क्या करूँ। कहां जाऊँ। उन्हें कहां ढूढूं। सारा उन्नाव छान डाला। परन्तु फिर भी पता न लगा।--युवक आगे कुछ और कहने को था कि कमरे का द्वार धीरे धीरे खुला और एक नौकर अन्दर आया।

युवक ने कुछ विरक्त होकर पूछा--क्यों, क्या है?

नौकर--सरकार अमरनाथ बाबू आए हैं।

युवक--(संभलकर) अच्छा यहीं भेज दो।

नौकर के चले जाने पर युवक ने रूमाल से आंखें पोंछ डालीं और मुख पर गम्भीरता लाने की चेष्टा करने लगा।

द्वार फिर खुला और एक युवक अन्दर आया।

युवक--आओ भाई अमरनाथ!

अमरनाथ--कहो घनश्याम, आज अकेले कैसे बैठे हो? कानपुर से कब लौटे?

घनश्याम--कल आया था।

अमरनाथ--उन्नाव भी अवश्य ही उतरे होगे?

घनश्याम--(एक ठण्डी सांस भरकर) हां उतरा था। परन्तु व्यर्थ। वहां अब मेरा क्या रखा है?

अमरनाथ--परन्तु करो क्या? हृदय नहीं मानता है--क्यों? और सच पूछो तो बात ही ऐसी है। यदि तुम्हारे स्थान पर मैं होता तो मैं भी ऐसा ही करता।

घनश्याम--क्या कहूं मित्र, मैं तो हार गया। तुम तो जानते ही हो कि मुझे लखनऊ आकर रहे एक वर्ष हो गया और जब से यहां आया हूं उन्हें ढूंढने में कुछ भी कसर उठा नहीं रखी परन्तु सब व्यर्थ।

अमरनाथ--उन्होंने उन्नाव न जाने क्यों छोड़ दिया और कब छोड़ा--इसका भी कोई पता नहीं चलता।

घनश्याम--इसका तो पता चल गया न, कि वे लोग मेरे चले जाने के एक वर्ष पश्चात् उन्नाव से चले गये। परन्तु कहां गये, यह नहीं मालूम।

अमरनाथ--यह किससे मालूम हुआ ?

घनश्याम--उसी मकान वाले से जिसके मकान में हम लोग रहते थे।

अमरनाथ--हा शोक।

घनश्याम--कुछ नहीं, यह सब मेरे ही कर्मों का फल है। यदि मैं उन्हें छोड़कर न जाता; यदि गया था तो उनकी खोज-खबर लेता रहता। परन्तु मैं तो दक्षिण जाकर रुपया कमाने में इतना व्यस्त रहा कि कभी याद ही न आई। और जो आई भी तो क्षणमात्र के लिए। उफ, कोई भी अपने घर को भूल जाता है। मैं ही ऐसा अधम--

अमरनाथ--(बात काटकर) अजी नहीं, सब समय की बात है।

घनश्याम--मैं दक्षिण न जाता तो अच्छा था।

अमरनाथ--तुम्हारा दक्षिण जाना तो व्यर्थ नहीं हुआ। यदि न जाते तो इतना धन...।

घनश्याम--अजी चूल्हे में जाय धन। ऐसा धन किस काम का। मेरे हृदय में सुख शान्ति नहीं तो धन किस मर्ज की दवा है।

अमरनाथ--एं, यह हाथ में लाल डोरा क्यों बांधा है ?

घनश्याम--इसकी तो बात ही भूल गया। यह राखी है।

अमरनाथ--भई वाह, अच्छी राखी है। लाल डोरे को राखी बताते हो। यह किसने बांधी है। किसी बड़े कञ्जूस ब्राह्मण ने बांधी होगी। दुष्ट ने एक पैसा तक खरचना पाप समझा। डोरे ही से काम निकाला।

घनश्याम--संसार में यदि कोई बढ़िया से बढ़िया राखी बन सकती है तो मुझे उससे भी कहीं अधिक प्यारा यह लाल डोरा है।--यह कह कर घनश्याम ने उसे खोल कर बड़े यत्नपूर्वक अपने बक्स में रख लिया।

अमरनाथ--भई, तुम भी विचित्र मनुष्य हो। आखिर यह डोरा बांधा किसने है।

घनश्याम--एक बालिका ने।

पाठक समझ गये होंगे कि घनश्याम कौन है।

अमरनाथ--बालिका ने कैसे बांधा और कहां?

घनश्याम--कानपुर में।

घनश्याम ने सारी घटना कह सुनाई।

अमरनाथ--यदि यह बात है तो सत्य ही यह डोरा अमूल्य है।

घनश्याम--न जाने क्यों, उस बालिका का ध्यान मेरे मन से नहीं उतरता।

अमरनाथ--उसकी सरलता तथा प्रेम ने तुम्हारे हृदय पर प्रभाव डाला है। भला उसका नाम क्या है?

घनश्याम--नाम तो मुझे नहीं मालूम। भीतर से किसी ने उसका नाम लेकर पुकारा था। परन्तु मैं सुन न सका।

अमरनाथ--अच्छा, खैर। अब तुमने क्या करना विचारा है?

घनश्याम--धैर्य धर कर चुपचाप बैठने के अतिरिक्त और मैं कर ही क्या सकता हूं। मुझसे जो हो सका, मैं कर चुका।

अमरनाथ--हां, यही ठीक भी है। ईश्वर पर छोड़ दो! देखो क्या होता है।

(३)

पूर्वोक्त घटना हुए पांच वर्ष व्यतीत हो गये। घनश्यामदास पिछली बातें प्रायः भूल गए हैं। परन्तु उस बालिका की याद कभी कभी आ जाती

है। उसे देखने वे एक बार कानपुर गये भी थे। परन्तु उसका पता न चला। उस घर में पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह वहां से, अपनी माता सहित, बहुत दिन हुये, न जाने कहां चली गई। इसके पश्चात् ज्यों ज्यों समय बीतता गया उसका ध्यान भी कम होता गया। पर अब भी जब वे अपना बक्स खोलते हैं तब कोई वस्तु देख कर चौंक पड़ते हैं और साथ ही कोई पुराना दृश्य भी आंखों के सामने आ जाता है।

घनश्याम अभी तक अविवाहित हैं। पहले तो उन्होंने निश्चय कर लिया था कि विवाह करेंगे ही नहीं। पर मित्रों के कहने और स्वयं अपने अनुभव ने उनका यह विचार बदल दिया। अब वे विवाह करने पर तैयार हैं। परन्तु अभी तक कोई कन्या उनकी रुचि के अनुसार नहीं मिली!

जेठ का महीना है। दिन भर को जला देने वाली धूप के पश्चात् सूर्यास्त का समय अत्यन्त सुखदायी प्रतीत हो रहा है। इस समय घनश्यामदास अपनी कोठी के बाग में मित्रों सहित बैठे मन्द मन्द शीतल वायु का आनन्द ले रहे हैं। आपस में हास्यरस-पूर्ण बातें हो रही हैं। बातें करते करते एक मित्र ने कहा—अजी अभी तक अमरनाथ नहीं आये?

घनश्याम—वह मनमौजी आदमी है। कहीं रम गया होगा।

दूसरा—नहीं रम नहीं, वह आजकल तुम्हारे लिये दुलहन ढूंढ़ने की चिन्ता में रहता है।

घनश्याम—बड़े दिल्लगी-बाज हो।

दूसरा—नहीं, दिल्लगी की बात नहीं है।

तीसरा—हां, परसों मुझसे भी वह कहता था कि घनश्याम का विवाह हो जाय तो मुझे चैन पड़े।

ये बातें हो ही रही थीं कि अमरनाथ लपकते हुए आ पहुंचे।

घनश्याम--आओ यार, बड़ी उमर--अभी तुम्हारी ही याद हो रही थी।

अमरनाथ--इस समय बोलिये नहीं, नहीं एकाध को मार बैठूंगा।

दूसरा--जान पड़ता है, कहीं से पिट कर आये हो।

अमरनाथ--तू फिर बोला--क्यों?

दूसरा--क्यों, बोलना किसी के हाथ क्या बेच खाया है?

अमरनाथ--अच्छा, दिल्लगी छोड़ो। एक आवश्यक बात है।

सब उत्सुक होकर बोले--कहो कहो, क्या बात है?

अमरनाथ--(घनश्याम से) तुम्हारे लिए दुलहन ढूंढ़ ली है।

सब--(एक स्वर से) फिर क्या तुम्हारी चांदी है।

अमरनाथ--फिर वही दिल्लगी। यार तुम लोग अजीब आदमी हो।

तीसरा--अच्छा बताओ, कहां ढूंढ़ी?

अमरनाथ--यहीं, लखनऊ में।

दूसरा--लड़की का पिता क्या करता है?

अमरनाथ--पिता तो स्वर्गवास करता है।

तीसरा--यह बुरी बात है।

अमरनाथ--लड़की है और उसकी मां। बस, तीसरा कोई नहीं। विवाह में कुछ मिलेगा भी नहीं। लड़की की माता बड़ी गरीब है।

दूसरा--यह उससे भी बुरी बात है।

तीसरा--उल्लू मर गये; पट्ठे छोड़ गये। घर भी ढूंढ़ा तो गरीब। कहां हमारे घनश्याम इतने धनाढ्य और कहां ससुराल इतनी दरिद्र! लोग क्या कहेंगे?

अमरनाथ---अरे भाई, कहने और न कहने वाले हमीं तुम हैं। और यहां उनका कौन बैठा है जो कहेगा।

घनश्यामदास ने एक ठण्डी सांस ली।

तीसरा---आपने क्या भलाई देखी जो यह सम्बन्ध करना विचारा है।

अमरनाथ---लड़की की भलाई। लड़की लक्ष्मी-रूपा है। जैसी सुन्दर वैसी ही सरल। ऐसी लड़की यदि दीपक लेकर ढूंढ़ी जाय तो भी कदाचित् ही मिले।

दूसरा---हां, यह अवश्य एक बात है।

अमरनाथ---परन्तु लड़की की माता लड़का देखकर विवाह करने को कहती है।

तीसरा---यह तो व्यवहार की बात है।

घनश्याम---और, मैं भी लड़की देखकर विवाह करूंगा।

दूसरा---यह भी ठीक ही है।

अमरनाथ---तो इसके लिए क्या विचार है?

तीसरा---विचार क्या, लड़की देखेंगे।

अमरनाथ---तो कब?

घनश्याम---कल।

(४)

दूसरे दिन शाम को घनश्याम और अमरनाथ गाड़ी पर सवार होकर लड़की देखने चले। गाड़ी चक्कर खाती हुई यहियागंज की एक गली के

सामने जा खड़ी हुई। गाड़ी से उतरकर दोनों मित्र गली में घुसे। लगभग सौ कदम चलकर अमरनाथ एक छोटे से मकान के सामने खड़े हो गये और मकान का द्वार खटखटाया।

घनश्याम बोले--मकान देखने से तो बड़े गरीब जान पड़ते हैं।

अमरनाथ--हां, बात तो ऐसी ही है, परन्तु यदि लड़की तुम्हारे पसन्द आ जाय तो यह सब सहन किया जा सकता है।

इतने में द्वार खुला और दोनों भीतर गए। सन्ध्या हो जाने के कारण मकान में अंधेरा हो गया था। अतएव ये लोग द्वार खोलने वाले को स्पष्ट न देख सके।

एक दालान में पहुंचने पर ये दोनों चारपाइयों पर बिठा दिये गये और बिठाने वाली ने जो स्त्री थी, कहा--मैं जरा दिया जला लूं।

अमरनाथ--हां, जला लो।

स्त्री ने दीपक जलाया और पास ही एक दीवार पर उसे रख दिया, फिर इनकी ओर मुख करके वह नीचे चटाई पर बैठ गई। परन्तु ज्योंही उसने घनश्याम पर अपनी दृष्टि डाली--एक हृदयभेदी आह उसके मुख से निकली--और वह ज्ञानशून्य होकर गिर पड़ी।

स्त्री की ओर कुछ अंधेरा था इस कारण उन लोगों को उसका मुख स्पष्ट न दिखाई पड़ता था। घनश्याम उसे उठाने को उठे। परन्तु ज्यों ही उन्होंने उसका सिर उठाया और रोशनी उसके मुख पर पड़ी त्यों ही घनश्याम के मुख से निकला--मेरी माता--और उठ कर वे भूमि पर बैठ गए।

अमरनाथ विस्मित हो काष्ठवत् बैठे रहे। अन्त को कुछ क्षण उपरान्त

बोले--उफ ईश्वर की महिमा बड़ी विचित्र है। जिनके लिये तुमने न जाने कहां कहां की ठोकरें खाईं वे अन्त को इस प्रकार मिले।

घनश्याम अपने को सँभाल कर बोले--थोड़ा पानी मँगाओ।

अमरनाथ--किससे मँगाऊँ। यहां तो कोई और दिखाई ही नहीं पड़ता। परन्तु हां, वह लड़की तुम्हारी--कहते अमरनाथ रुक गये। फिर उन्होंने पुकारा--बिटिया, थोड़ा पानी दे जाओ।--परन्तु कोई उत्तर न मिला।

अमरनाथ ने फिर पुकारा--बेटी तुम्हारी मां अचेत हो गई हैं। थोड़ा पानी दे जाओ।

इस 'अचेत' शब्द में न जाने क्या बात थी कि तुरन्त ही घर के दूसरी ओर बरतन खड़कने का शब्द हुआ। तत्पश्चात् एक पूर्णवयस्का लड़की लोटा लिए आई। लड़की मुंह कुछ ढँके हुये थी। अमरनाथ ने पानी लेकर घनश्याम की माता की आंखें तथा मुख धो दिया। थोड़ी देर में उसे होश आया। उसने आंखें खोलते ही फिर घनश्याम को देखा। तब वह शीघ्रता से उठ कर बैठ गई और बोली--एँ, मैं क्या स्वप्न देख रही हूं? घनश्याम क्या तू मेरा खोया हुआ घनश्याम है? या कोई और?

माता ने पुत्र को उठाकर छाती से लगा लिया और अश्रुबिन्दु विसर्जन किये। परन्तु वे बिन्दु सुख के थे अथवा दुख के कौन कहे?

लड़की ने यह सब देख सुन कर अपना मुंह खोल दिया और भैया भैया कहती हुई घनश्याम से लिपट गई। घनश्याम ने देखा--लड़की कोई और नहीं, वही बालिका है जिसने पांच वर्ष पूर्व उनके राखी बांधी थी और जिसकी याद प्रायः उन्हें ,आया करती थी।

❀ ❀ ❀ ❀

श्रावण का महीना है और श्रावणी का महोत्सव। घनश्याम दास की कोठी खूब सजाई गई है। घनश्याम अपने कमरे में बैठे एक पुस्तक पढ़ रहे हैं। इतने में एक दासी ने आकर कहा––बाबू भीतर चलो।––घनश्याम भीतर गये। माता ने उन्हें एक आसन पर बिठाया और उनकी भगनी सरस्वती ने उनके तिलक लगाकर राखी बांधी। घनश्याम ने दो अशर्फियां उसके हाथ में धर दीं और मुस्कराकर बोले––क्या पैसे भी देने होंगे?

सरस्वती ने हँस कर कहा––नहीं भैया, ये अशर्फियां पैसों से अच्छी हैं। इनसे बहुत से पैसे आवेंगे।

प्रेमचन्द

(जन्म—१८८०, मृत्यु—१९३६ ई०)

प्रेमचन्द जी का जन्म जिला बनारस में हुआ था। पिता डाकखाने में क्लर्क थे। इनकी अवस्था जब ५-६ वर्ष की थी तभी माता का देहांत हो गया। १४ वर्ष की अवस्था में पिता का भी देहांत हो गया। दसवां दर्जा पास करने के बाद एक स्कूल में १८ रु० मासिक पर अध्यापक हो गए। प्राइवेट इम्तहान देकर बी० ए० पास किया। उन्नति करते करते स्कूलों के सब डिप्टी इंस्पेक्टर हो गए। कहानियां और उपन्यास पढ़ने का चाव स्कूली-जीवन से ही था! आपकी पहली कहानी १९०७ में "संसार का सबसे अनमोल रत्न" उर्दू के 'जमाना' में छपी। प्रारंभिक कहानियों में स्वदेश-प्रेम की महिमा गाई गई थी, इससे अधिकारी-वर्ग के कोपभाजन भी हुए। हिन्दी में पहली कहानी १९१६ में 'सरस्वती' में छपी। १९१९ के असहयोग आंदोलन के समय सरकारी नौकरी आपने त्याग दी। आपने २५०-३०० कहानियां और लगभग एक दर्जन उपन्यास लिखे हैं। कथा-साहित्य में युगांतर उपस्थित करने का श्रेय आपको ही है। आधुनिक हिंदी साहित्य के उन्नायकों में आपका महत्वपूर्ण स्थान है।

नशा

ईश्वरी एक बड़े जमींदार का लड़का था और मैं एक गरीब क्लर्क का, जिसके पास मेहनत-मजूरी के सिवा और कोई जायदाद न थी। हम दोनों में परस्पर बहसें होती रहती थीं। मैं जमींदारों की बुराई करता, उन्हें हिंसक, पशु और खून चूसने वाली जोंक और वृक्षों की चोटी पर फूलने वाला बंझा कहता। वह जमींदारों का पक्ष लेता; पर स्वभावतः उसका पहलू कुछ कमजोर होता था; क्योंकि उसके पास जमींदारों के अनुकूल कोई दलील न थी। यह कहना कि सभी मनुष्य बराबर नहीं होते, छोटे-बड़े हमेशा होते रहे हैं और होते रहेंगे, लचर दलील थी। किसी मानुषीय या नैतिक नियम से इस व्यवस्था का औचित्य सिद्ध करना कठिन था। मैं इस बद-विवाद की गर्मा-गर्मी में अक्सर तेज हो जाता और लगने वाली बातें कह जाता; लेकिन ईश्वरी हारकर भी मुस्कराता रहता था। मैंने उसे कभी रोते नहीं देखा। शायद इसका कारण यह था कि वह अपने पक्ष की कमजोरी को समझता था। नौकरों से वह सीधे मुंह बात न करता था। अमीरों में जो एक बेदर्दी और उद्दण्डता होती है, उसमें उसे भी प्रचुर भाग मिला था। नौकर ने बिस्तर लगाने में जरा भी देर की, दूध जरूरत से ज्यादा गरम या ठंढा हुआ, साइकिल अच्छी तरह साफ नहीं हुई, तो वह आपे से बाहर हो जाता। सुस्ती या बदतमीजी उसे जरा भी बर्दाश्त न थी; पर दोस्तों से और विशेषकर मुझसे उसका व्यवहार सौहार्द और नम्रता से भरा होता था। शायद उसकी जगह मैं होता, तो मुझमें भी वही कठोरताएँ पैदा हो जातीं, जो उसमें थीं; क्योंकि मेरा लोक-प्रेम सिद्धान्तों पर नहीं, निजी दशाओं पर टिका हुआ था, लेकिन वह मेरी जगह होकर भी शायद अमीर ही रहता; क्योंकि वह प्रकृति से ही विलासी और ऐश्वर्यप्रिय था।

नशा

अब की दशहरे की छुट्टियों में मैंने निश्चय किया कि घर न जाऊंगा। मेरे पास किराये के लिए रुपये न थे और न मैं घर वालों को तकलीफ देना चाहता था। मैं जानता हूं, वे मुझे जो कुछ देते हैं वह उनकी हैसियत से बहुत ज्यादा है। इसके साथ ही परीक्षा का भी खयाल था। अभी बहुत कुछ पढ़ना बाकी था और घर जाकर कौन पढ़ता है। बोर्डिंग हाउस में भूत की तरह अकेले पड़े रहने को भी जी न चाहता था। इसलिए जब ईश्वरी ने मुझे अपने घर चलने का नेवता दिया, तो मैं बिना आग्रह के ही राजी हो गया। ईश्वरी के साथ परीक्षा की तैयारी खूब हो जायगी। वह अमीर होकर भी मेहनती और जहीन है।

उसने इसके साथ ही कहा—लेकिन भाई, एक बात का खयाल रखना। वहां अगर जमींदारों की निन्दा की तो मुआमला बिगड़ जायगा और मेरे घर वालों को बुरा लगेगा। वह लोग तो असामियों पर इसी दावे से शासन करते हैं कि ईश्वर ने असामियों को उनकी सेवा के लिए ही पैदा किया है। असामी भी यही समझता है। अगर उसे सुझा दिया जाय कि जमींदार और असामी में कोई मौलिक भेद नहीं है, तो जमींदारों का कहीं पता न लगे।

मैंने कहा—तो क्या तुम समझते हो कि मैं वहां जाकर कुछ और हो जाऊंगा?

'हूं; मैं तो यही समझता हूँ।'

'तो तुम गलत समझते हो।'

ईश्वरी ने इसका कोई जवाब न दिया। कदाचित् उसने इस मुआमले को मेरे विवेक पर छोड़ दिया और बहुत अच्छा किया। अगर वह अपनी बात पर अड़ता तो मैं भी जिद पकड़ लेता।

(२)

सेकेण्ड क्लास तो क्या, मैंने कभी इण्टर क्लास में भी सफर न किया था। अब की सेकेण्ड क्लास में सफर करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गाड़ी तो नौ बजे रात को आती थी; पर यात्रा के हर्ष में हम शाम को ही स्टेशन जा पहुंचे। कुछ देर इधर-उधर सैर करने के बाद रिफ्रेशमेंट-रूम में जा कर हम लोगों ने भोजन किया। मेरी वेश-भूषा और रंग-ढंग से पारखी खानसामाओं को यह पहचानने में देर न लगी, कि मालिक कौन है और पिछ-लग्गू कौन; लेकिन न जाने क्यों मुझे उनकी गुस्ताखी बुरी लग रही थी। पैसे ईश्वरी के जेब से गये। शायद मेरे पिता को जो वेतन मिलता है, उससे ज्यादा इन खानसामाओं को इनाम-इकराम में मिल जाता हो। एक अठन्नी तो चलते समय ईश्वरी ने ही दी। फिर भी मैं उन सभों से उसी तत्परता और विनय की प्रतीक्षा करता था, जिससे वे ईश्वरी की सेवा कर रहे थे! क्यों ईश्वरी के हुक्म पर सब-के-सब दौड़ते हैं; लेकिन मैं चीज मांगता हूं तो उतना उत्साह नहीं दिखाते, मुझे भोजन में कुछ स्वाद न मिला। यह भेद मेरे ध्यान को सम्पूर्ण रूप से अपनी ओर खींचे हुए था।

गाड़ी आई, हम दोनों सवार हुए, खानसामाओं ने ईश्वरी को सलाम किया। मेरी ओर देखा भी नहीं।

ईश्वरी ने कहा--कितने तमीजदार हैं ये सब। एक हमारे नौकर हैं कि कोई काम करने का ढंग नहीं।

मैंने खट्टे मन से कहा--इसी तरह अगर तुम अपने नौकरों को भी आठ आने रोज इनाम दिया करो तो शायद इससे ज्यादा तमीजदार हो जायें।

'तो क्या तुम समझते हो यह सब केवल इनाम के लालच से इतना अदब करते हैं ?'

'जी नहीं, कदापि नहीं, तमीज और अदब तो इनके रक्त में मिल गया है।'

गाड़ी चली। डाक थी। प्रयाग से चली तो परतापगढ़ जाकर रुकी। एक आदमी ने हमारा कमरा खोला। मैं तुरन्त चिल्ला उठा--दूसरा दरजा है--सेकेण्ड क्लास है।

उस मुसाफिर ने डब्बे के अन्दर आकर मेरी ओर एक विचित्र उपेक्षा की दृष्टि से देखकर कहा--जी हां, सेवक भी इतना समझता है।--और बीच वाले बर्थ पर बैठ गया। मुझे कितनी लज्जा आई, कह नहीं सकता। भोर होते-होते हम लोग मुरादाबाद पहुंचे। स्टेशन पर कई आदमी हमारा स्वागत करने के लिए खड़े थे। दो भद्र पुरुष थे। पांच बेगार। बेगारों ने हमारा लगेज उठाया। दोनों भद्र पुरुष पीछे-पीछे चले। एक मुसलमान था, रियासतअली; दूसरा ब्राह्मण था, रामहरख दोनों ने मेरी ओर अपरिचित नेत्रों से देखा, मानों कह रहे हों, तुम कौवे होकर हंस के साथ कैसे?

रियासतअली ने ईश्वरी से पूछा--यह बाबू साहब क्या आपके साथ पढ़ते हैं ?

ईश्वरी ने जवाब दिया--हां, साथ पढ़ते भी हैं, और साथ रहते भी हैं। यों कहिए कि आप ही की बदौलत मैं इलाहाबाद में पड़ा हुआ हूं, नहीं कब का लखनऊ चला आया होता। अब की मैं इन्हें घसीट लाया। इनके घर से कई तार आ चुके थे; मगर मैंने इन्कारी जवाब दिलवा दिये। आखिरी तार अर्जेण्ट था, जिसकी फीस चार आने प्रति शब्द है; पर यहां से भी उसका जवाब इन्कारी ही गया।

दोनों सज्जनों ने मेरी ओर चकित नेत्रों से देखा। आतंकित हो जाने की चेष्टा करते हुए जान पड़े।

रियासतअली ने अर्द्धशंका के स्वर में कहा—लेकिन आप बड़े सादे लिबास में रहते हैं।

ईश्वरी ने शंका निवारण की—महात्मा गांधी के भक्त हैं साहब! खद्दर के सिवा कुछ पहनते ही नहीं। पुराने सारे कपड़े जला डाले। यों कहो कि राजा हैं। ढाई लाख सालाना की रियासत है; पर आपकी सूरत देखो तो मालूम होता है, अभी अनाथालय से पकड़ कर आये।

रामहरख बोले—अमीरों का ऐसा स्वभाव बहुत कम देखने में आता है। कोई भांप ही नहीं सकता।

रियासतअली ने समर्थन किया—आपने महाराजा चांगली को देखा होता, तो दांतों उँगली दबाते। एक गाढ़े की मिर्जई और चमरौधे जूते पहने बाजारों में घूमा करते थे। सुनते हैं, एक बार बेगार में पकड़े गये थे और उन्हीं ने दस लाख से कालेज खोल दिया।

मैं मन में कटा जा रहा था; पर न जाने क्या बात थी कि यह सफेद झूठ उस वक्त मुझे हास्यास्पद न जान पड़ा। उसके प्रत्येक वाक्य के साथ मानों मैं उस कल्पित वैभव के समीपतर आता जाता था।

मैं शहसवार नहीं हूँ। हां, लड़कपन में कई बार लद्दू घोड़ों पर सवार हुआ हूँ। यहां देखा तो दो कलां-रास घोड़े हमारे लिए तैयार खड़े थे। मेरी तो जान ही निकल गई। सवार तो हुआ; पर बोटियां कांप रही थीं, मैंने चेहरे पर शिकन न पड़ने दिया। घोड़े को ईश्वरी के पीछे डाल दिया। खैरियत यह हुई कि ईश्वरी ने घोड़े को तेज न

किया, वरना शायद हाथ-पांव तुड़वाकर लौटता। सम्भव है, ईश्वरी ने समझ लिया हो कि यह कितने पानी में है।

(३)

ईश्वरी का घर क्या था, किला था। इमामबाड़े का-सा फाटक, द्वार पर पहरेदार टहलता हुआ, नौकरों का कोई हिसाब नहीं, एक हाथी बंधा हुआ। ईश्वरी ने अपने पिता, चाचा, ताऊ आदि सबसे मेरा परिचय कराया और उसी अतिशयोक्ति के साथ। ऐसी हवा बांधी कि कुछ न पूछिए। नौकर-चाकर ही नहीं, घर के लोग भी मेरा सम्मान करने लगे, देहात के जमींदार लाखों का मुनाफा; मगर पुलिस कान्स्टेबिल को भी अफसर समझने वाले। कई महाशय तो मुझे हुजूर-हुजूर कहने लगे।

जब जरा एकान्त हुआ, तो मैंने ईश्वरी से कहा—तुम बड़े शैतान हो यार, मेरी मिट्टी क्यों पलीद कर रहे हो।

ईश्वरी ने सुदृढ़ मुस्कान के साथ कहा—इन गधों के सामने यही चाल जरूरी थी; वरना सीधे मुंह बोलते भी नहीं।

जरा देर बाद एक नाई हमारे पांव दबाने आया। कुंवर लोग स्टेशन से आये हैं, थक गये होंगे। ईश्वरी ने मेरी ओर इशारा करके कहा—पहले कुंवर साहब के पांव दबा।

मैं चारपाई पर लेटा हुआ था। जीवन में ऐसा शायद ही कभी हुआ हो कि किसी ने मेरे पांव दबाए हों। मैं इसे अमीरों के चोंचले, रईसों का गधापन और बड़े आदमियों की मुटमरदी और जाने क्या-क्या कहकर ईश्वरी का परिहास किया करता और आज मैं पोतड़ों का रईस बनने का स्वांग भर रहा था।

इतने में दस बज गये। पुरानी सभ्यता के लोग थे। नई रोशनी अभी केवल पहाड़ की चोटी तक पहुंच पाई थी। अन्दर से भोजन का बुलावा आया। हम स्नान करने चले, मैं हमेशा अपनी धोती खुद छांट लिया करता हूं; मगर यहां मैंने ईश्वरी की ही भांति अपनी धोती भी छोड़ दी। अपने हाथों अपनी धोती छांटते बड़ी शर्म आ रही थी। अन्दर भोजन करने चले। होस्टल में जूते पहने मेज पर जा डटते थे। यहां पांव धोना आवश्यक था। कहार पानी लिए खड़ा था। ईश्वरी ने पांव बढ़ा दिए। कहार ने उसके पांव धोए। मैंने भी पांव बढ़ा दिये। कहार ने मेरे पांव भी धोए। मेरा वह विचार न जाने कहां चला गया था।

(४)

सोचा था वहां देहात में एकाग्र होकर खूब पढ़ेंगे; पर यहां सारा दिन सैर सपाटे में कट जाता था। कहीं नदी में बजरे पर सैर कर रहे हैं। कहीं मछलियों या चिड़ियों का शिकार खेल रहे हैं, कहीं पहलवानों की कुश्ती देख रहे हैं, कहीं शतरंज पर जमे हैं। ईश्वरी खूब अण्डे मँगवाता और कमरे में 'स्टोव' पर आमलेट बनते। नौकरों का एक जत्था हमेशा घेरे रहता। अपने हाथ-पांव को हिलाने की कोई जरूरत नहीं, केवल जबान हिला देना काफी है। नहाने बैठे तो आदमी नहलाने को हाजिर, लेटे तो दो आदमी पंखा झलने को खड़े। मैं महात्मा गांधी का कुंवर चेला मशहूर था। भीतर से बाहर तक मेरी धाक थी। नाश्ते में जरा भी देर न होने पाये, कहीं कुंवर साहब नाराज न हो जायें, बिछावन ठीक समय पर लग जाय, कुंवर साहब के सोने का समय आ गया। मैं ईश्वरी से भी ज्यादा नाजुक दिमाग बन गया था, या बनने पर मजबूर किया गया था। ईश्वरी अपने हाथ

से बिस्तर बिछा ले, लेकिन कुंवर मेहमान अपने हाथों कैसे अपना बिछा-वन बिछा सकते । उनकी महानता में बट्टा लग जायगा ।

एक दिन सचमुच यही बात हो गई। ईश्वरी घर में थे, शायद अपनी माता से कुछ बात-चीत करने में देर हो गई। यहां दस बज गये। मेरी आंखें नींद से झपक रही थीं। मगर बिस्तर कैसे लगाऊं? कुंवर जो ठहरा। कोई साढ़े ग्यारह बजे महरा आया। बड़ा मुंह-लगा नौकर था। घर के धंधों में मेरा बिस्तर लगाने की उसे सुधि ही न रही। अब जो याद आई, तो भागा हुआ आया। मैंने ऐसी डॉंट बताई कि उसने भी याद किया होगा।

ईश्वरी मेरी डांट सुनकर बाहर निकल आया और बोला--तुमने बहुत अच्छा किया। यह सब हरामखोर इसी व्यवहार के योग्य हैं।

इसी तरह ईश्वरी एक दिन एक जगह दावत में गया हुआ था। शाम हो गई मगर लैम्प न जला, लैम्प मेज पर रक्खा था। दियासलाई भी वहीं थी, लेकिन ईश्वरी खुद कभी लैम्प नहीं जलाता। फिर कुंअर साहब कैसे जलायें? मैं झुंझला रहा था। समाचार-पत्र आया रक्खा हुआ था। जी उधर लगा हुआ था, पर लैम्प नदारद। दैवयोग से उसी वक्त मुन्शी रियासतअली आ निकले। मैं उन्हीं पर उबल पड़ा। ऐसी फटकार बताई कि बेचारा उल्लू हो गया--तुम लोगों को इतनी फिक्र भी नहीं कि लैम्प तो जलवा दो! मालूम नहीं, ऐसे कामचोर आदमियों का यहां कैसे गुजर होता है? मेरे यहां घंटे भर निर्वाह न हो। रियासतअली ने कांपते हुए हाथों से लैम्प जला दिया।

वहां एक ठाकुर अक्सर आया करता था। कुछ मनचला आदमी था, महात्मा गांधी का परम भक्त। मुझे महात्मा जी का चेला समझ-कर मेरा बड़ा लिहाज करता था; पर मुझसे कुछ पूछते संकोच करता

था। एक दिन मुझे अकेला देखकर आया और हाथ बांधकर बोला—सरकार तो गांधी बाबा के चेले हैं न? लोग कहते हैं कि यहां सुराज हो जायगा तो जमींदार न रहेंगे।

मैंने शान जमाई। जमींदारों के रहने की जरूरत ही क्या है? ये लोग गरीबों का खून चूसने के सिवा और क्या करते हैं?

ठाकुर ने फिर पूछा—तो क्यों सरकार, सब जमींदारों की जमीन छिन जायगी?

मैंनें कहा—बहुत से लोग तो खुशी से दे देंगे। जो लोग खुशी से न देंगे उनकी जमीन छीननी ही पड़ेगी। हम लोग तो तैयार बैठे हुए हैं। ज्यों ही स्वराज्य हुआ, अपनें सारे इलाके असामियों के नाम हिबा कर देंगे।

मैं कुर्सी पर पांव लटकाये बैठा था। ठाकुर मेरे पांव दबाने लगा, फिर बोला—आजकल जमींदार लोग बड़ा जुलुम करते हैं सरकार! हमें भी हजूर अपने इलाके में थोड़ी सी जमीन दे दें, तो चलकर वहीं आपकी सेवा में रहें।

मैंने कहा—अभी तो मेरा कोई अख्तियार नहीं है भाई, लेकिन ज्योंही अख्तियार मिला, मैं सब से पहले तुम्हें बुलाऊँगा। तुम्हें मोटर ड्राइवरी सिखा कर अपना ड्राइवर बना लूंगा।

सुना, उस दिन ठाकुर ने खूब भंग पी और अपनी स्त्री को खूब पीटा और गांव के महाजन से लड़ने पर तैयार हो गया।

(५)

छुट्टी इस तरह समाप्त हुई और हम फिर प्रयाग चले। गांव के बहुत से लोग हम लोगों को पहुँचाने आये। ठाकुर तो हमारे

साथ स्टेशन तक आया। मैंने भी अपना पार्ट खूब सफाई से खेला और अपनी कुबेरोचित विनय और देवत्व की मुहर हरेक हृदय पर लगा दी। जी तो चाहता था हरेक नौकर को अच्छा इनाम दूं; लेकिन वह सामर्थ्य कहां थी? वापसी टिकट था ही, केवल गाड़ी में बैठना था! पर गाड़ी आई तो ठसाठस भरी हुई। दुर्गापूजा की छुट्टियां भोग कर सभी लौट रहे थे। सेकेण्ड क्लास में तिल रखने की जगह नहीं। इण्टर क्लास की हालत उससे भी बदतर। यह आखिरी गाड़ी थी। किसी तरह रुक न सकते थे। बड़ी मुश्किल से तीसरे दरजे में जगह मिली। हमारे ऐश्वर्य ने वहां अपना रंग जमा लिया; मगर मुझे उसमें बैठना बुरा लग रहा था। आये थे आराम से लेटे-लेटे, जा रहे थे सिकुड़े हुए। पहलू बदलने की भी जगह न थी।

कई आदमी पढ़े-लिखे भी थे। आपस में अंगरेजी राज्य की तारीफ़ करते जा रहे थे। एक महाशय बोले–ऐसा न्याय तो किसी राज्य में नहीं देखा। छोटे-बड़े सब बराबर। राजा भी किसी पर अन्याय करे, तो अदालत उसकी भी गर्दन दबा देती है।

दूसरे सज्जन ने समर्थन किया––अरे साहब, आप खुद बादशाह पर दावा कर सकते हैं। अदालत में बादशाह पर भी डिग्री हो जाती है।

एक आदमी, जिसकी पीठ पर बड़ा सा गट्ठर बँधा था, कलकत्ते जा रहा था। कहीं गठरी रखने की जगह न मिलती थी। पीठ पर बांधे हुए था। इससे बेचैन होकर बार-बार द्वार पर खड़ा हो जाता। मैं द्वार के पास ही बैठा हुआ था। उसका बार-बार आकर मेरे मुंह को अपनी गठरी से रगड़ना मुझे बहुत बुरा लग रहा था। एक तो हवा ही कम थी, दूसरे उस गँवार का आकर मेरे मुंह पर खड़ा हो जाना मानों मेरा गला दबाना था। मैं कुछ देर तक जब्त किये बैठा रहा। एका-

एक मुझे क्रोध आ गया। मैंने उसे पकड़ कर पीछे ढकेल दिया और तमाचे जोर-जोर से लगाये।

उसने आंखें निकाल कर कहा—क्यों मारते हो बाबू जी, हमने भी किराया दिया है।

मैंने उठ कर दो तीन तमाचे और जड़ दिये।

गाड़ी में तूफान आ गया। चारों ओर से मुझ पर बौछार पड़ने लगी।

'अगर इतने नाजुक मिजाज हो, तो अव्वल दर्जे में क्यों नहीं बैठे ?'

'कोई बड़ा आदमी होगा तो अपने घर का होगा, मुझे इस तरह मारते, तो दिखा देता।'

'क्या कसूर किया था बेचारे ने। गाड़ी में सांस लेने की जगह नहीं, खिड़की पर जरा सांस लेने खड़ा हो गया तो उस पर इतना क्रोध! अमीर होकर क्या आदमी अपनी इन्सानियत बिलकुल खो देता है ?'

'यह भी अंग्रेजी राज है, जिसका आप बखान कर रहे थे।'

एक ग्रामीण बोला—दफतरन मां घुसन तो पावत नहीं, उस पर इत्ता मिजाज !

ईश्वरी ने अंग्रेजी में कहा—What an idiot you are, *sir*!

और मेरा नशा अब कुछ-कुछ उतरता हुआ मालूम होता था।

राय कृष्णदास

(जन्म १८९२ ई०)

आपका जन्म काशी के भारत-प्रसिद्ध राय-खान्दान में हुआ है। आपके पिता राय प्रहलाददास जी महोदय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के फुफेरे भाई थे। वे बहुत बड़े विद्या-व्यसनी एवं कलामर्मज्ञ थे। अतः इस विषय में पिता की सजीव छाप राय कृष्णदास जी पर पड़ी है। अंग्रेजी और संस्कृत की शिक्षा पिता के संरक्षण में घर पर ही मिली, यद्यपि उनके शीघ्र गोलोकवासी होने के कारण उसे आपको अपनी ही रुचि से पूरी करना पड़ा। भारतेन्दु जी के परिवार से रक्त का सम्बन्ध होने के कारण हिन्दी-प्रेम आपकी नस-नस में व्याप्त था। आप बाल्यकाल से ही लिखने में रुचि रखते एवं साहित्यिक मनोषियों के संसर्ग में रहते थे। आपके अन्तरंग मित्रों में स्वर्गीय जयशंकरप्रसाद जी एवं श्री मैथिलीशरण जी गुप्त उल्लेखनीय हैं। आचार्य द्विवेदी जी की आप पर अनन्य कृपा थी। आपने साहित्य के विविध अंगों की बड़ी मौलिक सेवा की है। आप उत्कृष्ट गद्य-काव्य-लेखक एवं कविता, कथोपकथन, कहानी तथा निबन्ध के उच्चकोटि के स्रष्टा माने जाते हैं। भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला के विशिष्ट मर्मज्ञों में आपकी गणना होती है। पुरातत्व के भी आप अच्छे जानकार हैं। आपने अपने अमूल्य प्राचीन चित्रों का संग्रह 'भारत-कला-भवन' नागरी-प्रचारिणी सभा काशी को देकर भारतीय इतिहास का एक गौरवमय पृष्ठ जन-साधारण के लिये सुलभ कर दिया है।

रमणी का रहस्य

लड़कपन में वणिक्-पुत्र सुना करता कि सात समुद्र, नव द्वीप के पार एक स्फटिकमय भूमि है। वहां एक तपस्वी क्या जाने कब से अविराम तप कर रहा है और उसकी पवित्रता के कारण सूर्यनारायण निरन्तर उसकी परिक्रमा किया करते हैं और उसके तेज से वहां कभी अंधकार नहीं होता।

उस यती के एक कन्या है—वही इस संसार में उसकी एकमात्र कुटुम्बी है। वह कन्या प्रभात-बेला के ऐसी टटकी और कमनीय है तथा स्वाती की बूंद की तरह निर्मल, शीतल और दुर्लभ है।

उन दिनों वह सोचता कि मैं ऐसी अच्छी सखी पाऊँ तो दिन-का-दिन उसके संग खेलता-कूदता रहूँ, ऊधम मचाता रहूँ। अपने प्रत्येक खेल-कूद में वह उसका स्थान नियत कर लेता और कल्पना से उसकी पूर्त्ति कर लेता।

किन्तु, धीरे-धीरे कल्पना-पूर्ण लड़कपन यथार्थता खोजने वाली युवावस्था में परिवर्तित हो गया और वणिक्-पुत्र के लिये जो बातें सच थीं, अब लड़कपन का खिलवाड़ हो गईं। और उसे उस कुमारी को वस्तुतः प्राप्त कर के अपनी जीवन-सहचरी बना कर युवावस्था का अधूरापन दूर करने की चिन्ता दिन-रात सताने लगी।

धीरे-धीरे अनेक नगरों से उसके ब्याह की बातचीत आने लगी; किन्तु ब्याह का नाम सुनते ही उसका मुंह लटक जाता। उसकी यह दशा देख उसके पिता ने एक दिन पूछा—हे वत्स! क्या कारण है कि विवाह का नाम सुनकर तुम अवसन्न हो जाते हो?

तब उस वणिक्-पुत्र ने अपना तात्पर्य छिपाकर नम्रता-पूर्वक पिता से कहा—तात ! वैश्यकुल में मेरा जन्म हुआ है अतः वाणिज्य मेरा धर्म है। सो मेरी इच्छा है कि अपने बाहुबल से कुछ अर्जन कर लूं तब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करूँ; क्योंकि स्वार्जित वित्त के व्यय और उपभोग से मेरा आनन्द, उत्साह और हृदय द्विगुण हो उठेगा।

'पुत्र ! तुमने बहुत उचित सोचा है और यद्यपि मेरा हृदय तुम्हें छोड़ना नहीं चाहता और तुम्हारे वियोग से तुम्हारी माता की वृद्धावस्था भार-रूप हो जायगी, तो भी तुमने स्वधर्म की बात विचारी है, अतः मैं तुम्हें नहीं रोकूंगा। कल ही मैं तुम्हारे लिये सात पोत लदवाए देता हूँ, तुम उन्हें लेकर अपने परिकर-समेत देश-देशांतर भ्रमण कर के यथेष्ट व्यापार और उपार्जन करो।'

आज्ञा पाकर उसके आनन्द का वारापार न रहा और रात-दिन परिश्रम कर के सात दिन में वह अपनी यात्रा के लिये पूर्णतः तैयार हो गया।

आठवें दिन प्रातःकाल वह अपने माता-पिता से विदा हुआ। उस समय उनकी आंखों में आंसू भर जाने से उनकी दृष्टि धुंधली पड़ रही थी, अतः वे अपनी सन्तान को ठीक-ठीक देख भी न सके। यद्यपि वणिक्-पुत्र को उनका वियोग सहज न था तो भी नये देशों के देखने का उत्साह और अपनी कल्पना की प्रेयसी के मिलने की प्रत्याशा से उसका हृदय आनन्द से फड़क रहा था।

शीघ्र ही वह अपने जहाज पर बैठा और उसका, सातों जहाजों का, बेड़ा, अनुकूल पवन पाता हुआ द्वीप-पर-द्वीप तय करता गया।

प्रत्येक द्वीप में व्यापार करते-करते उसने स्वर्ण की बड़ी भारी राशि बटोर ली थी और यों तीन वर्ष बीतने पर जब वह स्कन्ध नाम देश

में पहुंचा, जहां के लोग भालू और सामुद्रिक सिंह की खाल पहनते हैं, तो उसने बड़ा उत्सव मनाया, क्योंकि उसे अनेक देश देखने का तथा अर्थ के लाभ का आनन्द तो दिखाने-मात्र को था; उसको प्रसन्नता तो इस बात की थी कि वह अपने लक्ष्य स्थान के पास पहुँच गया था, क्योंकि यहां से वह स्फटिक द्वीप केवल एक मास की दूरी पर था।

तब वणिक्-पुत्र ने अपने छः जलयानों को और समस्त साथियों को वहीं छोड़ा और अकेला एक पोत पर अपने अभीष्ट स्थान की ओर चल पड़ा। उसके साथी न तो उसे रोकने में ही कृतकार्य हुए, न उसका यह उद्देश्य जानने में ही।

दो दिन में उसका जहाज उस समुद्र में पहुँच गया जो ठीक शरद् के आकाश की नाईं है, क्योंकि वह वैसा ही प्रशस्त है, वैसा ही निर्मल है और वैसा ही नील है, साथ ही जैसे इसमें शुभ्र घन घूमा करते हैं वैसे ही उसमें बड़े-बड़े बरफ के पहाड़ तैर रहे थे। उन्हें देख कर मांझियों के छक्के छूट गये, किन्तु वणिक्-पुत्र में ऐसी दृढ़ता आ गई थी कि उसने उन लोगों को पूरा धीरज बँधा दिया और स्वयं जहाज का मार्ग निर्दिष्ट करने लगा। सचमुच ही उसके निश्चय को उन विशालकाय हिमपर्वतों ने मार्ग देना आरम्भ किया और अपनी यात्रा के महीनवें दिन वह जहाज स्फटिक द्वीप के किनारे जा लगा।

अब वणिक्-पुत्र ने उन मांझियों से भी पिंड छुड़ाया और अकेला उस द्वीप पर एक ओर चल पड़ा। वास्तव में वह द्वीप भी बरफ का ही था, और वह कुछ दूर भी न गया होगा कि मारे शीत के उसके पैर निष्प्राण-से हो उठे, किन्तु उसका साहस उसे घसीट ले चला और उसे एक झुन्ड ऐसे पक्षियों का आता दिखलाई पड़ा जो करीब-करीब मनुष्य ही के इतने ऊंचे थे और झूमते हुए मोटे मनुष्य की तरह चल भी रहे थे!

उनके सम्पूर्ण शरीर रोएँदार पर से ढँके हुए थे और अपनी भाषा में कुछ कहते हुए वे उसी की ओर बढ़े आ रहे थे।

वणिक्-पुत्र उनका कोलाहल तो न समझ सका, किन्तु इतना जान गया कि वे उसकी सहायता के लिये आ रहे हैं। अतएव वह वहीं ठहर गया। कुछ क्षणों में वे उसके निकट आ गये और उसे चारों ओर से इस तरह घेर लिया कि उनकी गर्मी से शीघ्र ही वह स्वस्थ हो गया। फिर तो पक्षियों का वह झुन्ड, उसके साथ हो लिया और उसे बड़े सुख से मार्ग दिखाता हुआ उस तापस के आश्रम की ओर ले चला।

वह झुन्ड उसे गर्मी पहुँचाता था—जब बरफ पड़ने लगती थी तब अपने डैनों की आड़ में ले लेता था और रात्रि में अपने डैनों का ओढ़ना-बिछौना बना कर उसे सुख की नींद सुलाता था इतना ही नहीं; अपने में साहुत कर के प्रति सातवें दिन उनमें से एक अपना प्राण दे देता था जिससे एक सप्ताह तक वणिक्-पुत्र का उदर-पोषण होता था।

इस प्रकार इक्कीसवें दिन उसे तापस का आश्रम दिखलाई दिया। ज्यों-ज्यों वह उसके निकट पहुँचने लगा त्यों-त्यों उसकी विचित्र दशा होती गई—उसके मन, प्राण और शरीर में एक ऐसा जबर्दस्त तूफान उठ खड़ा हुआ कि उसमें उसका आपा सर्वथा विलीन हुआ जा रहा था। यह अवस्था यहां तक बढ़ी कि उस आश्रम में पहुँचते ही ज्यों उस मुनि-कन्या पर उसकी दृष्टि पड़ी वह पत्थर का हो उठा और मुनि-कन्या; जो ललक कर उसके स्वागतार्थ बढ़ी थी यह दशा देख कर एक चीख मार के बेहोश हो गई।

उसका आरव सुन कर तपस्वी अपने एकान्त से उठ आया। उसने अपने तपोबल से वैश्य-कुमार को पुनरुज्जीवित किया फिर परिचर्या-द्वारा अपनी कन्या की मूर्छा भी दूर की। वैश्य-कुमार उस समय एक

अद्भुत आनन्द के समुद्र में डूब-उतरा रहा था क्योंकि उसने मुनि-कन्या को अपने हृदय में जो कल्पना की थी वह इसके सामने कोई चीज ही न थी। यह तो आशा के समान लावण्यवती थी और जब उसने पहिले-पहिल प्रश्न किया--तुम्हें क्या हो गया था?--तब उसे ऐसा जान पड़ा कि वीणा का स्वर इस कण्ठ को छूछी विडम्बना-मात्र है।

कुछ ही क्षणों में तापस अपने एकान्त में चला गया और वे दोनों ऐसे घुल-मिल गये मानों जन्म-जन्म के संगी हों एवं विविध वार्त्तालाप करने लगे। इस प्रकार जब तीन प्रहर बीत गये तब वह मुनि पुनः वहां आया और वणिक्-पुत्र से कहने लगा--

वत्स, मैंने जान लिया कि इस कुमारी का जन्म तुम्हारे लिये ही हुआ है सो इसे ग्रहण करो, मैं इसे तुमको दूंगा। यद्यपि देवता तक इसकी आकांक्षा कर रहे हैं किन्तु मैंने उनसे स्पष्ट कह दिया है कि यह मर्त्यबाला है और मर्त्य से ही इसका सम्बन्ध शोभन होगा। परन्तु मेरी प्रतिज्ञा थी कि जो मर्त्य यहां तक पहुँच सकेगा वही इसका अधिकारी होगा, सो आज तुम यहां आ गये! अब शुभ-लग्न में मैं इसे तुमको दे दूंगा। चौबीस प्रहर तुम हमारा आतिथ्य स्वीकार करो उसके बाद वह मुहूर्त्त आवेगा।

इतना कह कर वह तो चला गया और मुनि-कन्या, जो सिर नीचा किये हुए थी, उसी मुद्रा से उससे बोली--मेरी भी एक प्रतिज्ञा है, उसे तुम समझ लो, क्योंकि बिना उसके पूरा हुए तुम मुझे न पा सकोगे।

वणिक्-पुत्र कहने लगा--चारुहासिनी! वह कौन ऐसी बात है जो मैं तुम्हारे लिये न कर सकूंगा! तुम उसके कहने में संकोच न करो, बस शीघ्र ही मुझे अपनी प्रतिज्ञा सुनाओ, क्योंकि मैं अधीर हो रहा हूँ।

तब वणिक्-पुत्र को अपनी चितवन की इन्दीवर माला पहिनाते हुए उसने दृढ़ता से कहा—जो यहां बसने की प्रतिज्ञा करेगा वही मुझे पा सकेगा, अन्यथा मैं विवाह न करूँगी। क्योंकि पिता को अकेला छोड़कर मैं नहीं जी सकती; कौन उनकी देख-रेख करेगा। पिता से अनुनय कर के उन्हें उनके निश्चय से विरत करूँगी और आजन्म कुमारी रहने की अनुज्ञा प्राप्त करूँगी।

वैश्य-पुत्र ने समझा था कि कुमारी कोई बड़ी बेंड़ी समस्या उपस्थित करेगी, किन्तु उसकी बात सुनकर उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ, क्योंकि उसे तो अपने देश की कोई सुध ही न रह गई थी—वह तो कुमारीमय हो रहा था।

अविलम्ब ही वह बोला—यह कौन बड़ी बात है—रम्य प्रेमा न जन्मभूः। भला इससे बढ़कर कौन देश होगा जहां सूर्य कभी अस्त ही नहीं होता और तुम्हारा पूर्ण चन्द्रानन नित्य उदित रहता है।

यह सुनकर कुमारी ने अपनी मुसकान का जादू उस पर फेर दिया।

बात करते चौबीस पहर बीत गये, क्योंकि वहां कभी सूर्यास्त न होने के कारण समय की गणना पहरों से ही होती थी और वह शुभ घड़ी आ पहुँची जिसकी अभिलाषा वणिक्-पुत्र को जन्म से ही थी। योगी को मुक्ति से जो आनन्द होता है, उसका उसे अनुभव-सा हो उठा और विवाह-कृत्य पूर्ण करके यती जब अपनी साधना में प्रवृत्त हुआ तब दम्पत्ति हाथ में हाथ दिये हुए बरफ के मैदान में टहलने के लिए निकल पड़े। उस समय वैश्य-पुत्र को ऐसा प्रतीत हुआ कि वह अपनी शची को लिए हुए नन्दन-कानन-बिहारी इन्द्र है। प्रेमालाप करते हुए दोनों आगे बढ़े। वणिक्-पुत्र

का मुंह दिव्य तेज से दमक रहा था, उसने कहा—सखि! मैं यहाँ बरफ काटकर तुम्हारे लिये एक ऐसी गुफा बनाऊँगा कि तुम्हें उसमें शीत का लेश-मात्र कष्ट न होगा।

किन्तु नवपरिणीता ने इसका कोई उत्तर न दिया। वह क्षितिज को एक टक देख रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि उसकी दृष्टि उस पटल को बेध कर उसके पार के दृश्य देखने में निमग्न है।

कौतूहल से उसकी यह तन्मयता भंग करते हुए वैश्य-पुत्र ने पूछा—किस ध्यान में हो?

'कुछ नहीं, सोच रही थी कि तुम्हारा देश कैसा होगा!'

क्यों?—पति ने उत्सुकता से पूछा।

इसीलिये कि वह तुम्हारा देश है।—उसकी ममता ने उत्तर दिया।

सहसा आर्य-कुमार को जन्मभूमि की याद आ गई। माता-पिता की विकलता उसका हृदय सालने लगी। तो भी वह बड़ी कठिनता से अपने भावों को सफलतापूर्वक दबाए रहा। किन्तु उसकी अर्धांगिनी उन भावों का स्वतःअनुभव कर रही थी। जी से बोली—उत्कट इच्छा होती है वहां चलने की।—किन्तु साथ ही उसने बेबसी से—नहीं अपने पिता की प्रीति में पगकर, कहा—ऐसा कहां संभव है!

पति पुलक उठा। उसने अपनी प्रेयसी को चूम लिया। यह चुम्बन उस तापस-कन्या के जीवन में प्रणय का प्रथम चुम्बन था। वह अपने को सँभाल न सकी। उसका शरीर सनसना उठा, आंखें मुंद गई किन्तु एक ही क्षण में उसकी अकृत्रिम, सरल, नरनारी भेद विहीन उन्मुक्त प्रकृति जहां की तहां आ गई और उसने कहा—चलो, विवाह-मण्डप ज्यों का त्यों पड़ा है। उसका परिष्कार करना है।

दोनों लौट पड़े।

❀ ❀ ❀ ❀

दो-तीन पहर बाद तापस अपनी साधना से विरत हुआ। नवदम्पति कहीं एकान्त में बैठे प्रेमालाप कर रहे थे। उसने उन्हें आवाज दी और वे उस ओर चले, किन्तु पत्नी सकुच रही थी।

इस जोड़ी को देख कर उसके निराकुल हृदय में भी सांसारिकता की एक लहर आ गई जिसके कारण उसकी प्रशान्त दृष्टि हर्ष से चमकने लगी। प्रसन्नता का एक उच्छ्वास लेकर उसने जामाता से कहा---धनी! मेरी साधना में आज तक तेरी इस थाती की चिन्ता बाधक थी। आज उसे तुझको सौंप कर मैं पूर्णतः निर्मम हो गया। अब तुमको अपने देश जाना चाहिये।

मुनि-कन्या पति के पीछे आंखें नीची किये खड़ी थी। यह सुन कर उसका हृदय सिहर उठा। उसने कुछ कहना चाहा। पिता से आज तक उसे जो कहना हुआ था उसने निधड़क कहा था, किन्तु इस समय उसका हृदय धड़कने लगा, लाज ने उसका कण्ठ थाम लिया।

वैश्य-कुमार ने संभ्रम से पूछा—यहां आपकी सेवा.......?

तपस्या और सेवा---ये दो विरुद्ध बातें हैं। तपस्वी को सेवा की क्या आवश्यकता! इसके यहां रहने पर मैं इससे परिचारित होता था, इसके ममत्व से सिंचित होता था, इसलिये नहीं कि मुझे उनकी आवश्यकता थी। नारी जगज्जननी है उनका हृदय दया-मया, करुणा से निर्मित होता है। वहां से इनकी निरन्तर वृष्टि हुआ करती है, जो इस धधकते हुये जगती-तल को शीतल और हरा भरा बनाये रहती है। उसी वृष्टि को इनके स्वभाव को---इसी दिन के लिये बनाये रखना मेरा कर्त्तव्य था। आज उसके उपयोग का समय आ गया है। अब अपने

गृहक्षेत्र को उस दृष्टि से यह सींचे।——उस नवीन गृही को तत्त्वदर्शी ने समझाया।

तो क्या हम लोग आपको ऐसे ही छोड़ दें?——उसने शंका की।

तपस्वी ने उत्तर दिया——यही तो मेरी सब से बड़ी सेवा होगी। तुम्हीं सोचो कि तुम लोगों के यहां रहने से मेरे मार्ग में विक्षेप के सिवा क्या होगा, गृही और गृहत्यागी का साथ नहीं हो सकता। मुझे तो एकान्त दे दो।

वैश्य ने नतशिर होकर यह आदेश स्वीकार किया। और तपस्वी यह कह कर पुनः एकान्त में चला गया कि——अब से डेढ़ पहर बाद तुम्हारे प्रस्थान का मुहूर्त्त है, उस समय आकर मैं तुम्हें बिदा दे दूंगा।

तापस-कन्या रो रही थी। अतीत वर्तमान बन कर उसके सामने अभिनय करने लगा।

तुम उदास क्यों हो रही हो इतना?——वैश्य-पुत्र उसका पाणि-पीड़न करते हुये समझाने लगा।

कुछ नहीं, अतीत की स्मृति बड़ी दुखदाई होती है।——उसने अनमनेपन से उत्तर दिया।

हां, वह वर्तमान को भी विगत बना देती है।——कुछ गंभीर होकर उसके पति ने कहा।

सो तो जानती हूँ, किन्तु क्या कीजियेगा! प्राण जो रोते हैं!——उसने मृदुलता से कहा, एक लम्बी सांस लेकर।

हृदय छोटा न करो।——वैश्य-पुत्र ने ढाढ़स दिया।

तुम पुरुषों में इतनी निर्ममता हो और तुम्हीं पर नारी ममता करे, यह भी एक विधि-विडम्बना है!——उदासीनता से रुदिता ने कहा।

पति ने अपनी सफाई दी--मुझसे तुम्हारे आंसू नहीं देखे जाते।

'क्योंकि तुम पुरुष हो। तुम रूप रखना जानते हो और नारी से भी उसी की प्रत्याशा करते हो। तभी तो कहती हूं कि तुम निर्मम होते हो। मैं जानती हूँ कि यहां अब मेरा कुछ नहीं। अब तो वही मेरा देश है, वही मेरा संसार है; वहीं के लिये उपजी हूँ, फिर भी हृदय नहीं मानता, वह तड़पता है, मैं रोती हूँ। यदि मैं पुरुष होती और रूप रखे होती तो तुम्हें शान्ति मिलती।

वणिक अवाक् हो गया। उसे यह रहस्य अवगत हो उठा कि नारी का प्रकृत रूप उसकी मुसकान में नहीं, उसके आंसुओं में प्रत्यक्ष होता है।

वैश्य-बाला रोती रही।

*   *   *   *

डेढ़ पहर बीत गया। तपस्वी पुनः आया। कन्या उसके पांव पकड़ कर रुदन करने लगी। पिता ने उठा लिया। सिर पर हाथ फेरते हुए रुद्ध कण्ठ से उसने कहा--वत्से! क्यों अपने पिता की ममता को बांध रही है। इस अकिंचन के पास एक वही तो मुझे दहेज देने को बची है। उसे भी अपनी ममता के अपार भण्डार में मिला ले और उसका भूरि-भूरि उपहार उन्हें जाकर दे, जो वहां तुम्हारी बाट जोह रहे हैं।

उसने अपनी बेटी से इतनी भीख मांगी। किन्तु कामना करके भी वह उसे प्रदान न कर सकी। उलटे इस असमर्थता ने उसकी करुणा को और भी विगलित कर दिया।

तपस्वी पुनः प्रशान्त हो गया। गंभीर होकर बोला--बेटी! तेरी इतने दिनों की साधना का यह शुभ फल तुझे मिला है, अब जिस आश्रम

का द्वार तेरे लिये उन्मुक्त हुआ है, उसमें प्रवेश करके उसकी सिद्धि कर। यही परम्परा तो तुझे पूर्णता तक पहुँचावेगी। अब देर न कर, मुहूर्त्त बीत रहा है।

बेटी की रोते-रोते हिचकियां बँध गई थीं, उसने चुपचाप पिता के चरण छुए। वैश्य का भी हृदय गद्‌गद् हो रहा था, उसने भी उनके चरणों पर अपने आंसू चढ़ाये। तपस्वी ने दोनों की पीठ पर हाथ रख कर असीसा--जाओ तुम्हारा संसार सुखी और भरा-पूरा हो।

* * * *

तपस्वी वहीं ज्यों का त्यों खड़ा था। उसके दोनों हाथ वक्षस्थल पर मुद्रित थे, दाहिना पंजा बांई और बायां दाहिनी कांख के नीचे दबा हुआ था। वह एक टक शून्य दृष्टि से उसी ओर देख रहा था जिधर नव दम्पति चले जा रहे थे। उस वीतराग की ममता ही उनका एकमात्र असबाब था। प्रस्थिता के पैर लड़खड़ा रहे थे, मानों पीछे पड़ते हों। वह अपने को सँभाल न सकती थी--उसका स्वामी उसे सहारा दे रहा था।

देखते ही देखते वे ओझल हो गए और उसी क्षण उस निर्मम की आंखों से ममता की दो बूंदें टपक पड़ीं।

सुदर्शन

(जन्म १८९६ ई०)

असली नाम बदरीनाथ है, पर साहित्य के क्षेत्र में सुदर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं। सुदर्शन जी का जन्म सियालकोट, पंजाब में एक मध्यम श्रेणी के परिवार में हुआ। आपने बी० ए० तक शिक्षा पाई है। साहित्य की ओर आपकी रुचि बाल्यावस्था से है। जब छठवें दर्जे में पढ़ते थे तब आपने उर्दू में पहली कहानी लिखी थी। प्रेमचन्द की तरह आप भी उर्दू के ख्यातिप्राप्त लेखक बन चुकने पर हिन्दी में आए। हिन्दी में आपकी सबसे पहली कहानी १९२० में सरस्वती में छपी। अपनी स्वाभाविक तथा मनोरंजक कहानियों तथा सरल एवं लालित्यपूर्ण भाषा से आपने शीघ्र हिन्दी कहानी के पाठकों के हृदय में अपना स्थान बना लिया। लोकप्रियता की दृष्टि से कहानी-लेखकों में प्रेमचंद के बाद आपका ही नाम लिया जाता है। अब तक आपकी कहानियों के पांच संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आपने 'भागवन्ती' नाम से एक उपन्यास तथा 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' नाम से एक प्रहसन भी लिखा है।

हार की जीत

(१)

मां को अपने बेटे, साहूकार को अपने देनदार और किसान को अपने लहलहाते खेत देखकर जो आनन्द आता है, वही आनंद बाबा भारती को अपना घोड़ा देखकर आता था। भगवद्-भजन से जो समय बचता, वह घोड़े को अर्पण हो जाता। यह घोड़ा बड़ा सुन्दर था, बड़ा बलवान्। इसके जोड़ का घोड़ा सारे इलाके में न था। बाबा भारती उसे सुलतान कहकर पुकारते, अपने हाथ से खरहरा करते, खुद दाना खिलाते, और देख-देख कर प्रसन्न होते थे। ऐसी लगन, ऐसे प्यार, ऐसे स्नेह से कोई सच्चा प्रेमी अपने प्यारे को भी न चाहता होगा। उन्होंने अपना सब कुछ छोड़ दिया था, रुपया, माल, असबाब, जमीन; यहां तक कि उन्हें नागरिक जीवन से भी घृणा थी। अब गांव से बाहर एक छोटे से मंदिर में रहते और भगवान् का भजन करते थे। परन्तु सुलतान से बिछुड़ने की वेदना उनके लिए असह्य थी। मैं इसके बिना नहीं रह सकूंगा, उन्हें ऐसी भ्रांति सी हो गई थी। वह उसकी चाल पर लट्टू थे। कहते, ऐसा चलता है, जैसे मोर घन-घटा को देखकर नाच रहा हो। गांवों के लोग इस प्रेम को देखकर चकित थे; कभी कभी कनखियों से इशारे भी करते थे; परन्तु बाबा भारती को इसकी परवा न थी। जब तक संध्या-समय सुलतान पर चढ़ कर आठ-दस मील का चक्कर न लगा लेते, उन्हें चैन न आती।

खड्गसिंह उस इलाके का प्रसिद्ध डाकू था। लोग उसका नाम सुन कर कांपते थे। होते-होते सुलतान की कीर्ति उसके कानों तक भी पहुँची। उसका हृदय उसे देखने के लिए अधीर हो उठा। वह एक दिन दोपहर के समय बाबा भारती के पास पहुँचा और नमस्कार करके बैठ गया।

बाबा भारती ने पूछा--खड्गसिंह, क्या हाल है ?

खड्गसिंह ने सिर झुका कर उत्तर दिया--आपकी दया है।

'कहो, इधर कैसे आ गये ?'

'सुलतान की चाह खींच लाई।'

'विचित्र जानवर है। देखोगे, तो प्रसन्न हो जावोगे।'

'मैंने भी बड़ी प्रशंसा सुनी है।'

'उसकी चाल तुम्हारा मन मोह लेगी।'

'कहते हैं, देखने में भी बड़ा सुन्दर है।'

'क्या कहना। जो उसे एक बार देख लेता है, उसके हृदय पर उसकी छवि अंकित हो जाती है।'

बहुत दिनों से अभिलाषा थी; आज उपस्थित हो सका हूँ।'

बाबा और खड्गसिंह, दोनों अस्तबल में पहुँचे। बाबा ने घोड़ा दिखाया घमंड से। खड्गसिंह ने घोड़ा देखा आश्चर्य से। उसने सहस्रों घोड़े देखे थे; परन्तु ऐसा बांका घोड़ा उसकी आंखों से कभी न गुजरा था। सोचने लगा, भाग्य की बात है। ऐसा घोड़ा खड्गसिंह के पास होना चाहिए था। इस साधु को ऐसी चीजों से क्या लाभ ? कुछ देर तक आश्चर्य से चुपचाप खड़ा रहा। इसके पश्चात् हृदय में हलचल होने लगी। बालकों की-सी अधीरता से बोला--परन्तु बाबा जी, इसकी चाल न देखी, तो क्या देखा ?

(२)

बाबा जी भी मनुष्य ही थे। अपनी वस्तु की प्रशंसा दूसरे के मुख से सुनने के लिए उनका हृदय भी अधीर हो गया। घोड़े को खोलकर बाहर

लाये, और उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगे। एकाएक उचक कर सवार हो गये। घोड़ा वायुवेग से उड़ने लगा। उसकी चाल देखकर, उसकी गति देखकर खड्गसिंह के हृदय पर सांप लोट गया। वह डाकू था, और जो वस्तु उसे पसंद आ जाय, उस पर अपना अधिकार समझता था। उसके पास बाहुबल था, और आदमी थे। जाते-जाते उसने कहा--बाबा जी, मैं यह घोड़ा आपके पास न रहने दूंगा।

बाबा भारती डर गये। अब उन्हें रात को नींद न आती थी। सारी रात अस्तबल की रखवाली में कटने लगी। प्रति-क्षण खड्गसिंह का भय लगा रहता। परन्तु कई मास बीत गये, और वह न आया। यहां तक कि बाबा भारती कुछ लापरवाह हो गये। और इस भय को स्वप्न के भय की नाईं मिथ्या समझने लगे।

संध्या का समय था। बाबा भारती सुलतान की पीठ पर सवार घूमने जा रहे थे। इस समय उनकी आंखों में चमक थी, मुख पर प्रसन्नता। कभी घोड़े के शरीर को देखते, कभी रंग को, और मन में फूले न समाते थे।

सहसा एक ओर से आवाज आई--ओ बाबा, इस कँगले की भी बात सुनते जाना।

आवाज में करुणा थी। बाबा ने घोड़े को थाम लिया। देखा, एक अपाहिज वृक्ष की छाया में पड़ा कराह रहा है। बोले--क्यों तुम्हें क्या कष्ट है?

अपाहिज ने हाथ जोड़ कर कहा--बाबा, मैं दुखिया हूँ। मुझ पर दया करो। रामांवाला यहां से तीन मील है; मुझे वहां जाना है। घोड़े पर चढ़ा लो, परमात्मा भला करेगा।

'वहां तुम्हारा कौन है ?"

'दुर्गादत्त वैद्य का नाम आपने सुना होगा। मैं उनका सौतेला भाई हूँ !'

बाबा भारती ने घोड़े से उतर कर अपाहिज को घोड़े पर सवार किया, और स्वयं उसकी लगाम पकड़ कर धीरे-धीरे चलने लगे।

सहसा उन्हें एक झटका सा लगा, और लगाम हाथ से छूट गई। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि अपाहिज घोड़े की पीठ पर तन कर बैठा, और घोड़े को दौड़ाये लिये जा रहा है। उनके मुख से भय, विस्मय और निराशा से मिली हुई चीख निकल गई। यह अपाहिज खड्गसिंह डाकू था।

बाबा भारती कुछ देर तक चुप रहे, और इसके पश्चात् कुछ निश्चय करके पूरे बल से चिल्ला कर बोले—जरा ठहर जाओ।

खड्गसिंह ने यह आवाज सुन कर घोड़ा रोक लिया, और उसकी गर्दन पर प्यार से हाथ फेरते हुए कहा—बाबा जी, यह घोड़ा अब न दूंगा।

'परन्तु एक बात सुनते जाओ।'

खड्गसिंह ठहर गया। बाबा भारती ने निकट जाकर उसकी ओर ऐसी आंखों से देखा, जैसे बकरा कसाई की ओर देखता है, और कहा—यह घोड़ा तुम्हारा हो चुका। मैं तुमसे इसे वापस करने के लिये न कहूँगा। परन्तु खड्गसिंह, केवल एक प्रार्थना करता हूँ, उसे अस्वीकार न करना, नहीं तो मेरा दिल टूट जायगा।

'बाबा जी, आज्ञा कीजिये। मैं आपका दास हूँ; केवल यह घोड़ा न दूंगा।'

'अब घोड़े का नाम न लो, मैं तुमसे इसके विषय में कुछ न कहूँगा। मेरी प्रार्थना केवल यह है कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना।'

खड्गसिंह का मुंह आश्चर्य से खुला रह गया। उसका विचार था कि मुझे इस घोड़े को लेकर यहां से भागना पड़ेगा, परन्तु बाबा भारती ने स्वयं उससे कहा कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना। इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? खड्गसिंह ने बहुत सोचा, बहुत सिर मारा; परन्तु कुछ समझ न सका। हार कर उसने अपनी आंखें बाबा भारती के मुख पर गड़ा दीं, और पूछा--बाबा जी, इसमें आपको क्या डर है?

सुन कर बाबा भारती ने उत्तर दिया--लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया, तो वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे।

और यह कहते-कहते उन्होंने सुलतान की ओर से इस तरह मुंह मोड़ लिया, जैसे उनका उससे कभी कोई सम्बन्ध ही न था। बाबा भारती चले गये; परन्तु उनके शब्द खड्गसिंह के कानों में उसी प्रकार गूंज रहे थे। सोचता था, कैसे ऊँचे विचार हैं, कैसा पवित्र भाव है! उन्हें इस घोड़े से प्रेम था। इसे देख कर उनका मुख फूल की नाईं खिल जाता था। कहते थे, इसके बिना मैं रह न सकूंगा। इसकी रखवाली में वह कई रातें सोये नहीं। भजन-भक्ति न कर रखवाली करते रहे! परन्तु आज उनके मुख पर दुख की रेखा तक न देख पड़ती थी। उन्हें केवल यह ख्याल था कि कहीं लोग गरीबों पर विश्वास करना न छोड़ दें। उन्होंने अपनी निज की हानि को मनुष्यत्व की हानि पर न्योछावर कर दिया। ऐसा मनुष्य मनुष्य नहीं, देवता है।

(३)

रात्रि के अंधकार में खड्गसिंह बाबा भारती के मन्दिर में पहुँचा। चारों ओर सन्नाटा था। आकाश पर तारे टिमटिमा रहे थे। थोड़ी दूर पर गांवों के कुत्ते भोंकते थे। मन्दिर के अन्दर कोई शब्द सुनाई न देता था। खड्गसिंह सुलतान की बाग पकड़े हुए था। वह धीरे-धीरे अस्तबल के फाटक पर पहुँचा। फाटक किसी वियोगी की आंखों की तरह चौपट खुला था। किसी समय वहां बाबा भारती स्वयं लाठी लेकर पहरा देते थे; परन्तु आज उन्हें किसी चोरी, किसी डाके का भय न था। हानि ने उन्हें हानि की तरफ से बेपरवा कर दिया था। खड्गसिंह ने आगे बढ़ कर सुलतान को उसके स्थान पर बांध दिया। और बाहर निकल कर सावधानी से फाटक बन्द कर दिया। इस समय उसकी आंखों में नेकी के आंसू थे।

अंधकार में रात्रि ने तीसरा पहर समाप्त किया, और चौथा पहर आरम्भ होते ही बाबा भारती ने अपनी कुटिया से बाहर निकल ठण्डे जल से स्नान किया। उसके पश्चात् इस प्रकार, जैसे कोई स्वप्न में चल रहा हो, उनके पांव अस्तबल की ओर मुड़े। परन्तु फाटक पर पहुँच कर उनको अपनी भूल प्रतीत हुई। साथ ही घोर निराशा ने पांवों को मन-मन-भर का भारी बना दिया। वह वहीं रुक गये।

घोड़े ने स्वाभाविक मेधा से अपने स्वामी के पांवों की चाप को पहचान लिया, और जोर से हिनहिनाया।

बाबा भारती दौड़ते हुए अन्दर घुसे, और अपने घोड़े के गले से लिपट कर इस प्रकार रोने लगे, जैसे बिछुड़ा हुआ पिता चिरकाल के पश्चात् पुत्र से मिल कर रोता है। बार-बार उसकी पीठ पर हाथ फेरते,

बार-बार उसके मुंह पर थपकियां देते और कहते थे--अब कोई गरीबों की सहायता से मुंह न मोड़ेगा।

थोड़ी देर के बाद जब वह अस्तबल से बाहर निकले, तो उनकी आंखों से आंसू बह रहे थे, ये आंसू उसी भूमि पर ठीक उसी जगह गिर रहे थे, जहां बाहर निकलने के बाद खड्गसिंह खड़ा होकर रोया था।

दोनों के आंसुओं का उसी भूमि की मिट्टी पर परस्पर मिलाप हो गया।

उग्र

(जन्म—१९०१ ई०)

असली नाम पाण्डेय बेचन शर्मा है, पर साहित्य के क्षेत्र में 'उग्र' नाम ही प्रसिद्ध है। उग्र जी का जन्म चुनार, जिला मिर्जापुर में एक साधारण ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। आपकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई। बचपन से ही आपकी रुचि पढ़ने-लिखने की ओर अधिक थी। फिर भी असहयोग के जमाने में आपने स्कूल छोड़ दिया। आपकी बुद्धि बचपन से ही प्रखर थी। आपकी पहली कहानी १९२० में 'आज' में छपी थी। हिन्दी में आपकी रचनाओं को लेकर जितना वाद-विवाद हुआ, उतना संभवत: इधर के किसी लेखक को लेकर नहीं हुआ। कुछ लोग आपकी रचनाओं को अछूत की भांति अस्पृश्य मानते हैं, परन्तु जिन्होंने पक्षपात का चश्मा नहीं चढ़ा लिया है, वे मुक्त-कंठ से यह स्वीकार करते हैं कि आपकी लेखनी में जोर है, आपकी लेखन-शैली हिन्दी-साहित्य में सर्वथा अनूठी है तथा आपकी रचनाएँ साहित्य की शोभा बढ़ानेवाली हैं। आपने कहानी के अलावा सफल नाटक, प्रहसन और उपन्यास भी लिखे हैं।

गंगा, गंगदत्त और गांगी

गंगा.........

महात्मा वेदव्यास जी ने महाभारत में लिखा है--गंगापुत्र भीष्म के पिता श्री शान्तनु महाराज को देखते ही बूढ़ा प्राणी जवान हो जाता था।

मगर, मैं भूल कर रहा हूँ। वह भीष्म के पिता जी नहीं, दादा जी थे, जिनमें उक्त गुणों का आरोप महाभारतकार ने किया है।

एक बार भीष्म पितामह के पितामह जी सुरसरि-तट पर, गंगा-तरंग-हिम-शीतल शिलाखण्ड पर विराजमान भगवान् के ध्यान, तप या योग में निरत थे। काफ़ी वय हो जाने पर भी वह तेजस्वी थे--बली--विशाल-बाहु। ललाट उज्ज्वल और उन्नत, आंखें बड़ी और कमलवत्। वह सुश्री, दर्शनीय थे!

गंगा के मानस पर उनकी अद्‌भुत छवि ज्योंही प्रतिफलित हुई, जीवन-तरंगें लहराने लगीं। भीष्म के दादा जी पर मुग्ध हो नवयुवती सुन्दरी का रूप धर गंगा प्रकट हो तो हुईं। ध्यानावस्थित राजर्षि की दाहिनी पलथी पर वह महा-उन्मत्त हो जा बैठीं!

चमक कर नेत्र खोलते ही तप में बाधा की तरह अपने आधे अंग पर गंगा को मौजें मारते दादा जी ने देखा!

'कौन..औरत..?' गम्भीर स्वर से प्रश्न हुआ।

'जी मैं गंगा हूं, महाराज! आपके दिव्य रूप को देखते ही--चन्द्र पर चकोर की तरह--मैं पागल हो उठी हूँ! अब मैं आपकी हूँ--हर तरह से।'

लज्जा से अनुरंजित हो गंगा ने अपनी गोरी बाहें भीष्म के दादा के सुकंठ की ओर बढ़ा दीं।

'मगर, सुन्दरी...! मैं नीतिज्ञ हूँ, विज्ञ हूँ...।'

'तो, क्या हुआ महाराज! मैं भी दिव्य हूँ, पवित्र हूँ।'

गंगे!—दादा जी ने सतेज जवाब दिया—तुम एकाएक मेरी दाहिनी जांघ पर आ बैठीं जो बेटी या बहू के बैठने का स्थान है। अब तुम्हें पत्नी-रूप में स्वीकार करने से सनातनी आर्यमर्यादा भंग हो जायगी। मर्यादा—अपनी चाल—टूटने से कुल विनष्ट हो जाता है। कुल के विनाश से पितरों को घोर नरक-यातना होती है, जिससे मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।

क्षत्रिय राजर्षि का तर्क उचित और मान्य—गंगा मारे लाज के पृथ्वी में डूबती नजर आने लगीं। हताश हो, सूखी सी, वह दादा जी की गोद से नीचे सरक रहीं।

और गंगा-सी पवित्र, दर्शनीया रमणी को लज्जित और निराश करने का क्षत्रिय महाराज के मन में घोर खेद हुआ।

'महाराज!' सजल गंगा बोलीं—'दैव-विधानानुसार मैं माता बनना चाहती हूँ, इसी हेतु से तपोपूत, कुलीन जान कर आपकी सेवा में आई। लेकिन आपने तो मुझ को बेटी बना दिया!'

'निराश न हो गंगे! कभी अवसर मिले तो मेरे शान्तनु से तुम अपनी इच्छा प्रकट कर सकती हो। मुझे इसमें जरा भी आपत्ति न होगी। बल्कि तुम-सी दिव्य वधू पाकर मेरी सात पीढ़ियां तर जायेंगी।'

महाराज की जय हो!—गम्भीर वाणी से गंगा ने भीष्म के

दादा को आशीर्वाद दिया--देवताओं का अभिप्राय पूरा हुआ। अब मैं देवव्रत की माता बन सकूंगी। आर्य ! आपके सद्व्यवहार और सदाचार से सन्तुष्ट हो मैं आपको अक्षय यौवन का वरदान देती हूँ। आज से, आपके दर्शन करते ही, बूढ़ा से बूढ़ा प्राणी भी फौरन नवयुवक हो जायगा।

राजर्षि को आश्चर्य-चकित छोड़ गंगा, अपनी ही लहरों में लीन हो गईं।

गंगदत्त......

उन्हीं दिनों पंडित गंगदत्त शर्मा नाम के एक मूर्ख विद्वान् इन्द्रप्रस्थ महानगर के निकटस्थ किसी ग्राम में रहा करते थे। पंडित जी को मूर्ख विद्वान् लिखने में कलम की कोई भूल नहीं। क्योंकि दुनिया में बहुत ऐसे प्राणी हैं जो अक्ल रखते हुए भी बेवकूफी करते हैं। पंडित गंगदत्त शर्मा वैसे लोगों के पुराणकालीन अगुआ थे, इसमें जरा भी शकोशुबह की गुन्जायश नहीं है।

भीष्म पितामह के दादा जी की तरह पंडित गंगदत्त जी भी दादा-स्वरूप हो गये थे, मगर, गंगा के तट पर पद्मासनासीन योग, नहीं, घोर भोग-विलास की वासना उनके मन में अब भी लहरा रही थी।

पंडित जी के ५५ लड़के थे और ५२ लड़कियां। वह उन सब के नाम कहां तक याद रखते। अतः १०७ मनकों की एक माला उन्होंने तैयार कराई और प्रत्येक दाने पर एक एक नाम खुदा लिया ५५ लड़के, ५२ लड़कियों का जोड़ १०७।

पण्डित गंगदत्त ने सोचा, दो दाने और होने से सुमेर के साथ

पूरी माला तैयार हो जायगी। मगर अब ! गंगदत्त जी का शरीर शिथिल था। मन ही का कुनमुनाना नहीं रुकता था अतः........

गांगी !—अपनी धर्मपत्नी को सम्बोधित कर गंगदत्तजी बोले—सुन्दरी ; दो बच्चों के अभाव से माला अधूरी रहती है। यदि तू कृपा करे........!

चुप रहो !—स्त्री-सुलभ लज्जा से लाल और पति की पुरुष-दुर्लभ निर्लज्जता से पीली पड़ कर गांगी बोली—पौने दो सौ सालों से विलास करते आ रहे हो, और अब भी दो मनके बाकी हैं। हाथ हिलने लगे—बयार में झोंपड़ी से लटकते तिनके की तरह, झूलने लगी—रसोई घर की छान के झाले की तरह, इन्द्रियां पड़ गई हैं शिथिल ; नाक में पानी, आंख में पानी—कमर गई है झुक। लेकिन दो मनकों की अभी कमी है ! महाराज ! अब तो रामराम !

शान्त सुन्दरी !—अपनी १५० वर्ष की पत्नी के पोपले गालों को घोंघा-सा मुंह बना कर स्पर्श करते हुए गंगदत्त जी ने कहा—राम-राम नहीं, मैं 'शिव-शिव' का उपासक हूँ। और भगवान् शंकर ऐसे दयालु हैं कि भक्त को मांगते ही—मति, गति, सम्पत्ति, भूति, बड़ाई—फौरन सौंप देते हैं। मुझसे और भोला बाबा से मित्रता भी है। तुम जरा क्षमा करो—मुझे तप कर आने दो ! दो ही क्या सौ-सौ दाने बनाने की योग्यता—यौवन, सदा शिव से मैं वरदान मांग लाऊँ। जानती हो, तप से आर्यों के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं।

धिक् ! ब्राह्मण—ब्राह्मणी ने सच कहा—आर्यावर्त्त में रहते हुए भी आप विज्ञानी नहीं, ज्ञानी नहीं, कोरे अज्ञानी हैं ! आपके पुत्र हैं, पुत्रियां हैं और हैं पुत्र-पुत्रियों के बच्चे......! फिर भी

शंकर ऐसे भगवान् को सन्तुष्ट कर आप लेंगे केवल यौवन ! रत्नाकर से मांगना पंक ! हिमालय से भर आंख धूल की कामना ! छिः ! सौ बार छिः ब्राह्मण !

तब यह माला पूरी कैसे होगी ?

गंगदत्त को ज्ञान का उतना ध्यान नहीं था । उन्हें तो माला पूरी करने की चिन्ता थी । गंगदत्त जी की मूर्खता विकारहीन थी ।

'माला पूरी होगी चिता पर ....मेरे मुंह से कुभाषा न सुनिये ! मैं कहे देती हूँ--जप या तप से जवान बन कर अगर आप मेरे सामने आवेंगे तो, कह नहीं सकती, किस भाव से मैं आपका स्वागत करूँगी ?'

याने ! तोते सी गोल आंखें नचाकर आश्चर्य से गंगदत्त ने पूछा--मैं जवान हो जाऊँगा तो मुझे देखते ही तुम अहिंसा धर्म से विरत हो उठोगी ?

'मुझे विरत या निरत कुछ भी न होना होगा । सारी गृहस्थी की मैं मालकिन हूँ । ये १०७ बच्चे मेरे हैं । आपके जवान होने पर घर की जो परिस्थिति होगी, उसे काल ही जानता होगा ।'

गंगदत्त जी ! ओ पण्डित गंगदत्त जी !--बाहर से किसी ने पुकारा ।

कौन ? आवाज तो ब्राह्मण मोहदत्त की मालूम पड़ती है । सुन्दरी !--बुड्ढी से गंगदत्त जी ने कहा--जरा एक आसन तो लाओ । मेरा मित्र, ब्राह्मण मोहदत्त, इन्द्रप्रस्थ से आया है ..... !

तब तक एक निहायत जवान और गठीला, तेजस्वी ब्राह्मण कुटी के आंगन में आ धमका !

हा हा हा ! गंगदत्त ! बूढ़े !--आगन्तुक ने कहा--तुमने मुझे पहचाना नहीं ! हा हा हा हा ! मैं इन्द्रप्रस्थ के तपस्वी सम्राट् के दर्शन-मात्र से जवान हो गया ! हा हा हा हा !

क्या ?--आंखें फाड़-फाड़कर गठीले ब्राह्मण को गंगदत्त ने देखा, पहचाना, था वह मोहदत्त ही !

क्या ? ब्राह्मणी बेचारी कुछ समझ ही न सकी--तपस्वी राजा के दर्शनों से बूढ़ा मोहदत्त जवान हो गया ! अब तो मेरा ब्राह्मण--यह आतुर मर्द बिना जवान बने शायद ही रहे ! तो क्या जवानी वांछनीय है ? तो क्या राजा के दर्शन तथा यौवन लाभ कोई सद्लाभ है ?--ब्राह्मणी व्याकुल विचारने लगी ।

और गांगी नाम से पाठक यों न समझें कि द्वापर युग की वह ब्राह्मणी मूर्खा थी । नहीं, वह विदुषी थी, पूरी । ब्राह्मणी का घर का नाम था मनोरमा, मगर, पण्डित गंगदत्त ने उसको बदल कर गांगी इसलिये कर दिया था कि अर्द्धांगिनी का नाम भी अगर पति ही की तरह हो तो परम उत्तम ! खैर.............

अरे मोहा...!--गंगदत्त ने पूछा--तू जवान कैसे हो गया ! परसों तक तो तेरी गति थी--"अंगं गलितं पलितं मुण्डम्' और आज ! क्या एक ही रात में तूने भगवान् शंकर को प्रसन्न कर लिया...? या... क्या ?

भाई गंगदत्त !--मोहदत्त ने समझाया--देर न करो ! बुढ़ापे में एक क्षण भी काटना नरकवास है । ब्राह्मणी को संग लो और चलो मेरे साथ इन्द्रप्रस्थ ! महाराज के दर्शन कर मुक्त हो जाओ जरा के जाल से ।

हां, हां--आतुर गंगदत्त ने ब्राह्मणी की ओर देखते हुए कहा--च
प्रिये ! रथ भी मेरा मित्र मोहदत्त लेता आया है । जो वक्त
काम आवे वही मित्र । वाह भाई मोहदत्त ! आज यह संवा
ऐसी सदिच्छा से यहां लाकर तुमने हमें कृतार्थ कर दिया ! चलो,
न करो !--ब्राह्मणी को उन्होंने पुनः ललकारा ।

मगर, वह आर्या टस से मस न हुई...

'जवानी ऐसी नारकीय अवस्था के लिये मैं न तो किसी दे
से वरदान मांगूंगी, नहीं पर-पुरुष का मुंह ताकती फिरूँगी ।'

'जवानी--नारकी कैसे ?'--स्त्री के हठ से चिढ़ कर गंगदत्त
पूछा ।

'इसे मैं जानती हूँ । १०७ बार माता बनने में जो नारकी
कष्ट मुझे भोगने पड़े, वे क्यों ? इसी जवानी के लिए । बचप
में अज्ञान है, बुढ़ापे में ज्ञान । मगर इस जवानी में ज्ञानाज्ञान का ऐ
गोरखधन्धा है जिसमें पड़ कर धोका खाये बिना शायद ही कोई ब
हो । ज्ञान ही की तरह, मैं तो, शुद्ध अज्ञान को भी दिव्य मानत
हूँ । मगर, भ्रम से है मुझे घृणा । और भ्रम ही में जवानी सब
मचलती चलती है ।'

'यौवन ऐसी देवदुर्लभ अवस्था को यह मूर्खा ब्राह्मणी भ्रम औ
नरक का फाटक कह रही है ! देखते हो मोहदत्त ... स्त्री-बुद्धि
प्रलयंकरी !'

'अच्छा, इन्हें बूढ़ी ही रहने दीजिए !'--मोहदत्त ने मित्र को रा
दी--'आप तो चल कर महाराज के दर्शन प्राप्त कीजिये और प्राप्त
कीजिये अप्राप्य यौवन--अनायास ! मेरे कहने का अभिप्राय य

कि जो चीज अनायास मिले उसे ग्रहण कर भोग लेने में ब्राह्मण के लिए शास्त्रानुसार भी कोई दोष नहीं।'

'क्षमा, आर्य मोहदत्त!'—नम्रता से ब्राह्मणी ने व्यंग किया—'अनायास अगर मैला मिल जाय, तो क्या ब्राह्मण उसका शास्त्रानुसार भोग करेगा? अ—हँ! आप दोनों सज्जन मेरे तर्क पर नाक फुला रहे हैं। मैं सच कहती हूँ—और ब्राह्मणी सच ही कहती है—यौवन मानव-जीवन का मैला है।'

'अरी मूर्खा! क्रोध मुझे न दिला!'—बिगड़े अब पंडित गंगदत्त जी—"चरक भगवान् ने लिखा है कि मैला पेट में न रहे तो आदमी जी नहीं सकता! मनुष्य के अंग-अंग से, रोम-रोम से, क्या प्रकट होता है?—मैला! इस मैले संसार में वही मोटा नजर आवेगा जो पुष्ट हो, जिसमें मैले ज्यादा हों। यौवन? हां, है मैला। वह, जिसकी सफाई होते ही मनुष्य-जीवन की भी सफाई हो जाती है—चौका लग जाता है। मैले का महत्त्व तुझको समझना होगा नारी...!"

इसके बाद मोहदत्त से, दुखित भावेन गंगदत्त ने कहा—जाओ भाई! मैं इस औरत के वश में हूँ। बिना अर्धांगिनी की इच्छा—कोई भी काम शास्त्र के मत से मैं नहीं कर सकता। चलो बाहर, इस कुटी की वायु में मुझे जरा और मरण भयंकर नजर आ रहे हैं।

कुटी के बाहर आते ही मोहदत्त ने देखा, उनके रथ को घेर कर कोई सौ सवा सौ नर-नारियों की भीड़ खड़ी है। कुछ साफ न समझ उन्होंने गंगदत्त से पूछा—क्यों? क्या ये लोग आपके दर्शनार्थ आये हैं—या शिष्य हैं, कि यजमान?

'अरे वाह!'—गंगदत्त ने मुंह पसार कर उत्तर दिया—'ब्राह्मण! तुम मेरे परिवार को भूल गये? मैं कुल मिलाकर १०७ आदमियों

का पिता हूँ। ये सब मेरे बच्चे आपके रथ की कलामयी कारीगरी देख रहे हैं।'

'हा हा हा! भाई गंगदत्त! पहली जवानी में जब तुमने इतनी सृष्टि रच दी तो एक बार और जवान होने से तुम्हारा नाम प्रजापति दक्ष (द्वितीय) मशहूर होगा।'

यह बुड्ढी ब्राह्मणी माने तब तो। मैं प्रजापति को भी, सृष्टि में क्रान्ति दिखा दूं--मगर, मेरी औरत, जरठ होने से, बुद्धिहीन हो गई!--दुखकातर गंगदत्त ने उत्तर दिया। वह मुंह में पानी भर कर अपने मित्र का नवयौवन निहारने लगे। तब तक, दोनों रथ के निकट आ रहे। भीड़ छँट गई।

'वाह!'--रथ के सफेद घोड़ों की तारीफ करते हुए गंगदत्त ने कहा--'मोहदत्त! घोड़े तो बड़े बांके हैं।'

घोड़े मैंने श्वेत द्वीप से मँगाये हैं। मुझे रथ का बड़ा शौक है।--मस्त मोहदत्त ने रास सँभाली--वह बैठ भी गया रथ पर--आओ गंगदत्त मित्र! इन्द्रप्रस्थ से होते आओ! औरत के फेर में स्वर्गलाभ से वंचित न हो!

हां!--उछल कर आतुर और बूढ़ा ब्राह्मण अब अपने मित्र के पार्श्व में डट गया--सारथी का काम आश्रम में मैंने भी सीखा है--ये घोड़े--वाह! रास जरा मुझे तो देना--!

और गंगदत्त ने मोहदत्त के रथ के बांके घोड़ों को इशारा किया! और क्षण भर बाद, दोनों मित्र, इन्द्रप्रस्थ की ओर सनकते नजर आने लगे।

कोई ज्यादा दूर जाना तो था नहीं। शाम होने से पहले ही राजधानी में मोहदत्त का रथ गंगदत्त हांकते दिखाई पड़े।

याने, मनोरथ उन्होंने अपना पूरा किया अविलम्ब दर्शन लाभ कर महाराजर्षि के, जिन्हें अनन्त यौवन का वरदान गंगा ने दिया था!

और लो, ब्राह्मण गंगदत्त भी मोहदत्त की तरह पूर्ण नवयौवन पा गये।

यौवन पाते ही गंगदत्त ने अपने मित्र का साथ छोड़ दिया और छोड़ दिया स्वार्थपूर्ण उजलत से! उन्हें बड़ी इच्छा हुई, पहले दर्पण में मुंह देखने की। मगर, वहां दर्पण कहां। इन्द्रप्रस्थ के बाजार में बिकते होंगे बीसियों लेकिन पैसे--? ब्राह्मण के पास पैसे कहां! गंगदत्त ने सोचा--तो किसी तालाब के पानी में मुंह देखना चाहिये। मगर, रात का ध्यान आते ही यह विचार भी छोड़ देना पड़ा।

नवयुवक ब्राह्मण गंगदत्तजी रात अधिक बीत जाने तक राजधानी की सड़कों पर चक्कर काटते रहे। मगर, आइना पाने की सूरत उन्हें न दिखाई पड़ी। आखिर हताश हो, ज्यों ही वह अपनी कुटी की ओर लौटना चाहते थे त्यों ही, नर्तकी रामा के घर की ओर उनकी नजर गई।

रामा अपने रमणीक बैठक में बैठी (प्राचीन चीन के) दर्पण में मुंह देख रही थी। कंचन की चौकी पर रत्न का एक दीपक पास ही जल रहा था।

ब्राह्मण ने विचार किया--यदि किसी तरह इस नर्तकी के दर्पण में मैं अपना मुंह देख पाता!

आखिर आतुर गंगदत्त जी, विवेकहीन हो, दबे पांव, नर्तकी के पीछे जा खड़े हुए और चोरों की तरह उन्होंने दर्पण में झांका!

'अहो! अहो! धन्य! धन्य!'--अपना नवस्वरूप देखते ही गंगदत्त पागलों की तरह प्रसन्नता से नाच और चिल्ला उठे।

नर्तकी रामा चौंक कर मारे भय के घिघियाने लगी--बचाओ ! चोर, उचक्का !

सैकड़ों नागरिक जुट गये और विकल ब्राह्मण यज्ञोपवीत दिखा कर पिटते पिटते बचा !

कुटी की ओर लौटते हुये गंगदत्त ने सोचा--बेशक मैं जवान हो गया। क्योंकि जवानी की पहली निशानी अविवेक मुझ में प्रकट हो गया ! नर्तकी के दर्पण में मैंने अपना मुंह देखा आतुर होकर--बचा पीठ की पूजा पाते-पाते ! वाह !

वाह !--नवब्राह्मण ने सोचा--वेश्या वह युवती ...? मेरी पत्नी भी अगर महाराज के दर्शन कर ले, तो वह भी इसी वेश्या सी नवेली--आह !--गंगदत्त का प्राचीन उच्छृङ्खल होने से पुनः विचका--मैं ... ब्राह्मण अपनी पत्नी की समता वेश्या के यौवन से ! है न अविवेक ? वाह ! अब मैं जवान हो गया--बेशक !

और गंगदत्त का पूरा कुल एक ही जगह पर बसा हुआ था--उनकी कुटी के चौगिर्द। अधिक रात हो जाने के कारण सभी सो गये थे। ब्राह्मणों के घृत के दीपक भी बुझ चुके थे। ऐसे अवसर पर गंगदत्त चुपचाप अपनी झोपड़ी में घुसे।

कौन...?--सजग ब्राह्मणी ने खांस कर पूछा।

मैं हूँ....सुन्दरी !--निर्भय और प्रसन्न गंगदत्त ने कहा।

पति की आवाज पहचानते ही ब्राह्मणी ने अग्निहोत्र की आग से दीपक प्रज्वलित किया और देखा।

अरे, ज्ञानदत्त ! पुत्र !--देखते ही ब्राह्मणी बिगड़ी--पापी ! इस रात में अपनी माता को तू 'सुन्दरी' पुकारने यहां आया है ? क्या

तुने आज सुरा पी है ? निकल, तेरी कुटी उधर है...हायरे मेरा ब्राह्मण रथ पर चढ़ कर कहां चला गया ?

मैं--मैं ही हूँ वह ब्राह्मण तुम्हारा सुन्दरी !--गंगदत्त ने पुनः समझाना चाहा--मैं जवान हो गया हूँ--राजर्षि के दर्शन कर । डरो मत । भागो मत ! मैं तुम्हारा पति हूँ ।

बापरे ! दौड़ो रे !--ब्राह्मणी अधिक अपमान न सह सकी--बचाओ ! मेरा पुत्र पागल हो गया है ?

और सारा कुल--अँधेरी रात में उल्काएँ हाथों में लिए--कुटी के चारों ओर इकट्ठा हो गया !

भारी कोलाहल मचा--कौन लड़का है ? कौन ऐसा नालायक है ? मारो ! इसकी हत्या कर दो ! सभी झपटे अपने बेचारे ब्राह्मण बाप पर, उसके कायाकल्प से अज्ञात ।

अब गंगदत्त बड़े फेर में पड़े । किसी को उनकी बात पर एतबार ही न आया । उन्हीं के अनेक लड़के इस वक्त देखने में गंगदत्त जी के चचा मालूम पड़ते थे !

गंगदत्त जी ने एक एक का नाम लेकर परिचय दिया। बहुतसी घरेलू बातें बताईं । यहां तक कि सारे कुल को उन्होंने अपने पीछे का एक धब्बा भी खोल कर दिखाया—मगर, फिर भी किसी ने विश्वास न किया ।

तब, मारे झुंझलाहट, खीझ और लाचारी के नौजवान गंगदत्त ब्राह्मण बालकों की तरह रो पड़े ।

'हायरे ! जवानी लेकर मैंने कहां का पाप खरीदा...मेरी सारी शान्ति नष्ट हो गई ।'

मगर, सारा कुल इतना क्षुब्ध हो उठा था कि, अगर भाग न जाते तो गंगदत्त जी की हत्या उन्हीं के परिवार के लोग उस रात कर देते !

गांगी.......

उक्त घटना के कई दिनों बाद तक जब पण्डित गंगदत्त जी का कोई पता कुलवालों को न लगा, तब ब्राह्मणी विकल हो उठीं । उसने अपने पुत्रों को राजधानी में भेज कर मोहदत्त से पता लगाया तो भेद सारा खुल गया ! अब मालूम हुआ गंगदत्त के कुल को कि उस रात में जो नवयुवक पिटते-पिटते बचा उसकी बातें सच थीं । वह और कोई नहीं--पण्डित गंगदत्त स्वयं थे, जो राजाधिराज के दर्शन से युवक बन गये थे ।

अब तो सारे कुल में स्यापा छा गया ! ब्राह्मणी दहाड़ मार-मार कर रोने लगी । पति के अपमान से जो नरक उसे परलोक में भोगना पड़ेगा उसकी कल्पनामात्र से वह कांप-कांप उठी !

आह !--उसने सोचा--पतिदेव इसलिये भाग गये कि बूढ़ी मैं उनके योग्य नहीं, बल्कि दुख का कारण हूँ । तो ? क्या मैं भी परपुरुष से आंखें मिला कर नवयुवती बनूं और पतिदेव को सुखी करूं, जो आर्या का परम धर्म है ? मगर नहीं, परपुरुष की ओर मैं कदापि न देखूंगी । मैं"!--गांगी गम्भीर हो सोचने लगी--मैं तपस्विनी बनूंगी । पति के प्रसन्नतार्थ यौवन पाने के लिये माता गौरी पार्वती की तपस्या करूंगी ।

और ब्राह्मणी, दृढ़, दूसरे ही दिन, उठ भोर, सारी मोह-माया त्याग, तप करने हिमालय चली गई ।

और उसने ऐसी तपस्या की कि ऐसी तपस्विनी माता पार्वती प्रसन्न हो प्रकट हो गयीं ! उन्होंने ब्राह्मणी को फौरन युवती बना दिया !

फिर भी, यह सब करते कराते ग्यारह महीने बीत ही गये। ग्यारह महीने बाद, जवान बनकर, गांगी एक रात, अपनी कुटी में लौट आई और माता पार्वती के प्रसाद से, उसी रात, गांगी के पतिदेव भी पुनः झोपड़ी पर पधारे--

'गांगी ! देवी ! लो शंकर की तपस्या कर मैं फिर से बूढ़ा बनकर आ गया ! तुम बूढ़ी--मैं बूढ़ा ! प्रिये ! हममें द्वैध अब नहीं--हम एकाकार हैं ! आग लगे ऐसी कायाकल्पित नवजवानी में जिसके कारण मैं पिटते-पिटते, मरते-मरते बचा--अरे !'

इसी समय, कुटी के बाहर आती गांगी नवयौवना को गंगदत्त ने गौर से गुरेर कर ताका।

कौन ? ब्राह्मणी ? क्या तू भी राजर्षि के दर्शन कर आई ?

'हम स्त्रियां माता गौरी की कृपा से नवयौवन, जीवन, तन, मन, धन, पाती हैं साजन !'

गौरी की कृपा से रसीली गांगी ने शंकर के वरदान से सूखे गंगदत्त के हिलते हिमशीतल हाथों को प्रेम से पुलकित हो अपनी मृणाल-सी बाहु में लपेट लिया।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

(जन्म १८९८ ई०)

जन्म महिषादल स्टेट, मेदिनीपुर, बंगाल में हुआ। पिता का असली मकान युक्तप्रान्त के उन्नाव जिले में गढ़ाकोला गांव में है, परन्तु स्टेट की नौकरी के कारण पिता वहां बस गए थे। स्कूली शिक्षा बहुत थोड़ी प्राप्त की, परन्तु प्रतिभा प्रखर थी। आपका संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी पर भी अच्छा अधिकार है। संगीत-कला के अच्छे मर्मज्ञ हैं। जब स्कूल में पढ़ते थे तभी से इनकी मनोवृत्ति का झुकाव दर्शन की ओर था और यह इनके चरित्र का एक अंग भी बन गया। बीस वर्ष की अवस्था में पत्नी का देहान्त हो गया और इसके बाद आपने विवाह नहीं किया। हिन्दी में लिखने का क्रम तभी से प्रारम्भ हुआ जब इनकी अवस्था १६-१७ वर्ष की थी। 'जूही की कली' प्रारम्भिक रचना है और आज भी इनकी तथा हिन्दी की एक श्रेष्ठ रचना है। आप हिन्दी-कविता में छायावाद स्कूल के प्रवर्तकों में से हैं। कवि के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं, परन्तु कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में भी इनका स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इनकी प्रारम्भिक कहानियां १९२३ के आस-पास 'मतवाला' में प्रकाशित हुई थीं।

श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी

(१)

श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी श्रीमान् पं० गजानन्द शास्त्री की धर्मपत्नी हैं। श्रीमान् शास्त्री जी ने आपके साथ यह चौथी शादी की है, धर्म की रक्षा के लिए। शास्त्रिणी जी के पिता को षोड़शी कन्या के लिए पैंतालिस साल का वर बुरा नहीं लगा, धर्म की रक्षा के लिए। वैद्य का पेशा अख्तियार किया शास्त्री जी ने युवती पत्नी के आने के साथ 'शास्त्रिणी' का साइन-बोर्ड टांगा, धर्म की रक्षा के लिए। शास्त्रिणी जी उतनी ही उम्र में गहन पातिव्रत्य पर अविराम लेखनी चालना कर चलीं, धर्म की रक्षा के लिए। मुझे यह कहानी लिखनी पड़ रही है, धर्म की रक्षा के लिए।

इससे सिद्ध है, धर्म बहुत ही व्यापक है। सूक्ष्म है। सूक्ष्म दृष्टि से देखनेवालों का कहना है कि नश्वर संसार का कोई काम धर्म के दायरे से बाहर नहीं। संतान पैदा होने के पहले से मृत्यु के बाद—पिण्डदान तक, जीवन के समस्त भविष्य, वर्तमान और भूत को व्याप्त कर धर्म-ही-धर्म है।

जितने देवता हैं, चूंकि देवता हैं, इसलिए धर्मात्मा हैं। मदन को भी देवता कहा है। यह जवानी के देवता हैं। जवानी जीवन भर का शुभ मुहूर्त्त है। सब से पुष्ट, कर्मठ और तेजस्वी देवता मदन, जो भस्म होकर नहीं मरे; लिहाजा यह काल और काल के देवता सब से ज्यादा सम्मान्य, फलतः क्रियाएँ भी सब से अधिक महत्वपूर्ण, धार्मिकता लिए हुए। मदन को कोई देवता न माने तो न माने, पर यह

निश्चय है कि आज तक कोई देवता इन पर प्रभाव नहीं डाल सका। किसी धर्म, शास्त्र और अनुशासन को यह मान कर नहीं चले, बल्कि धर्म, शास्त्र और अनुशासन के मानने वालों ने ही इनकी अनुवर्तिता की है। यौवन को भी कोई कितना निंद्य कहे, चाहते सब हैं, वृद्ध सर्वस्व भी स्वाहा कर। चिह्न तक लोगों को प्रिय हैं--खिजाब की कितनी खपत है! पौष्टिकता की दवा सब से ज्यादा बिकती है। साबुन, सेंट, पाउडर, क्रीम, हेजलीन, वेसलीन, तेल, फुलेल के लाखों कारखाने हैं और इस दरिद्र देश में। जब न थे, तब रामजी और सीताजी उबटन लगाते थे। नाम और प्रसिद्धि कितनी है--संसार की सिनेमा-स्टारों को देख जाइए। किसी शहर में गिनिए--कितने सिनेमा-हाउस हैं। भीड़ भी कितनी--आवारागर्द मवेशी काइन्ज हाउस में इतने न मिलेंगे। देखिए--हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी, जैन, बौद्ध, क्रिस्तान सभी; साफा, टोपी, पगड़ी, कैप, हैट और पाग से लेकर नंगा सिर घुटन्ना तक; अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी, द्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी, शुद्धाद्वैतवादी, साम्राज्यवादी, आतंकवादी, समाजवादी, काजी, नाजी, सूफी से लेकर छायावादी तक; खड़े, बेंडे, सीधे, टेढ़े, सब तरह के तिलक-त्रिपुण्ड; बुरकेवाली, घूंघटवाली, पूरे और आधे और चौथाई बालवाली खुली, और मुंदी, चश्मेवाली आंखें तक देख रही हैं। अर्थात् संसार के जितने धर्मात्मा हैं, सभी यौवन से प्यार करते हैं। इस लिए उसके कार्य को भी धर्म कहना पड़ता है। किसी के न कहने--न मानने से वह अधर्म नहीं होता है।

अस्तु, इस यौवन के धर्म की ओर शास्त्रिणी जी का धावा हुआ, जब वह पन्द्रह साल की थीं अविवाहिता। यह आवश्यक था, इसलिए पाप नहीं। मैं इसे आवश्यकतानुसार ही लिखूंगा! जो लोग विशेष रूप से

समझना चाहते हों, वे जितने दिन तक पढ़ सकें, काम-विज्ञान का अध्ययन कर लें। इस शास्त्र पर जितनी पुस्तकें हैं, पूरे अध्ययन के लिए पूरा मनुष्य-जीवन थोड़ा है। हिन्दी में अनेक पुस्तकें इस पर प्रकाशित हैं, बल्कि प्रकाशन को सफल बनाने के लिए इस विषय की पुस्तकें आधार मानी गई हैं। इससे लोगों को मालूम होगा कि यह धर्म किस अवस्था से किस अवस्था तक किस-किस रूप में रहता है।

(२)

शास्त्रिणी जी के पिता जिला बनारस के रहने वाले हैं, देहात के, पयासी, सरयूपारीण ब्राह्मण; मध्यमा तक संस्कृत पढ़े, घर के साधारण जमींदार, इसलिए आचार्य भी विद्वत्ता का लोहा मानते हैं। गांव में एक बाग कलमी लँगड़े का है। हर साल भारत-सम्राट् को आम भेजने का इरादा करते हैं, जब से वायुयान-कम्पनी चली। पर नीचे से ऊपर को देख कर ही रह जाते हैं, सांस छोड़ कर। जिले के अँगरेज हाकिमों को आम पहुंचाने की पितामह के समय से प्रथा है। यह भी सनातन-धर्मानुयायी हैं। नाम पं० रामखेलावन है।

रामखेलावन जी के जीवन में एक सुधार मिलता है। अपनी कन्या का, जिन्हें हम शास्त्रिणी जी लिखते हैं, नाम उन्होंने सुपर्णा रक्खा है। गांव की जीभ में इसका यह रूप नहीं रह सका, प्रोग्रेसिव राइटर्स की साहित्यिकता की तरह 'पन्ना' बन गया है। इस सुधार के लिए पं० रामखेलावन जी को धन्यवाद देते हैं। पंडित जी समय काटने के विचार से आप ही कन्या को शिक्षा देते थे; फलस्वरूप कन्या भी उनके साथ समय काटती गई और पन्द्रह साल की अवस्था तक सारस्वत में हिलती रही। फिर भी गांव की वधू-वनिताओं पर, उसकी विद्वत्ता का पूरा प्रभाव पड़ा। दूसरों पर प्रभाव डालने का

उसका जमींदारी स्वभाव था, फिर संस्कृत पढ़ी लोग मानने लगे, गति में चापल्य उसकी प्रतिभा का सब से बड़ा लक्षण था।

उन दिनों छायावाद का बोलबाला था, खास तौर से इलाहाबाद में। लड़के पंत के नाम की माला जपते थे, ध्यान लगाये। कितनी लड़ाइयां लड़ीं प्रसाद, पन्त और माखनलाल के विवेचन में। भगवतीचरण बायरन से आगे हैं, पीछे रामकुमार, कितनी ताकत से सामने आते हुए। महादेवी कितना खींचती हैं।

मोहन उसी गांव का, इलाहाबाद-विश्वविद्यालय में बी० ए० (पहले साल) में पढ़ता था। यह रंग उस पर भी चढ़ा और दूसरों से अधिक उसे पन्त की प्रकृति प्रिय थी, और इस प्रियता से जैसे पन्त में बदल जाना चाहता था,। संकोच, लज्जा, मार्जित मधुर उच्चारण, निर्भीक नम्रता, शिष्ट आलाप, सज-धज उसी तरह। रचनाओं से रच गया। साधना करते सधी रचना करने लगा। पर सम्मेलन शरीफ अब तक नहीं गया। पिता हाईकोर्ट में क्लर्क थे। गर्मी की छुट्टियों में गांव आया हुआ है।

सुपर्णा से परिचय है जैसे पर्ण और सुमन का। सुमन पर्ण के ऊपर है, सुपर्णा नहीं समझी। जमींदार की लड़की जिस तरह वहां की समस्त डालों के ऊपर अपने को समझती थी, उसके लिये भी समझी। ज्यों-ज्यों समय की हवा से हिलती थी; सुमन की रेणु से रंग जाती थी; समझती थी, वह उसी का रंग है। मोहन शिष्ट था, पर अपना आसन न छोड़ता था।

सुपर्णा एक दिन बाग में थी। मोहन लौटा हुआ घर आ रहा था। सुपर्णा रँग गई। बुलाया। मोहन फिर भी घर की तरफ चला।

'मोहन! ये आम बाबूजी दे गये हैं, ले जाओ। तकवाहा बाजार गया है।'

मोहन बाग की ओर चला। नजदीक गया तो सुपर्णा हँसने लगी--'कैसा धोका देकर बुलाया है? आम बाबूजी ने तुम्हारे यहां कभी और भी भिजवाये हैं?' मोहन लजाकर हँसने लगा।

'लेकिन तुम्हारे लिए कुछ आम चुन कर मैंने रखखे हैं। चलो।'

मोहन ने एक बार संयत दृष्टि से उसे देखा। सुपर्णा साथ लिये बीच बाग की तरफ चली--मैंने तुम्हें आते देखा था, तुमसे मिलने को छिप कर चली आई। तकवाहे को सौदा लेने बाजार (दूसरे गांव) भेज दिया है। याद है मोहन?

'क्या?'

'मेरी गुइँयों ने तुम्हारे साथ, खेल में।'

'वह तो खेल था।'

'नहीं, वह सही था। मैं अब भी तुम्हें वही समझती हूँ।'

'लेकिन तुम पयासी हो। शादी तुम्हारे पिता को मंजूर न होगी।'

'तो तुम मुझे कहीं ले चलो। मैं तुम से कहने आई हूँ। दूसरे से ब्याह करना मैं नहीं चाहती।'

मोहन की सुन्दरता गांव की रहनेवाली सुपर्णा ने दूसरे युवक में नहीं देखी। उसका आकर्षण उसकी मा को मालूम हो चुका था। उसका मोहन के घर जाना बन्द था। आज पूरी शक्ति लड़ा कर, मौका देख कर मोहन से मिलने आई है। मोहन खिंचा। उसे यहां वह प्रेम न दिखा, वह जिसका भक्त था, कहा--

'लेकिन मैं कहां ले चलूं ?'

'जहां रहते हो।'

'वहां तो पिता जी हैं।'

'तो और कहीं।'

'खावेंगे क्या ?'

खाना पड़ता है, यह सुपर्णा को याद न था। मोहन से लिपटी जा रही थी।

इसी समय तकवाहा बाजार से आ गया। देर का गया था। देख कर सचेत करने के लिए आवाज दी ! सुपर्णा घबराई। मोहन खड़ा हो गया।

तकवाहा बाग आ सौदा देकर मोहन को जमींदार की ही दृष्टि से घूरता रहा। मतलब समझ कर मोहन धीरे-धीरे बाग से बाहर निकला और घर की ओर चला।

तकवाहा धार्मिक था। जैसा देखा था, पं० रामखेलावन जी से व्याख्या-समेत कहा। साथ ही इतना उपदेश भी दिया कि मालिक ! पानी को भरी खाल है, कब क्या हो जाय ! बिटिया रानी का जल्द ब्याह कर देना चाहिए।

पं० रामखेलावन जी भी धार्मिक थे। धर्म की सूक्ष्मतम दृष्टि से देखने लगे तो मालूम पड़ा कि वे पृथ्वी के गर्भ में हैं, नौ-दस महीने में क्या होगा फिर ? इस महीने में लगन है—ब्याह हो जाना चाहिए।

जल्दी में बनारस चले।

(३)

पं० गजानन्द शास्त्री बनारस के वैद्य हैं। वैदकी साधारण चलती है, बड़े दांव-पेंच करते हैं तब। पर आशा बहुत बड़ी-बड़ी है। सदा बड़े-बड़े आदमियों की तारीफ करते हैं और ऐसे स्वर से, जैसे उन्हीं में से एक हों। वैदकी चले इस अभिप्राय से शाम को रामायण पढ़ते-पढ़वाते हैं तुलसी-कृत; अर्थ स्वयं कहते हैं। गोस्वामी जी के साहित्य का उनसे बड़ा जानकार--विशेषकर रामायण का, भारतवर्ष में नहीं, यह श्रद्धापूर्वक मानते हैं। सुननेवाले ज्यादातर विद्यार्थी हैं, जो भरसक गुरु के यहां भोजन करके विद्याध्ययन करने काशी आते हैं। कुछ साधारण जन हैं, जिन्हें असमय पर मुफ्त दवा की जरूरत पड़ती है। दो-चार ऐसे भी आदमी, जो काम तो साधारण करते हैं, पर असाधारण आदमियों में गप लड़ाने के आदी हैं। मजे की महफिल लगती है। कुछ महीने हुए, शास्त्रीजी की तीसरी पत्नी का असचिकित्सा के कारण देहान्त हो गया है। बड़े आदमी की तलाश में मिलनेवाले अपने मित्रों से शास्त्रीजी बिना पत्नी वाली अड़चनों का बयान करते हैं और उतनी बड़ी गृहस्थी आठाबाठा जाती है--इसके लिए विलाप। सुपात्र सरयूपारीण ब्राह्मण हैं; मामखोर सुकुल।

पं० रामखेलावन जी बनारस में एक ऐसे मित्र के यहां आकर ठहरे, जो वैद्यजी के पूर्वोक्त प्रकार के मित्र हैं। रामखेलावन जी लड़की के ब्याह के लिए आये हैं, सुन कर मित्र ने उन्हें ऊपर ही लिया और शास्त्री जी की तारीफ करते हुए कहा, ऐसा सुपात्र बनारस शहर में न मिलेगा। शास्त्रीजी की तीसरी पत्नी अभी गुजरी है; फिर भी उम्र अधिक नहीं--जवान हैं। शास्त्री, वैद्य, सुपात्र और उम्र अधिक नहीं।--सुनकर पं० रामखेलावन जी ने मन-ही-मन बाबा

विश्वनाथ को दण्डवत् की और बाबा विश्वनाथ ने हिन्दू-धर्म के लि
क्या-क्या किया है, इसका उन्हें स्मरण दिलाया। वह भक्त
वत्सल आशुतोष हैं, यह यहीं से विदित हो रहा है--मर्यादा की रक्षा
के लिए अपनी पुरी में पहले से वर लिये बैठे हैं--आने के साथ
मिला दिया। अब यह बंधान न उखड़े; इसकी बाबा विश्वनाथ को
याद दिलाई।

पं० रामखेलावन जी के मित्र पं० गजानन्द शास्त्री के यहां उन्हें
लेकर चले। जमींदार पर एक धाक जमाने की सोची। कहा--लेकिन
बड़े आदमी हैं; कुछ लेन-देनवाली पहले से कह दीजिए, आखिर
उनकी बराबरी के लिए कहना ही पड़ेगा कि जमींदार हैं।

'जैसा आप कहें।'

'कुल मिलाकर तीन हजार तो दीजिए, नहीं तो अच्छा न लगेगा।'

'इतना तो बहुत है।'

'ढाई हजार? इतने से कम में न होगा। यह दहेज की बात
नहीं बनाव की बात है।'

'अच्छा, इतना कर दिया जायगा। लेकिन विवाह इसी लग्न
में हो जाना चाहिए।'

मित्र चौंका। सन्देह मिटाने के लिए कहा--भाई, इस साल
नहीं हो सकता।

पं० रामखेलावन जी घबरा कर बोले--आप जानते ही
ग्यारह साल के बाद लड़की जितना ही पिता के यहां रहती
पिता पर पाप चढ़ता है। पन्द्रह साल की है। सुन्दर जोड़ी है।
लड़की अपने घर जाय, चिन्ता कटे। जमाना दूसरा है।

मित्र की आशा बंधी । सहानुभूतिपूर्वक बोले--बड़ा जोर लगाना पड़ेगा, अगले साल हो तो बुरा तो नहीं ?

पं० रामखेलावन जी चलते हुए रुक कर बोले--अब इतना सहारा दिया है, तो खेवा पार ही कर दीजिए । बड़े आदमी ठहरे, कोई हमसे भी अच्छा तब तक आ जायगा ।

मित्र को मजबूती हुई । बोले--उनकी स्त्री का देहान्त हुआ है, अभी साल भी पूरा नहीं हुआ । बरखी से पहले तो मंजूर न करेंगे । लेकिन एक उपाय है, अगर आप करें ।

'आप जो भी कहें हम करने को तैयार हैं, भला हमें ऐसा दामाद कहां मिलेगा ?'

'बात यह कि कुल सराधें एक ही महीने में करानी पड़ेंगी और फिर ब्रह्म-भोज भी तो है, और बड़ा । कम-से-कम तीन हजार ख़र्च होंगें । फिर तत्काल विवाह । आप हजार रुपये भी दीजिये । पर उन्हें नहीं । अरे रे इसे वह अपमान समझेंगे । हम दें । इससे आपकी इज्जत बढ़ेगी, आखिर हमें बढ़कर उनसे कहना भी तो है कि बराबर की जगह है ? हजार जब उनके हाथ पर रक्खेंगे कि आपके ससुरजी ने बरखी के खर्च के लिए दिए हैं, तब यह दस हजार के इतना होगा, यही तो बात थी । वह भी समझेंगे ।'

पं० रामखेलावन जी दिल से कसमसाये, पर चारा न था । उतरे गले से कहा--अच्छी बात है । मित्र ने कहा--तो रुपये कब तक भेजिएगा ? अच्छा, अभी चलिए; देख तो लीजिये, लेकिन विवाह की बात-चीत न कीजिएगा, नहीं तो निकाल ही देंगे । समझिए--पत्नी मरी है ।

रामखेलावन दबे। धीरे-धीरे चलते गये। लड़की कुछ पढ़ी भी है? पढ़ती तो थी--तीन साल हुए, जब मैं गया था गवाही थी--मौका देखने के लिए?--मित्र ने पूछा।

लड़की तो सरस्वती है। आपने देखा ही है। संस्कृत पढ़ी है। ठीक है। देखिए, बाबा विश्वनाथ हैं।--मित्र की तरह पर उतरे गले से कहा।

रामखेलावन जी डरे कि बिगाड़ न दे। दिल से जानते थे बदमाश है, उनकी तरफ से झूठ गवाही दे चुका है रुपये लेकर लेकिन लाचार थे; कहा--हम तो आप में बाबा विश्वनाथ को ही देखते हैं। यह काम आपका बनाया बनेगा।

मित्र हँसा। बोला--कह तो चुके। गाढ़े में काम न दे, वह मित्र नहीं--दुश्मन है। सामने देख कर--वह देखिए, वह शास्त्री जी का ही मकान है, सामने। था वह किराये का मकान। अच्छी तरह देख कर कहा--हैं नहीं बैठक में; शायद पूजा में हैं।

दोनों बैठक में गये। मित्र ने पं० रामखेलावन जी को आश्वासन देकर कहा--आप बैठिए। मैं बुलाये लाता हूँ।

पं० रामखेलावन जी एक कुर्सी पर बैठे। मित्रवर आवाज देते हुए जीने पर चढ़े।

जिस तरह मित्र ने यहां रोब गांठा था, उसी तरह शास्त्री जी पर गांठना चाहा। वह देख चुका था, शास्त्रीजी खिजाब लगाते हैं, अर्थ विवाह के सिवा दूसरा नहीं। शास्त्री जी बढ़-बढ़ कर बातें करते हैं, यह मौका बढ़ कर बातें करने का है। उसका मंत्र है, काम निकल जाने पर बेटा बाप का नहीं होता। उसे काम निकालना है;

शास्त्री जी ऊपर एकान्त में दवा कूट रहे थे। आवाज पहचान कर बुलाया। मित्र ने पहुँचने के साथ देखा--खिजाब ताजा है। प्रसन्न होकर बोला--मेरी मानिए, तो वह ब्याह कराऊँ, जैसा कभी किया न हो, और बहू अप्सरा, संस्कृत पढ़ी, रुपया भी दिलाऊँ।

शास्त्री जी पुलकित हो उठे। कहा--आप हमें दूसरा समझते हैं? इतनी मित्रता--रोज की उठक-बैठक, आप मित्र ही नहीं--हमारे सर्वस्व हैं। आपकी बात न मानेंगे तो क्या रास्ता चलते की मानेंगे? आप भी।

'आपने अभी स्नान नहीं किया शायद? नहा कर चन्दन लगाकर अच्छे कपड़े पहन कर नीचे आइए। विवाह करनेवाले जमींदार साहब हैं। वहीं परिचय कराऊँगा! लेकिन अपनी तरफ से कुछ कहिएगा मत। नहीं तो, बड़ा आदमी है, भड़क जायगा। घर की शेखी में मत भूलिएगा। आप-जैसे उसके नौकर हैं। हां, जन्म-पत्र अपना हर्गिज न दीजिएगा। उम्र का पता चला तो न करेगा। मैं सब ठीक कर दूंगा। चुपचाप बैठे रहिएगा। नौकर कहां है?'

'बाजार गया है।'

'आने पर मिठाई मँगवाइएगा। हालां कि खायगा नहीं। मिठाई से इनकार करने पर नमस्कार करके सीधे ऊपर का रास्ता नापिएगा। मैं भी यह कह दूंगा, शास्त्री जी ने आधे घंटे का समय दिया है।'

शास्त्री गजानन्द जी गद्गद् हो गये। ऐसा सच्चा आदमी यह पहला मिला है, उनका दिल कहने लगा! मित्र नीचे उतरा और मित्र से गम्भीर होकर बोला--पूजा में हैं, मैं तो पहले ही समझ गया था। दस मिनट के बाद आंख खोली, जब मैंने घंटी टिनटिनाई। जब

से स्त्री का देहान्त हुआ है, पूजा में ही तो रहते हैं। सिर हिला कर कहा—चलो। देखिए, बाबा विश्वनाथ हो हैं—हे प्रभो। शरणागत, शरण ! तुम्हीं हो—बाबा विश्वनाथ !—कहते हुए मित्र ने पलकें मूंद लीं।

इसी समय पैरों की आहट मालूम दी। देखा, नौकर आ रहा था। डांटकर कहा—पंखा झल। शास्त्री जी अभी आते हैं।

नौकर पंखा झलने लगा। वैद्य का बैठका था ही। पं० रामखेलावन जी प्रभाव में आ गये। आधे घंटे बाद, जीने में खड़ाऊँ की खटक सुन पड़ी। मित्र उठकर हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया, उँगली के इशारे पं० रामखेलावन जी को खड़ा हो जाने के लिए कह कर। मित्र की देखा-देखी पंडित जी भी भक्तिपूर्वक हाथ जोड़ लिये। नौकर अचंभे से देख रहा था। ऐसा पहले नहीं देखा था।

शास्त्री जी के आने पर मित्र ने घुटने तक झुक कर प्रणाम किया। पं० रामखेलावन जी ने भी मित्र का अनुसरण किया। 'बैठिए, गदाधर जी,' कोमल सभ्य कंठ से कह कर गजानन्दजी अपनी कुर्सी पर बैठ गये। वैद्य जी की बढ़िया गद्दीदार कुर्सी बीच में थी। पं० रामखेलावन जी आश्चर्य और हर्ष से देख रहे थे। आश्चर्य इसलिए कि शास्त्री जी बड़े आदमी तो हैं ही, उम्र भी अधिक नहीं, २५ से ३० की कहने की हिम्मत नहीं पड़ती।

शास्त्री जी ने नौकर को पान और मिठाई ले आने के लिए भेजा और स्वाभाविक बनावटी विनम्रता के साथ मित्रवर गदाधर से आगन्तुक अपरिचित महाशय का परिचय पूछने लगे। पं० गदाधर जी बड़े उदात्त कंठ से पं० रामखेलावन जी की प्रशंसा कर चले,

पर किस अभिप्राय से वह गये थे, यह न कहा । कहा --महाराज ! आप एक अत्यन्त आवश्यक गृह-धर्म से मुक्त होना चाहते हैं ।

पलकें मूंदते हुए, भावावेश में, शास्त्री जी ने कहा--काशी तो मुक्ति के लिए प्रसिद्ध है ।

'हां, महाराज !'--मित्र ने और आविष्ट होते हुए कहा--'वह तो सब से बड़ी मुक्ति है, पर यह साधारण मुक्ति ही है, आप जैसे बाबा विश्वनाथ के परमसिद्ध भक्त स्वीकार-मात्र से इस भव-बंधन से मुक्ति दे सकते हैं ।'--कहकर हाथ जोड़ दिये । पं० रामखेलावन जी ने भी साथ दिया ।

हां, नहीं, कुछ न कह कर एकान्त धार्मिक दृष्टि को परमसिद्ध पं० गजानन्द जी शास्त्री पलकों के अन्दर करके बैठे रहे ।

इस समय नौकर पान और मिठाई ले आया । शास्त्री जी ने खटक से आंखें खोल कर देखा, नौकर को शुद्ध जल ले आने के लिए कह कर बड़ी नम्रता से पं० रामखेलावन जी को जलपान करने के लिए पूछा । पं० रामखेलावन जी दोनों हाथ उठा कर जीभ काट कर, सिर हिलाते हुए बोले--नहीं-नहीं, महाराज, यह तो अधर्म है । चाहिए तो हमें कि हम आपकी सेवा करें, बल्कि आपके सेवा-सम्बन्ध में सदा के लिए.......

अहाहा ! क्या कही ! क्या कही !--कह कर, पूरा दोना उठा कर एक रसगुल्ला मुंह में छोड़ते हुए मित्र ने कहा--बाबा विश्वनाथजी के वर से काशी का एक-एक बालक अन्तर्यामी होता है, फिर उनकी सभा के पारषद शास्त्री जी तो...

शास्त्री जी अभिन्न स्नेह की दृष्टि से मित्र को देखते रहे। मित्र ने,

स्वल्पकाल में रामभवन का प्रसिद्ध मिष्ठान्न उदरस्थ कर जलपान के पश्चात् मगही बीड़ों की एक नत्थी मुखव्यादान कर यथास्थान रक्खी। शास्त्री जी विनयपूर्वक नमस्कार कर जीना तै करने को चले। उनके पीठ फेरने पर मित्र ने रामखेलावनजी को पंजा दिखाकर हिलाते हुए आश्वासन दिया। शास्त्री जी के अदृश्य होने पर इशारे से पं० राम-खेलावन जी को साथ लेकर वासस्थल की ओर प्रस्थान किया।

रामखेलावनजी के मौन पर शास्त्री जी का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ चुका था। कहा--अब हमें इधर से जाने दीजिए; कल रुपये लेकर आयेंगे। लेकिन इसी महीने विवाह हो जाय।

इसी महीने,--इसी महीने--गंभीर भाव से मित्र ने कहा--जन्मपत्र लड़की का लेते आइएगा। हां, एक बात और है। बाकी डेढ़ हजार में बारह सौ का जेवर होना चाहिए, नया; आइएगा, हम खरीदवा देंगे। --दल्लाली की सोचते हुए कहा--आपको ठग लेगा। आप इतना तो समझ गये होंगे कि इतने के बिना बनता नहीं, तीन सौ रुपये रह जायंगे। खिलाने-पिलाने और परजों को देने को बहुत हैं। बल्कि कुछ बच जायगा आपके पास। फिजूल खर्च हो, यह मैं नहीं चाहता। इसीलिए ठोस-ठोस कामवाला खर्च कहा। अच्छा, नमस्कार!

(४)

शास्त्री जी का ब्याह हो गया। सुपर्णा पति के साथ है; शास्त्रीजी ब्याह करते-करते कोमल हो गये थे। नवीना सुपर्णा को यथाभ्यास सब प्रकार प्रीत रखने लगे।

बाग से लौटने पर सुपर्णा के हृदय में मोहन के लिए क्रोध पैदा हुआ। घरवालों ने सख्त निगरानी रखने के अलावा, डर के मारे उससे कुछ नहीं

कहा। उसने भी विरोध किये बिना विवाह के बहाव में अपने को बहा दिया। मन में यह प्रतिहिंसा लिये हुए कि मोहन इस बहते में मिलेगा और उसे हो सकेगा तो उचित शिक्षा देगी। शास्त्री जी को एकान्त भक्त देखकर मन में मुस्कुराई।

सुपर्णा का जीवन शास्त्रीजी के लिए भी जीवन सिद्ध हुआ। शास्त्री जी अपना कारोबार बढ़ाने लगे। सुपर्णा को वैद्यक की अनुवादित हिंदी-पुस्तकें देने लगे, नाड़ी-विचार चर्चा आदि करने लगे। उस आग में तृण की तरह जल-जलकर जो प्रकाश देखने लगे, वह मर्त्य में उन्हें दुर्लभ मालूम दिया। एक दिन श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी के नाम से स्त्रियों के लिए बिना फीसवाला रोग-परीक्षणालय खोल दिया--इस विचार से कि दवा के दाम मिलेंगे, फिर प्रसिद्धि होने पर फीस भी मिलेगी।

लेकिन ध्यान से सुपर्णा के पढ़ने का कारण कुछ और है। शास्त्रीजी अपनी मेज की सजावट तथा प्रतीक्षा करते रोगियों के समय काटने के विचार से 'तारा' के ग्राहक थे। एक दिन सुपर्णा 'तारा' के पन्ने उलटने लगी। मोहन की एक रचना छपी थी। यह उसकी पहली प्रकाशित कविता थी। विषय था व्यर्थ प्रणय। बात बहुत कुछ मिलती थी। लेकिन कुछ निन्दा थी--जिस प्रेम से कवि स्वर्ग से गिर जाता है--उसकी। काव्य की प्रेमिका का उसमें वही प्रेम दर्शाया गया था। सुपर्णा चौंकी। फिर संयत हुई और नियमित रूप में 'तारा' पढ़ने लगी।

एक साल बीत गया। अब सुपर्णा हिन्दी में मजे में लिख लेती है। मोहन से उसका हाड़-हाड़ जल रहा था। एकदिन उसने पातिव्रत्य पर एक लेख लिखा। आजकल के छायावाद के सम्बन्ध में भी पढ़ चुकी थी और बहुत कुछ अपने पति से सुन चुकी थी: काशी हिन्दी के सभी वादों की भूमि है। प्रसाद काशी के ही हैं। उनके युवक पाठक शिष्य

अनेक शास्त्रियों को बना चुके हैं। पं० मज्जानन्द शास्त्री गंगा नहाते समय कई बार तर्क कर चुके हैं, उत्तर भी भिन्न मुनि के भिन्न मत की तरह अनेक मिल चुके हैं। एक दिन शास्त्री जी के पूछने पर एक ने कहा—छायावाद का अर्थ है शिष्टतावाद; छायावादी का अर्थ है सुन्दर साफ वस्त्र और शिष्ट भाषा धारण करने वाला; जो छायावादी है, वह सुवेश और मधुरभाषी है; जो छायावादी नहीं है वह काशी के शास्त्रियों की तरह अंगौछा पहनने वाला है या नंगा है।—दूसरे दिन दो थे। नहा रहे थे। शास्त्रीजी भी नहा रहे थे। छायावाद क्या है?—शास्त्रीजी ने पूछा। उन्होंने शास्त्री जी को गंगा में गहरे में ले जाकर डुबाना शुरू किया, जब कई कुल्ले पानी पी गये, तब छोड़ा; शिथिल होकर शास्त्री जी किनारे आये, तब लड़कों ने कहा—यही है छायावाद! फलतः शास्त्री जी छायावाद और छायावादी से मौलिक घृणा करने लगे थे, और जिज्ञासु षोड़शी प्रिया को समझाते रहे कि छायावाद वह है, जिसमें कला के साथ व्यभिचार किया जाता है, तरह-तरह से। आइडिया के रूप में, सुपर्णा-जैसी ओजस्विनी लेखिका के लिए इतना बहुत था। आदि से अन्त तक उसके लेख में प्राचीन पातिव्रत-धर्म और नवीन छायावादी व्यभिचार प्रचारक के कण्ठ से बोल रहा था। शास्त्री जी ने कई बार पढ़ा और पत्नी को सती समझ कर मन ही मन प्रसन्न हुए। वह लेख सम्पादक जी के पास भेजा गया। सम्पादक जी लेखिका-मात्र को प्रोत्साहित करते हैं, ताकि हिंदी की मरुभूमि सरस होकर आबाद हो, इसलिए लेख या कविता के साथ चित्र भी छापते हैं। शास्त्रिणी जी को लिखा। प्रसिद्धि के विचार से शास्त्री जी ने एक अच्छा-सा चित्र उतरवा कर भेज दिया। शास्त्रिणी जी का दिल बढ़ गया, साथ उपदेश देने वाली प्रवृत्ति भी।

इसी समय देश में आन्दोलन शुरू हुआ। पिकेटिंग के लिए

देवियों की आवश्यकता हुई--पुरुषों का साथ देने के लिए भी। शास्त्रिणी जी की मारफत शास्त्री जी का व्यवसाय अब तक भी न चमका था। शास्त्रीजी ने पिकेटिंग में जाने की आज्ञा दे दी। इसी समय महात्मा जी बनारस होते हुए कहीं जा रहे थे, कुछ घन्टों के लिए उतरे। शास्त्रीजी की सलाह से एक जेवर बेचकर, शास्त्रिणीजी ने दो सौ रुपये की थैली उन्हें भेंट की। तन, मन और धन से देश के लिए हुई इस सेवा का साधारण जनता पर असाधारण प्रभाव पड़ा। सब धन्य-धन्य कहने लगे। शास्त्रिणी जी पूरी तत्परता से पिकेटिंग करती रहीं। एक दिन पुलिस ने दूसरी स्त्रियों के साथ उन्हें भी लेकर एकान्त में, कुछ मील शहर से दूर, संध्या-समय छोड़ दिया। वहां से उनका मायका नजदीक था। रास्ता जाना हुआ। लड़कपन में वहां तक वह खेलने जाती थीं। पैदल मायके चली गईं। दूसरी देवियों से नहीं कहा, इसलिए कि ले जाना होगा और सबके लिए वहां सुविधा न होगी। प्रातःकाल देवियों की गिनती में यह एक घटीं, संवादपत्रों ने हल्ला मचाया। ये तीन दिन बाद विश्राम लेकर मायके से लौटीं, और शोकसंतप्त पतिदेव को और उच्छृंखल रूप से बड़बड़ाते हुए संवाद-पत्रों को शान्त किया--प्रतिवाद लिखा कि सम्पादकों को इस प्रकार अधीर नहीं होना चाहिए।

आन्दोलन के बाद इनकी प्रैक्टिस चमक गई। बड़ी देवियां आने लगीं। बुलावा भी होने लगा। चिकित्सा के साथ लेख लिखना भी जारी रहा। वह बिल्कुल समय के साथ थीं। एक बार लिखा--देश को छायावाद से जितना नुकसान पहुँचा है, उतना गुलामी से नहीं। इनके विचारों का आदर नोम-राजनीतिज्ञों में क्रमशः जोर पकड़ता गया। प्रोग्रेसिव राइटर्स ने भी बधाइयां दीं और इनकी हिन्दी को आदर्श मान कर

अपनी सभा में सम्मिलित होने के लिए पूछा। अस्तु, शास्त्रिणी जी दिन पर दिन उन्नति करती गईं। इसी समय नया चुनाव शुरू हुआ। राष्ट्रपति ने कांग्रेस को वोट देने के लिए आवाज उठाई। हर जिले से कांग्रेसी उम्मीदवार खड़े हुए। देवियां भी। वे मर्दों के बराबर हैं। शास्त्रिणी जी भी जौनपुर से खड़ी होकर सफल हुईं। अब उनके सम्मान की सीमा न रही। एम० एल० ए० हैं। 'कौशल' में उनके निबन्ध प्रकाशित होते थे। लखनऊ आने पर, 'कौशल' के प्रधान सम्पादक एक दिन उनसे मिले और 'कौशल'-कार्यालय पधारने के लिए प्रार्थना की। शास्त्रिणी जी ने गर्वित स्वीकारोक्ति दी।

'कौशल'-कार्यालय सजाया गया। शास्त्रिणी जी पधारीं। मोहन एम० ए० होकर यहां सहकारी है, लेकिन लिखने में हिन्दी में अकेला। शास्त्रिणी जी ने देखा। मोहन ने उठ कर नमस्कार किया। आप यहां? --शास्त्रिणीजी ने प्रश्न किया। जी हां,--मोहन ने नम्रता से उत्तर दिया --यहां सहायक हूँ। शास्त्रिणी जी उद्धत भाव से हँसीं। उपदेश के स्वर में बोलीं--आप गलत रास्ते पर थे!

इलाचन्द्र जोशी

(जन्म १६०२ ई०)

अल्मोड़े के प्रतिष्ठित ब्राह्मण जोशी-परिवार में आपका जन्म हुआ। वहीं के हाई स्कूल में आपने शिक्षा पाई और घर पर हिन्दी, संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी का अध्ययन आपने किया। अपनी रुचि तथा बड़े भाई डा० हेमचन्द्र जी जोशी के संसर्ग से आपने फ्रेंच और जर्मन भाषायें भी सीखीं। आपका विदेशी भाषाओं के मान्य लेखकों के साहित्य का अध्ययन बहुत ही अच्छा है। आप उत्तम श्रेणी के कवि, कथाकार, निबन्ध-लेखक और आलोचक माने जाते हैं। प्रारम्भ में आप अपने सहपाठियों के सहयोग से हस्तलिखित पत्रिका निकालते थे और उसके लिये कहानी और कविता लिखते थे। वही चाव आगे चल कर पल्लवित हुआ। कविता, कहानी, आलोचना और उपन्यास सभी विषयों पर आपकी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। आप अच्छे पत्र-सम्पादक भी हैं। 'विश्व-मित्र' का सम्पादन आपने योग्यतापूर्वक किया है। आज कल आप लीडर प्रेस प्रयाग से प्रकाशित होनेवाले सचित्र साप्ताहिक 'संगम' का सम्पादन कर रहे हैं।

रेल की रात

गाड़ी आने के समय से बहुत पहले ही महेन्द्र स्टेशन पर जा पहुंचा था। उसे गाड़ी के पहुँचने का ठीक समय मालूम न हो, यह बात नहीं कही जा सकती! पर जिस छोटे शहर में वह आया हुआ था वहां से जल्दी भागने के लिए वह ऐसा उत्सुक हो उठा था कि जान-बूझ कर भी अज्ञात मन से शायद किसी अबोध बालक की तरह यह समझा था कि उसके जल्दी स्टेशन पर पहुँचने से सम्भवतः गाड़ी भी नियत समय से पहले ही आ जायगी।

होल्ड-आल में बँधे हुए बिस्तरे और चमड़े के एक पुराने सूटकेस को प्लेटफार्म के एक कोने पर रखवा कर वह चिन्तित तथा अस्थिर-सा अन्यमनस्क भाव से टहलते हुए टिकट-घर की खिड़की के खुलने का इन्तजार करने लगा।

महेन्द्र की आयु बत्तीस-तेंतीस वर्ष के लगभग होगी। उसके कद की ऊँचाई साढ़े पांच फीट से कम नहीं मालूम होती थी। उस के शरीर का गठन देखने से उसे दुबला तो नहीं कहा जा सकता, तथापि मोटा वह नाम को भी न था। रंग उसका गेहुँआ था। कपाल कुछ चौड़ा, भौहें कुछ मोटी किन्तु तनी हुई, आंखें छोटी पर लम्बी, काली मूंछें घनी पर पतली और दोनों सिरों पर कुछ ऊपर को उठी थीं। वह खद्दर का एक लम्बा कुरता और खद्दर की धोती पहने था। सर पर टोपी नहीं थी। पांवों में घड़ियाल के चमड़े के बने हुए चप्पल थे। उसके व्यक्तित्व में आकर्षण अवश्य था; पर वह आकर्षण सब समय सब व्यक्तियों की दृष्टि को अपनी ओर नहीं खींचता था।

सूरज बहुत पहले डूब चुका था और शुक्ल पक्ष का अपूर्ण गोला-

कार चन्द्रमा अपने किरण-जाल से दिग-दिगन्त को स्निग्ध आलोक-छटा से विभासित करने लगा था। स्टेशन में अधिक भीड़ न थी। प्लेटफार्म पर टहलते-टहलते पूर्व की ओर चार कदम निकल जाने पर ऐसा मालूम होने लगता था कि चांदनी दीर्घ-विस्तृत समतल-भूमि पर अलस क्लान्ति की तरह पड़ी हुई है। झिल्ली-झनकार का एकान्तिक मर्मर-स्वर इस अलसता की वेदना को निर्मम भाव से जगा रहा था, जिससे महेन्द्र के हृदय की सुप्त व्याकुलता तिलमिला उठती थी।

सिगनल डाउन हो गया था। टिकट-घर खुल गया था। थर्ड क्लास का टिकट खरीद कर महेन्द्र गाड़ी का इन्तजार करने लगा। थोड़ी देर में दूर से ही सर्चलाइट के प्रखर प्रकाश से तिमिर विदारण करती हुई गाड़ी दिखाई दी और भकभक करती हुई स्टेशन पर आ खड़ी हुई।

सामने के कम्पार्टमेण्ट में केवल दो व्यक्ति बैठे थे और वे भी उतरने की तैयारी कर रहे थे। महेन्द्र एक हाथ में बिस्तर की गठरी और दूसरे हाथ में सूटकेस पकड़ कर उसी में जा घुसा। जो दो व्यक्ति कम्पार्टमेंट में थे, उनके उतरते ही एक चश्माधारी सज्जन ने दो महिलाओं के साथ भीतर प्रवेश किया। कुली ने आकर नवागन्तुक महाशय का सामान भीतर रख दिया और मजूरी के सम्बन्ध में काफी हुज्जत करने के बाद पैसे लेकर चला गया। चश्माधारी सज्जन महिलाओं के साथ महेन्द्र के सामने वाले बेञ्च पर बड़े आराम से बैठ गए। मालूम होता था कि वह बड़ी हड़बड़ी के साथ गाड़ी आने के कुछ ही समय पहले स्टेशन पहुँचे थे और घबराहट में थे कि महिलाओं को साथ लेकर यदि किसी कम्पार्टमेण्ट में जगह न मिली तो क्या हाल होगा। वह अभी तक हांफ रहे थे, जिससे

उनकी अब तक की परेशानी स्पष्ट व्यक्त होती थी। अब जब आराम से बैठने को खाली जगह मिल गई तो लम्बी एक सांस लेकर चश्मा उतार कर रूमाल से मुंह का पसीना पोंछने लगे। पसीना पोंछते-पोंछते महेन्द्र की ओर देखकर उन्होंने प्रश्न किया---शिकोहाबाद कै बजे गाड़ी पहुँचेगी, आप बता सकते हैं ?

महेन्द्र ने उत्तर दिया---जहां तक मेरा ख्याल है, बारह बजे के करीब पहुँचेगी।

महेन्द्र कनखियों से महिलाओं की ओर देख रहा था। महिलाएं उसके एकदम सामने बैठी थीं और यदि वह दृष्टि सीधी करके स्वाभाविक रूप से उन्हें देखता रहता तो भी शायद न तो चश्मा-धारी सज्जन को और न महिलाओं को कोई आपत्ति होती, पर उसे अपनी स्वाभाविक संकोचशीलता के कारण उनकी ओर स्थिर दृष्टि से देखने का साहस नहीं होता था। दोनों महिलाएँ बेपर्दा बैठी थीं। उनमें एक की अवस्था प्रायः पैंतीस वर्ष की होगी, वह एक सफेद चादर ओढ़े थी। दूसरी बाईस-तेईस वर्ष की जान पड़ती थी। वह एक गुलाबी रंग की सुन्दर सुरुचिपूर्ण साड़ी पहने थी। दोनों यथेष्ट सभ्य और सुशील जान पड़ती थीं। ज्येष्ठा को देखने से ऐसा अनुमान लगाया जा सकता था कि किसी समय वह सुन्दरी रही होगी, पर अब अस्वस्थता के कारण उनका मुखमण्डल बिलकुल निस्तेज जान पड़ता था। कनिष्ठा यद्यपि सौन्दर्य-कला की दृष्टि से सुन्दरी नहीं थी तथापि उसके मुख की व्यञ्जना में एक ऐसी सरस मधुरिमा वर्तमान थी जो बरबस आंखों को आकर्षित कर लेती थी।

आज कई कारणों से महेन्द्र का जी दिन भर अच्छा नहीं रहा। गाड़ी में बैठने तक वह चिन्तित, अन्यमनस्क तथा उदास था। पर

गाड़ी में बैठते ही शिष्ट, सुशील तथा सुन्दरी महिलाओं के साहचर्य से उसके खिन्न मन में एक सुखद सरसता छा गई। यद्यपि वह संकोच के कारण कुछ कम घबराया हुआ न था, तथापि चश्माधारी सज्जन की भोली आकृति-प्रकृति तथा सरल भाव-भंगियों से और महिलाओं की शालीनता से उसे इस बात पर धीरे-धीरे विश्वास होने लगा था कि उनके बीच किसी प्रकार का संकोच अनावश्यक ही नहीं बल्कि अशोभन भी है।

चश्माधारी सज्जन ने चश्मा उतारकर एक रूमाल से उसे पोंछते हुए पूछा—आप क्या शिकोहाबाद जा रहे हैं?

"जी नहीं, मैं दिल्ली जा रहा हूँ। आप क्या शिकोहाबाद में ही रहते हैं?"

"जी नहीं, मुझे टूंडला जाना है। मैं वहां कोर्ट में प्रेक्टिस करता हूँ। इधर कुछ दिनों के लिए घर आया हुआ था। अब अपनी 'वाइफ' को और 'सिस्टर' को लेकर वापस जा रहा हूँ। 'सिस्टर' की तबीयत ठीक नहीं रहती, इसलिए उसे हवा बदली के लिए ले जा रहा हूँ।"

एक साधारण से प्रश्न के उत्तर में इतनी बातों से परिचित होने पर महेन्द्र को नव-परिचित सज्जन की बेतकल्लुफी पर आश्चर्य हुआ और वह मन ही मन मुस्कराने लगा। उसने अनुमान लगाया कि ज्येष्ठ महिला उनकी 'सिस्टर' होंगी और कनिष्ठा 'वाइफ।'

थोड़ी देर में गाड़ी चलने लगी। कोई दूसरा यात्री उस डिब्बे में न आया। चश्माधारी महाशय गाड़ी चलने के कुछ ही देर बाद ऊंघने लगे। वे रह न सके और बंधे हुए बिस्तर को तकिया बना कर एक दूसरे बेञ्च पर लेट गए और लेटते ही खर्राटे लेने लगे। न

जाने क्यों, महेन्द्र के मन में यह विश्वास जम गया कि इन ना
परिचित महाशय का जीवन बड़ा सुखी है । उनकी बेतकल्लुफी त
उनके मुख का आत्मसंतोषपूर्ण भाव देख कर उसके मन में यह विश्वा
जमने लगा था और जब उसने उन्हें निश्चिन्त सोते हुए तथा खर्राटे भर
देखा तो उसकी यह धारणा दृढ़ हो गई ।

ज्येष्ठा महिला ने भी थोड़ी देर में ऊंघना शुरू कर दिया । व
ऊँघती जाती थी और बीच-बीच में जब जबर्दस्त हिचकोला खाती थी त
वह जाग पड़ती थी । केवल कनिष्ठा महिला पूर्णतः सजग थी । वह कभ
खिड़की से बाहर झांक कर चांदनी के उज्ज्वल आलोक में शा
'पल-पल -परिवर्तित' प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द लेती थी, कभी
ऊँघनेवाली महिला की ओर देखती थी, कभी खर्राटे भरनेवा
महाशय (शायद अपने पति) को एक बार सरसरी निगाह से दे
लेती थी और कभी महेन्द्र को स्निग्ध किन्तु विस्मय की उत्सुकता से पू
आंखों से देखने लगती थी । उन आंखों की स्थिर दृष्टि जब महे
पर आकर पड़ती थी तो उसे ऐसा मालूम होने लगता कि वह मोहावि
हुआ जा रहा है और उसकी सारी आत्मा, यहां तक कि सारा शरी
भी अपना रूप बदल रहा है और वह किसी अव्यक्त तथा अतीन्द्रि
मायावी स्पर्श से कुछ का कुछ हुआ जा रहा है । वह उस स्थिरदृ
का तेज सहन न कर सकने के करण आंखें फिरा लेता था ।

गाड़ी टटर-टट्ट टटर-टट्ट शब्द से चली जा रही थी । जाग्रत महि
की गुलाबी साड़ी का अञ्चल हवा के झोंके से सर से नीचे खिसक
उसके लहराते हुए घनकुञ्चित काले केशों की बहार दिखा रहा था
गुलाबी साड़ी भी हवा के जोर से फर-फर फहरा रही थी । महे
पूर्ण जाग्रत अवस्था में स्वप्न देखने लगा । उसे यह भ्रम होने लगा

यह महिला, जो इस समय के पहले उसके लिए एकदम अज्ञात थी और निश्चय ही सदा अज्ञात रहेगी, न जाने किस चिदानन्दमय उल्कालोक से अकस्मात् आविर्भूत होकर उसके पास आ बैठी है और गुलाबी रंग की पताका फहरा कर विश्व-विजय को निकली है और वह उसका सारथी बन कर उस अनन्तगामी रेल-रूपी रथ पर चला जा रहा है । सारा विश्व, समस्त मानवी तथा मानसी सृष्टि उसके लिए उस कम्पार्टमेंट के भीतर समा गई थी, जिसमें ऊंघनेवाली महिला तथा सोए हुए सज्जन का कोई अस्तित्व नहीं था, और उसके बाहर क्षण-क्षण में परिवर्तित होनेवाले अस्थिर माया-जगत् का चिर-चञ्चल रूप एकदम असत्य तथा सत्ताहीन-सा लगता था ।

महेन्द्र सोचने लगा कि उसने जीवन में कितनी ही स्त्रियों को विभिन्न रूपों तथा विचित्र परिस्थितियों में देखा है, पर आज का यह बिलकुल साधारण-सा अनुभव उसे क्यों ऐसा अपूर्व तथा अनुपम लग रहा है ? वह सोच ही रहा था कि फिर उस विश्व-विजयिनी ने अपनी सुन्दर विस्मित आंखों की रहस्यमयी उत्सुकता से भरी स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा । वह मन ही मन उसे सम्बोधित करते हुए कहने लगा—चिर-अज्ञाता, चिर-अपरिचिता देवी ! तुम मुझ से क्या चाहती हो ? तुम्हारी इस मर्मभेदिनी दृष्टि का क्या अर्थ है ? दैवयोग से महाकाल के इस नगण्यतम क्षण में, जिसकी सत्ता महासागर में एक क्षुद्रतम बुदबुद के बराबर भी नहीं है, हम दोनों का आकस्मिक मिलन घटित हुआ है, और महासागर में बुद्बुद् की तरह ही यह क्षण सदा के लिए विलीन हो जायगा। तथापि इतने ही अर्से में क्या तुम हम दोनों के जन्मान्तर के सम्बन्ध से परिचित हो गई ? अथवा यह सब कुछ नहीं है ? तुम्हारी आंखों की उत्सुकता का कोई मूल्य

नहीं है, मेरी विह्वल भावुकता का कोई महत्त्व नहीं है ? महत्त्वपूर्ण जो कुछ है वह है तुम्हारे पास लेटे हुए व्यक्ति का खर्राटे भरना!

शिकोहाबाद पहुँचने तक चश्माधारी सज्जन की नींद न टूटी और ज्येष्ठा महिला ऊँघती रही। पर महेन्द्र को विश्व-विजयिनी की आंखों में एक क्षण के लिए भी निद्रा-रसावेश का लेश नहीं दिखाई दिया। वह बीच-बीच में अपनी मर्म-भेदिनी दृष्टि की प्रखर उत्सुकता से उसके हृदय को अकारण निर्मम रूप से विद्ध करती चली जाती थी। फल-स्वरूप महेन्द्र की गुलाबी मोहकता भी शिकोहाबाद पहुँचने तक अखण्ड बनी रही।

शिकोहाबाद पहुँचने पर विश्व-विजयिनी ने चश्माधारी सज्जन के किञ्चित स्थूल शरीर को हाथ से हिलाते हुए जगाया। ऊँघती हुई महिला भी सँभल कर बैठ गई। कुलियों से सामान उतरवा कर चारों व्यक्ति उतर पड़े। दिल्लीवाली गाड़ी जिस प्लेटफार्म पर लगनेवाली थी, वहां को जाने के लिए पुल पार करना पड़ा। पुल पार करके वे लोग जिस प्लेटफार्म पर आए वहां कहीं एक भी बत्ती जली हुई नहीं थी। पर चूंकि सर्वत्र निर्मल चांदनी छिटक रही थी, इसलिए बत्ती की कोई आवश्यकता न जान पड़ी। गाड़ी के आने में अभी डेढ़-घंटे की देर थी। चश्माधारी महाशय एक बेञ्च पर बिस्तर फैला कर लेट गए। दोनों महिलाएँ भी नीचे रखे हुए सामान के ऊपर बैठ गईं।

चश्माधारी सज्जन ने महेन्द्र से कहा—आप भी किसी बेञ्च पर बिस्तर बिछा कर लेट जाइये।

पर कोई बेञ्च खाली नहीं थी और न महेन्द्र सोने के लिए ही उत्सुक था। आज की रेलवे यात्रा की चन्द्रोज्ज्वल रात्रि के

चिर-जाग्रत तथा चिर-जीवित स्वप्न-लोक में विचरण करा रही थी। वह प्लेटफार्म पर टहलता हुआ अपने अन्तर्पट में नव-उद्घाटित जीवन-वैचित्र्य की चहल-पहल देख कर विस्मित हो रहा था। उसे ऐसा अनुभव हो रहा था कि वह जीवन की मधुरिमा से आज प्रथम बार परिचित हो रहा है। रेलवे लाइन के उस पार दिगन्त-विस्तृत ज्योत्स्ना-राशि अपने आवेश में स्वयं पुलकित हो रही थी और सामने काफी दूरी पर दो रक्त-रञ्जित गोलाकार प्रकाश-चिह्न आकाश-दीप की तरह मानो आनन्दोज्वल रंगीन जीवन का मार्ग उसके लिए इंगित कर रहे थे। रेलगाड़ी से होकर वह अनेक बार आया था और गया था और कितने ही बार उसे रात के समय स्टेशनों पर गाड़ी के इन्तजार में ठहरना पड़ा था, पर आज की ऐन्द्रजालिक उल्लासपूर्ण अनुभूति उसके लिए एकदम नई थी। इस बार इन्द्रजाल के उद्घाटन का श्रेय जिसको था वह मायाविनी इस समय टीन की छत के नीचे की छाया में बैठी हुई थी और अंधकार में उसकी आंखों के जादू का चलना बन्द हो गया था। पर वहां पर केवल-मात्र उसका अस्तित्व ही महेन्द्र की आत्मा में मायालोक की मोहकता का सृजन करने के लिए पर्याप्त था।

वह टहलते-टहलते न मालूम किन निरुद्देश्य स्वप्नों की माया के फेर में पड़ा हुआ था कि अचानक चश्माधारी महाशय ने बेंच पर से पुकारते हुए कहा—अरे जनाब, कब तक टहलिएगा! अगर लेटना नहीं चाहते तो यहां पर बैठ तो जाइए। नींद तो अब आवेगी नहीं, इसलिए गाड़ी के आने तक गपशप ही रहे।—महाशय जी पहले ही काफी सो चुके थे, इसलिए अब नींद नहीं आती थी। महेन्द्र मुस्कराता हुआ उनके पास ही अपने सूटकेस के ऊपर बैठ गया।

महाशय जी ने कहा—आप क्या दिल्ली में कहीं मुलाजिम हैं?

'जी नहीं।'

'तब आप क्या करते हैं ?'

'यों ही आवारा फिरा करता हूँ।'

'आप खद्दर पहने हैं, क्या आप कांग्रेसमैन हैं ?'

'पहले था, अब नहीं के बराबर हूँ।'

'अब नहीं के बराबर क्यों ? कांग्रेस ने अपना मंत्रित्व कायम किया है, क्या इसीलिए आप उसके विरोधी हो उठे हैं ?'

'जी नहीं, मैं कांग्रेस का विरोधी नहीं हुआ हूँ, बल्कि कांग्रेस ही मेरे विरुद्ध हो गई है।'

'वह कैसे ?'

इस प्रश्न के उत्तर में महेन्द्र ने परम क्लान्ति का भाव दिखाते हुए कहा—अरे साहब, सुन के क्या कीजिएगा ! व्यर्थ में आपके संस्कारों को आघात पहुँचेगा। इस चर्चा को हटाइए। और किसी अच्छे विषय की चर्चा चलाइए।

स्वभावतः चश्माधारी सज्जन का कौतूहल बढ़ा। उन्होंने आग्रह के साथ कहा—फिर भी जरा सुनें तो सही। आखिर कौन-सी ऐसी बात हो गई।

महेन्द्र की सुप्त स्मृतियां तलमला उठी थीं। कनखियों से उसने देखा, प्रायः अन्धकार में बैठी हुई मायाविनी महिला का ध्यान उसी की ओर था। पल में उनके मानसिक चक्षुओं के आगे उसके सारे विगत जीवन की व्यर्थता के दुःखद संस्मरणों की झांकी चित्रपट पर क्रम से परिवर्तित होनेवाले चित्रों की तरह भासमान होने लगी। भाव के आवेश में आकर उसने कहा—अच्छा, तो सुनिए ! ग्यारह वर्ष की उम्र से

लेकर तीस वर्ष की अवस्था तक कांग्रेस के सिद्धान्तों के पीछे पागल होकर उसकी खातिर अपने जीवन और यौवन की बलि देकर भी मैं कांग्रेस के देवताओं को कभी प्रसन्न न कर सका, यह मेरे भाग्य का दोष है। फिर मैं भी सोचता हूँ कि क्या इन देवताओं को इतना निर्मम होना चाहिए था! मैंने कांग्रेस के लिए क्या नहीं किया! भूखों रह कर, पग-पग पर ठोकरें खाकर, समाज तथा परिवार की फटकारें सह कर, जीवन के सब सुखों को अपने ध्येय के लिए तिलाञ्जलि देकर, राष्ट्रीय आदर्श को ब्रह्मतत्त्व से भी अधिक महत्त्व देकर सच्ची लगन से अपनी सारी आत्मा को निमज्जित करके कांग्रेस का साथ दिया। तीन बार काफी अवधि के लिए जेल में सड़ता रहा, बार-बार पुलिस के डण्डे सर पर पड़ते रहे, जमीन-जायदाद कुर्क हो गई, माता-पिता अपनी कपूत सन्तान के कारण तबाह होकर मानसिक और शारीरिक पीड़न की पराकाष्ठा भोगकर चल बसे, पत्नी तड़प-तड़प कर, घुल-घुल अपने भाग्य को कोसती हुई मर गई। फिर भी मैं राष्ट्र के कल्याण के परम ध्येय को स्त्री, परिवार, आत्मा और परमात्मा से बहुत ऊंचा मानता हुआ सच्ची लगन से कांग्रेस का अनुयायी बना रहा। मेरी आंखें तब खुलीं जब अन्तिम बार जेलखाने में लम्बी मियाद पूरी करने के बाद थका-मांदा, मन से तथा शरीर से क्लिष्ट और क्लान्त होकर मैं बाहर आया और देखा कि जिन नेताओं के नीचे मैंने अपनी सारी आत्मा का रस निचोड़-निचोड़ कर देशहित के व्रत की कठोर साधना की थी, वे मेरे प्रति एकदम उदासीन से हो गए थे और स्वयं अपने सांसारिक स्वार्थ तथा परमार्थ की रक्षा का पूरा प्रबन्ध करते हुए, सच्चे कार्यकर्त्ताओं के रक्त और पसीने से अर्जित यश को लूट कर, त्यागी महात्मा की पदवी प्राप्त करके, परम प्रसन्न थे। अपने विगत जीवन की भयंकर भूल मुझे निर्मम रूप से दग्ध करने लगी। पर

अब उसके प्रतीकार का कोई उपाय नहीं था। एक-एक करके उन स्नेही जनों की स्मृतियां मेरे मन में उदित हो-होकर व्यथित करने लगीं, जिनकी मैं सदा अवज्ञा करता आया था। अपनी पत्नी से मैंने जीवन में शायद दो दिन भी घनिष्ठता से बातें न की होंगी। जब मैं बाहर रहता था तो उसके पत्र बराबर मेरे पास आते रहते थे और मैं सरसरी दृष्टि से उन्हें पढ़ कर अवज्ञा से फाड़ कर फेंक देता था। एक या दो बार से अधिक मैंने उसके पत्रों का उत्तर नहीं दिया और दो बार जो उत्तर दिया था वह भी चार पंक्तियों में बिलकुल रूखे-सूखे ढंग से। अब जब मैं अपने को सारे संसार में अकेला, स्नेह तथा संमवेदना से वंचित, असहाय तथा निरुपाय मालूम करने लगा तो उसकी भोली-भाली, सकरुण, स्नेह की वेदना से भरी, सहज सलोनी मूर्त्ति प्रतिपल मेरी आंखों के आगे भासित होने लगी। उसके पत्रों में सरल शब्दों में वर्णित कातर व्याकुलता के हाहाकार की पुकार मानो मेरी स्मृति के अतुल गह्वर में दीर्घ सुप्ति की घोर जड़ता के बाद अकस्मात् जागरित होकर मेरे हृदय पर जलते हुए अंगारों के गोलों से आघात करने लगी। अपने जीवन में मैं कभी किसी बात पर नहीं रोया था। माता-पिता तथा पत्नी, किसी की मृत्यु पर एक बूंद आंसू की मेरी आंखों से न निकली थी। पर अब रह-रह कर उन लोगों की याद में बिलख-बिलख कर मैं बार-बार रो पड़ता। मुझे ऐसा भास होने लगा कि आज तक मैं वास्तविक सुख-दुःखमय संसार में रहते हुए किसी भौतिक जगत् में विचरण किया करता था। अध्यात्मवादी वैज्ञानिक लोग कहा करते हैं कि इस दृश्य जगत् के भीतर ही ऐसे अनेक अदृश्य स्तर वर्तमान हैं जिनमें विभिन्न योनियों के जीव निवास करते हैं। ये अदृश्य जीव रात-दिन हमारे ही बीच में विचरण करते रहते हैं और उनके शरीर भी हाड़-मांस से बने हुए हैं, फिर भी वे हमारे स्पर्श-संघर्ष में इसलिए नहीं

आते कि उनके और हमारे स्तरों में विभिन्नता है। पहले मुझे भी ऐसा जान पड़ता था कि मैं जिस स्तर में निवास करता हूं वह मेरे पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन के स्तर से बिलकुल अलग है और वहां के जीवों से मेरा बिलकुल भी सरोकार नहीं है। पर जब कारावास की अन्तिम अवधि के बाद मैं बाहर निकला तो मुझे ऐसा जान पड़ने लगा कि किसी ने मुझे अत्यन्त निर्ममता से उस चिर-विस्मृति स्तर में ढकेल दिया है और अपने पारिवारिक जीवन की सब स्मृतियां पूर्वजन्म की सी स्मृतियों की तरह जागरित हो कर मुझे एक निराले ही पीड़न का अनुभव कराने लगी हैं। राष्ट्रगत जीवन के अस्पष्ट तथा धुंधले नीहारिका-पुञ्ज का रहस्यमय आवरण भेद कर मेरी स्नेहशीला पति-परायणा पत्नी की सकरुण पुण्यच्छवि उज्ज्वल नक्षत्र की तरह मेरी आंखों के आगे स्पष्ट भासमान होने लगी। रह-रह कर मेरा जी विकल हो उठता था और मुझे ऐसा प्रतीत होने लगता जैसे मेरे हृदय में किसी के निष्कलंक सुकुमार प्राणों की पैशाचिक हत्या का अपराध पाषाण-भार की तरह पड़ा हो। बहुत दिनों तक इस नृशंस अपराध की भयंकर अनुभूति का भूत मेरी आत्मा को अत्यन्त निष्ठुरता से दबाता रहा। अब भी यह भौतिक आतंक कभी-कभी मेरे मन में जागरित हो उठता है। फिर भी अब मैंने अपने मन को बहुत-कुछ समझा लिया है और जीवन को मैं एक नई दृष्टि से नए रूप में देखने लगा हूं और साधारण से साधारण घटना भी कभी-कभी मेरे मन में एक अलौकिक आनन्द का आश्चर्य उत्पन्न करने लगती है। किसी स्त्री को देखते ही अब मेरे हृदय में एक श्रद्धापूर्ण उत्सुकता का भाव जाग पड़ता है—ऐसा मालूम होने लगता है जैसे मैंने जीवन में पहले कभी स्त्री को देखा भी न हो और अब पहली बार इस आनन्ददायिनी रहस्यमयी जाति के अस्तित्व का अनुभव मुझे हुआ हो।

महेन्द्र का लम्बा लेक्चर समाप्त होते ही चश्माधारी सज्जन 'हा: हा:' करके ठठा कर हँसते हुए बोले--आप भी बड़े मजे के आदमी हैं। खूब!--यह कह कर वह बेंच पर आराम से लेट गए और उन्होंने आंखें बन्द कर लीं। थोड़ी देर बाद वह जोरों से खर्राटे लेने लगे।

एक लम्बी सांस लेते हुए महेन्द्र ने प्रायः अन्धकार में अस्पष्ट झलकती हुई गुलाबी साड़ी की ओर देखा। दो आंखों की मार्मिक दृष्टि की तीव्र मोहकता उस अर्द्ध-अन्धकार में भी विस्मित वेदना की उत्सुक उज्ज्वल रेखाओं को विकीरित कर रही थी। महेन्द्र पुलक-विह्वल होकर मन्त्र-मुग्ध-सा बैठा रहा।

घण्टी बजी, दिल्ली को जानेवाली गाड़ी के आने की सूचना देते हुए सिगनल डाउन हुआ। सामने रक्त-आकाश दीप के बदले हरे रंग का प्रकाश जल उठा। यह हरित् आलोक महेन्द्र के मानस-पट में साड़ी के गुलाबी रंग के साथ मिलकर एक स्निग्ध शुचि सौन्दर्य-लोक का सृजन करने लगा।

थोड़ी देर में दूर ही से गाड़ी का सर्च-लाइट दिखाई दिया। चश्माधारी महाशय महेन्द्र के जगाने पर फड़फड़ाते हुए उठे। कुलियों ने सामान सँभाल लिया। भक-भक करती हुई गाड़ी प्लेटफार्म पर आ लगी। बड़ी भीड़ थी। चश्माधारी सज्जन को महिलाओं के साथ कुली लोग इंजिन की उलटी ओर बहुत दूर तक ले गए। कहीं स्थान न पाकर अन्त में एक डिब्बे में जबरदस्ती घुस गए। महेन्द्र भी उन लोगों के साथ-साथ जा रहा था। पर जिस डिब्बे में वे लोग घुसे उस डिब्बे में स्थान का निपट अभाव देख कर वह विवश होकर एक दूसरे डिब्बे में चला गया। वहां भी काफी भीड़ थी। किसी प्रकार उसने अपने बैठने के लिए थोड़ा-सा स्थान बनाया।

गार्ड ने सीटी दी। गाड़ी चल पड़ी। महेन्द्र के मस्तिष्क में नाना अस्पष्ट भावनाएं चक्कर लगाने लगीं। दो दिन से उसे नींद नहीं आई थी। आज भी वह अभी तक सो नहीं पाया। इसलिए सोचते-सोचते वह ऊंघने लगा। ऊंघते हुए उसने देखा कि गुलाबी रंग की साड़ी द्रौपदी की चीर की तरह फैलती हुई अकारण सारे आकाश में छा गई है। सहसा दो स्थानों पर वह गगनव्यापी साड़ी फटी और उन दो छिद्रों से होकर दो वेदनाशील, तीक्ष्ण, उज्ज्वल आंखें तीर की तरह प्रखर वेग से उसकी ओर धावित होकर एक रूप में मिल कर एक बड़ी आंख के आकार में परिणत हो गईं। वह बड़ी आंख उसके शरीर को छेद कर उसके हृत्पिण्ड को छूकर फिर ऊपर आकाश की ओर तीर की तरह छूटी और आकाश में फैली हुई गुलाबी साड़ी में जा लगी और फट कर फिर से दो सुन्दर, किन्तु करुणा-विकल आंखों के आकार में विभक्त हो गईं।

टूंडला स्टेशन पर गाड़ी ठहने पर महेन्द्र पूर्णतः सचेत होकर बैठ गया। चश्माधारी महाशय दोनों महिलाओं को साथ लेकर कम्पार्टमेण्ट से बाहर उतरे और सामान को कुलियों के हवाले करके उनके साथ बाहर फाटक की ओर चले। महेन्द्र ने अपने कम्पार्टमेण्ट से अपनी विश्व-विजयिनी को देखा। वह इस उत्सुकता में था कि एक बार अन्तिम समय के लिये दोनों की चार आंखें हो जावें, पर न हुईं और गुलाबी साड़ी से आवृत सजीव प्रतिमा व्यस्त विह्वलता से आगे को निकल गई।

टूंडला से गाड़ी छूटने पर महेन्द्र के कानों में चश्माधारी सज्जन के ठठा कर हंसने का शब्द गूंजने लगा। उससे अदृष्ट की चिर-व्यंग पुकार मानों बार-बार कहती थी—हाः हाः! आप भी बड़े मजे के आदमी हैं। खूब!

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

(जन्म--१८९९ ई०)

वाजपेयी जी का जन्म कानपुर के एक साधारण ब्राह्मण-परिवार में हुआ। आपने हिंदी मिडिल तक शिक्षा पाई। मिडिल पास करने के बाद आप अपने गांव की ही अपर प्राइमरी पाठशाला में अध्यापक हो गए। परन्तु आपको इस जीवन से संतोष नहीं था, इसलिए कानपुर चले गए। वहां होमरूल लीग की लाइब्रेरी में लाइब्रेरियन हो गए। इसी समय इन्हें हिंदी-साहित्य का अध्ययन करने का अवसर मिला और लिखने की प्रेरणा भी उत्पन्न हुई। यह १९१७ की बात है। उस समय प्रायः आप कविताएं लिखा करते थे। फिर जीवन के कटु अनुभवों ने आपको गद्य में लिखने के लिए प्रेरित किया। १९२४ में पहली कहानी 'माधुरी' में छपी। अब तक लगभग तीन सौ कहानियां, १० उपन्यास, एक नाटक तथा १५ विविध विषयक अन्य छोटी-मोटी पुस्तकें लिख चुके हैं। आपकी कविताओं का एक संग्रह भी हाल में प्रकाशित हुआ है। चोटी के कहानी-लेखकों में आपका अपना स्थान है। आपकी शैली से प्रभावित आज दिन हिन्दी के अनेक कहानी-लेखक देखे जाते हैं।

निदिया लागी

कालेज से लौटते समय मैं अक्सर अपने नये बँगले को देखता हुआ घर आया करता। उन दिनों वह तैयार हो रहा था। एक ओवरसियर साहब रोज़ाना, सुबह-शाम, देख-रेख के लिए आ जाते थे। वे मझले-भैया के सहपाठी मित्रों में से थे। लम्बा कद, गौर वर्ण, लम्बी नाक--खूबसूरत और मुख पर उल्लास का अभिनव आलोक। गम्भीर भी होते, तो प्रायः मालूम यही होता कि मुसकरा रहे हैं।

नाम उनका बेनीमाधव था। और अवस्था? अवस्था उनकी अब पैंतालीस वर्ष से ऊपर जान पड़ती थी। मिस्त्री और मजदूर, सब मिला कर, कोई पचीस-तीस व्यक्ति काम कर रहे थे। मजदूरों में कुछ स्त्रियां भी थीं।

एक दिन मैंने देखा छत कूटी जा रही है। कूटनेवालों में स्त्रियां ही हैं; अधिकांश रूप से। दो पुरुष भी हैं, लेकिन वे जरा हटकर, एक कोने में हैं। स्त्रियां छत कूटती हुई एक गाना गा रही हैं। यों उनका गायन कुछ विशेष मधुर नहीं है, किन्तु अनेक सम्मिलित स्वरों के बीच में एक अत्यन्त कोमल स्वर भी है। तभी मैं उनके पास जाने को तत्पर हो गया। मुझे देखना था कि वह जो गाना गा रही है और जिसका कंठ इतना मधुर है, उसका रूप भी कुछ है या नहीं। मैं मानता हूँ कि यह मेरी दुर्बलता थी; किन्तु उन दिनों मेरी समझ में यह बात कैसे आती!

एकाएक पहले तो ओवरसियर साहब सामने आ गये। बोले—आ गये छोटे-भैया!

मैंने उनकी ओर देख कर जरा-सा मुसकरा दिया और कहा—जान तो मुझे भी ऐसा ही पड़ता है।

हँसते हुए उन्होंने तब कहा—लेकिन दर-असल आप आये नहीं। आप समझते हैं दुनिया की नजरों में जो आप यहां मौजूद हैं, इतने से ही मैं यह मान लूं कि आप पूरे सोलह-आने-भर आ गये हैं? और अगर कहीं आप अपना 'कुछ' छोड़ आये हों, तो?

वे तब इतना कहते-कहते मेरे निकट—बिलकुल निकट आ गये। बोले—जब मैं अपने इंजीनियरिंग कालेज में पढ़ता था, तब मैं कहता था, सच जानिए, आपको देख कर जब मुझे उसकी याद आ जाती है, तो जी मसोसने लगता है। तबीयत चाहती है कि अपने को क्या कर डालूं, जिससे कुछ शान्ति मिले। लेकिन फिर यही सोचकर सन्तोष कर लेता हूँ कि मनुष्य की तृष्णा का अन्त नहीं है। न आकाश में, न महासागर के अतल में, न गिरि-गह्वर में—संसार में कहीं भी, कोई ऐसा स्थान नहीं मिल सकता, जहां पहुँच कर मनुष्य कामना से मुक्त हो सके।

बेनी बाबू के मुख पर अगमनीय गम्भीरता की छाप थी, यद्यपि अपने विमल हास से वे उसे छिपाना चाहते थे। मैंने कहा—आप मेरे अध्ययन की चीज हैं, यह मुझे आज मालूम हुआ।

एक ओर चलते हुए वे बोले—अभी आपको कुछ भी नहीं मालूम हुआ है।

किन्तु बेनी बाबू की इतनी-सी बात से मेरे मन का कुतूहल अभी शान्त नहीं हो पाया था, इसलिए मैं उनके पीछे-पीछे चल दिया।

घूमते, काम देखते हुए, एक मिस्त्री के पास जाकर वे खड़े हो गये। वह आर्च (Arch) बनाने जा रहा था। बोले—देखो

जो मिस्त्री, पत्तियां और फूल बनाना ही काफी नहीं है। टहनी और उसमें उभड़े हुए कांटे भी दिखाने होते हैं। माना कि नकल नकल है, असल चीज वह कभी हो नहीं सकती; किन्तु असल चीज की जो असलियत है, गुण के साथ दुर्गुण भी, नकल में यदि उसको स्पष्ट न किया जा सका, तो वह नकल भी नकल नहीं हो सकती। बनाने में तुमको अगर दिक्कत हो, तो मैं नमूना दे जा सकता हूं; लेकिन मेरी तबीअत की चीज अगर तुम न बना सके, तो मैं कह नहीं सकता कि आगे चल कर तुम्हें उसका क्या फल भोगना पड़ेगा।

मिस्त्री वृद्ध था। उसके बाल पक गये थे। उसकी आंखों पर पुरानी चाल का चश्मा चढ़ा हुआ था। बड़े गौर से वह बेनी बाबू की ओर देखने लगा; लेकिन उसने कुछ कहा नहीं। तब बेनी बाबू वहां और अधिक ठहर न सके।

अब वे आंगन में एक टब के पास खड़े थे। नल का पानी टब में गिर रहा था। मैं थोड़ा पीछे था। जब उनके निकट पहुंचा, तो वे बोले—आपने इस मिस्त्री की आंखों को देखा? वह कुछ कह नहीं सका था; लेकिन उसकी आंखों ने जो बात कह दी, मैं उसे सहन नहीं कर सका। वह समझता है, मैंने फल भोगने की बात कह के उसको चोट पहुंचाने, उसका अपमान करने, की चेष्टा की है; किन्तु वह नहीं जानता, जान भी नहीं सकता, कि मेरी बात का कोई उत्तर न देकर उसने मुझ पर कैसा भयंकर आघात किया है? एक वह नहीं, मालूम नहीं, कितने आदमी आपको ऐसे मिल सकते हैं, जो मुझे गलत समझते हैं। आज पन्द्रह वर्षों से, बल्कि और भी अधिक काल से, मुझे जहां कहीं भी मकान बनवाने का काम पड़ा है, मैंने उस मिस्त्री को अवश्य बुलाया है। मैंने काम के सम्बन्ध में कभी-कभी तो उसे इतना

डांटा है कि वह रो दिया है, तो भी कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि उसने मुझे तीखा उत्तर दिया हो। उसका वही पुराना चश्मा है, वैसी ही भीतर तक प्रविष्ट हो जाने वाली आंखें। उसने कभी मजदूरी मुझसे तय नहीं की। और कभी ऐसा अवसर नहीं आया, जब काम समाप्त हो जाने पर, मजदूरी के अतिरिक्त, उसने दस-पन्द्रह रुपये पुरस्कार न प्राप्त किये हों...किन्तु इन सब बातों को अच्छी तरह समझते हुए भी डांटना तो पड़ता ही है, क्योंकि उससे कलाकार की सुप्त कल्पना को जागरण मिलता है।

अब बेनी-बाबू घूमते-फिरते वहीं जा पहुँचे, जहां स्त्रियां छत कूट रही थीं। उन्होंने एकाएक जो हैटधारी हम लोगों को देखा, तो उनका गाना बन्द हो गया। तब मेरे मन में आया कि इससे तो यही अच्छा था कि हम लोग यहां न आते। और कुछ नहीं, तो संगीत का वह मृदुल स्वर तो कानों में पड़ता। और वह संगीत भी कैसा?—एकदम असाधारण। उसकी टेक तो कभी भूल ही नहीं सकती। जैसी नन्हीं वैसी ही भोली!—

'निदिया लागी—मैं सोय गई गुइयां!'

बेनी बाबू ने खड़े-खड़े इधर-उधर देखा और कहा—देखो इधर इस तरह नहीं पीटना होता कि चोटों की आवाज का सिलसिला बिगड़ जाय। मुगरी की आवाज, सारी-की सारी एक बारगी, एक साथ, होनी चाहिए। और देखो, आज इस छत की पिटाई का काम खतम हो जाना चाहिए।

रामलखन बोला—सरकार, आज कैसे पूरा होगा? दिन ही कितना रह गया है!

'बको मत रामलखन ! काम नहीं पूरा होगा, तो पैसा भी पूरा नहीं होगा। समझते हो न? काम का ही दूसरा नाम पैसा है।'

रामलखन चुप रह गया।

बेनी-बाबू भी चल दिये। लेकिन चलने के साथ ही पिटाई की आवाज, उसकी धमक, उसकी गति और चूड़ियों की खनक और 'निदिया लागी' का स्वर अतिशय गम्भीर हो गया। मैंने बेनी-बाबू से कहा—आप काम लेना खूब जानते हैं।

वे हँसते-हँसते बोले—मैं जानता बहुत-कुछ हूँ छोटे-भैया, लेकिन जानना ही काफी नहीं होता। ज्ञान से भी बढ़ कर जो वस्तु है, उसको भी तो जानना होता है। और उसे मैं अभी तक जान नहीं सका।

मैंने पूछ दिया—वह क्या ?

वे बोले—सत्य का ग्रहण।

मैंने कहा—सिर्फ पहेली न कहिए, उसे समझाते भी चलिए।

वे तब एक पेड़ के नीचे, सड़क पर ही एक ओर, कुर्सियां डलवा कर, बैठ गये और बोले—ये स्त्रियां, जो यहां मजदूरी करने आई हैं, कितने सबेरे घर से चली हैं और कब पहुँचेंगी! कोई घर में अपने बच्चों को छोड़ आई हैं, किसी का पति खेत में काम करने गया होगा। किसी के कोई होगा ही नहीं। और काम करते-करते इनको अगर उनकी सुधि आ ही जाती है और काम की गति में क्षणिक मन्दता उत्पन्न हो ही उठती है, तो वह भी आज की हमारी इस सामाजिक व्यवस्था को सहन नहीं है। और तारीफ यह है कि हम समझ लेते हैं कि हम बड़े ज्ञानी हैं। हम यही देख कर सन्तोष कर लेते हैं कि जो स्त्री यहां पर मजदूरी कर रही है, हमको सिर्फ उसी से मतलब है, उसी की

मजदूरी हम दे रहे हैं; किन्तु हम यह सोचने की जरूरत ही नहीं सम-
झते कि वह स्त्री अपने जगत् को लेकर क्या है। जो बच्चा उसने
उत्पन्न किया है, वह भी तो अपने पालन-पोषण का भार अपनी मां
पर रखता है; पर हम लोग यहां तक सोचना ही नहीं चाहते। हमारे
स्वार्थों ने सत्य को कितनी निरंकुशता के साथ दबा रखा है!

बेनी-बाबू चुप हो गये। एक ओर खुले अम्बर में, विहंगावलि
अपने पंखों को फैलाए, नितान्त निर्बन्ध, हंसी-खुशी के साथ, उड़ी
चली जा रही थीं। एक साथ हम दोनों उधर देखने लगे। किन्तु बराबर
उधर देखने के बदले मैंने एक बार फिर बेनी-बाबू को ही देखा।
उनके मस्तक के ऊपर चँदोवा खुल आया था। उसमें नन्हें-नन्हें
एक-आध बाल ही अवशिष्ट थे। वे अब सांध्य आलोक में चमक
रहे थे। उनकी खुली आंखें यद्यपि चश्मे के भीतर थीं, तो भी मुझे
प्रतीत हुआ, जैसे वे कुछ और भी फैल गई हैं। इसी क्षण वे बोले—
अब यह काम आगे न करूँगा। लेकिन...।

उनका यह वाक्य अधूरा रह गया। जान पड़ा, वे कोई निश्चय
कर रहे हैं और रुक-रुक जाते हैं। रुक इसलिए नहीं जाते कि रुकना
चाहते हैं। रुक इसलिए जाते हैं कि रुकना नहीं चाहते।

तभी वे फिर बोले—तुम उस बात को अभी समझ नहीं सकोगे।
लेकिन ऐसी बात नहीं है कि उस बात के समझने की तुम्हारी क्षमता
कुन्द है। देखता हूँ, तुम विचारशील हो और तभी मैं कहना भी चाहता
हूँ कि आदमी तो अपने विश्वासों को लेकर खड़ा है, लेकिन जो आदमी
अपने विश्वासों को लेकर भी नहीं खड़ा होता, वह भी क्या आदमी है?
वह आदमी नहीं है। वह पशु है—पशु। लेकिन कैसे कहूँ कि पशु भी
अपने विश्वासों के विरुद्ध खड़ा हो सकनेवाला प्राणी है। वह तो

वह तो, बल्कि अपनी प्रवृत्तियों का ही स्वरूप होता है। और यह मनुष्य छि: इससे भी अधम क्या कोई स्थिति है!

मैंने देखा, यह वातावरण तो अब अतिशय गम्भीर हो गया है! और उन दिनों इस तरह की निरी गम्भीरता मुझे जरा कम पसन्द आती थी; बल्कि साथी लोग जब ऐसे व्यक्तियों का मजाक उड़ाते, तो उस दल में मैं भी सम्मिलित हो जाया करता था। बात यह थी कि उस समय एक दूसरा दृष्टिकोण हम लोगों के सामने रहता था। हम सब यही मानते थे कि जीवन तो एक हँसी-खेल की चीज है। सर्वथा अनिश्चित और चरम अकल्पित जीवन के थोड़े-से दिनों को रोना रोने या सोच-विचार में निपीड़ित-निर्जीव कर डालने में कौन-सी महत्ता है?

इसीलिए मैंने कह दिया--इन लोगों के गाने में बीच का यह--हां, यह स्वर मुझे बड़ा कोमल लगता है।

निमेषमात्र में, सम्यक् बदल कर--

'जाओ नजदीक से जाकर सुन आओ। हैट यहीं रख जाओ। फिर भी अगर वे गाना बन्द कर दें, तो कहना--काम में हर्ज नहीं होना चाहिए; क्योंकि गाने के साथ छत कूटने का काम अधिक अच्छा होता है, ऐसा मैं सुनता आया हूँ।'--बेनी-बाबू ने मुसकराते हुए कहा।

मैं चला गया। चुपचाप--बहुत धीरे-धीरे, पैर सँभाल-सँभाल कर। तो भी उनको मालूम हो ही गया। काम की गति में कुछ तीव्रता जरूर जान पड़ी, किन्तु गाना बन्द हो गया।

मैंने कहा--तुम लोगों ने गाना क्यों बन्द कर दिया?

खिलखिल के कुछ मदिर कलहास! कभी इधर--कभी उधर।

किसी ने अपनी सखी से कहा, उसे जरा-सा धक्का देकर--गा री पत्ती, चुप क्यों हो गई ?

'तू ही क्यों नहीं गाती ? छोटे-भैया के सामने...'

'हूँ, बड़ी लाजवन्ती बनी है ! जैसे दुलहे का मुंह ही न देखा हो!'

मैंने कहना चाहा--लड़ो मत। मैं चला जाता हूँ। लेकिन मैं कुछ कह न सका। चुपचाप चला आया। चला तो आया; किन्तु उस खिल-खिल और अपने सामने गाने से लजानेवाली उस पत्ती को मैंने फिर देखने की चेष्टा नहीं की।

कैसे उल्लास के साथ आया था; किन्तु कैसा भीषण द्वन्द्व लेकर चल दिया।

बेनी-बाबू ने बड़े प्यार से पूछा---कह जाओ।

मैंने कहा--क्या कह जाऊं ? वही बात हुई। उन लोगों ने गाना बन्द कर दिया।

'फिर तुमने वह बात नहीं कही ?'

'उसे मैं कह नहीं सका।'

'तो यह कहो कि तुम खुद ही लजा गये !'

मैं चुप रहा। जिसने कभी चोरी नहीं की, जो यह भी नहीं जानता कि चोरी की कैसे जाती है, वह चीज क्या है, यदि वह कभी उसके दलदल में पड़ जायगा, तो उससे सफाई के साथ निकल ही कैसे सकेगा ? वह तो निश्चयपूर्वक फंस जायगा। वही गति मेरी हुई। क्या मैं जानता था कि बेनी-बाबू मुझे ऐसी जगह ले जायंगे, जहां पहुंच कर फिर मुक्ति का कोई मार्ग ही दृष्टिगत न होगा ?

बेनी-बाबू बोले---अच्छा, एक काम कर आओ। रामलखन से कहना, अगर आज यह काम किसी तरह पूरा होता न दीख पड़े, तो कल ही पूरा कर डालना ठीक होगा। बेनी-बाबू से मैंने कह दिया है कि मजदूरों से उतना ही काम लिया जाय, जितना वे कर सकें।

मैं उनकी ओर देखता रह गया। मेरे मन में आया---यह आदमी है कि देवता।

मुझे अवाक् देख कर उन्होंने पूछा---सोचते क्या हो?

मैंने कहा---कुछ नहीं। इतने दिन से आप का परिचय प्राप्त है; किन्तु कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि आप को इतने निकट से देख पाता।

वे बोले---यह सब कोई चीज नहीं है छोटे-भैया! न्याय और सत्य से हम कितने दूर रहते हैं, शायद हम खुद नहीं जानते।...अच्छा जाओ, जो काम तुम्हें दिया गया है, उसको पूरा तो कर आओ।

मैं फिर उसी छत पर जा पहुँचा; पर अब की बार मैंने देखा, गाना चल रहा है। लेकिन एक ही गाना तो दिन-भर चल नहीं सकता। तो भी मुझे उसी गाने के सुनने की इच्छा हो आई। साथ ही मैंने यह भी सोच लिया कि अभी कुछ समय पहले बेनी-बाबू ने कहा था, मनुष्य की कामनाओं का अन्त नहीं है।

मैंने जो रामलखन को बुलवाया, तो वह सिटपिटा गया। बोला छोटे सरकार, क्या हुक्म है?

मैंने कहा---बेनी-बाबू क्या तुम लोगों से कुछ ज्यादा सख्ती से काम लेते हैं?

वह चुप ही बना रहा, सत्य-कृष्ण कुछ भी नहीं कह सका। तब मैंने समझ लिया, डर के कारण वह उनके विरुद्ध कुछ कहना नहीं चाहता,

इसीलिए चुप हैं; लेकिन जब मैंने कहा--मैं उनसे कुछ कहूँगा नहीं। मैं तो सिर्फ असल बात जानना चाहता हूँ। बिलकुल निडर होकर बतलाओ।

तब उसने कहा--काम सख्ती से लेते हैं, तो मजदूरी भी तो दो पैसा ज्यादा और वक्त पर देते हैं। ऐसे मालिक मिलें तो मैं जिन्दगी-भर उनकी गुलामी करूँ।

मैंने कहा--तुम ठीक कहते हो। उन्होंने मुझसे कहला भेजा है कि अगर काम आज नहीं पूरा होता है, तो कल ही पूरा कर डालना। ज्यादा तकलीफ उठाने की जरूरत नहीं है।

रामलखन बोला--पर छोटे भैया, उन्होंने पहले ही बहुत सोच-समझ कर हुकुम दिया था। काम अगर आज पूरा न होता, तो कूटने के लिए चूना कल हम लोगों को इस हालत में न मिलता। वह सूख जाता। तब उस पर कुटाई ठीक तरह से कैसे होती? इसके सिवा कल गुड़ियों का त्योहार है--छुट्टी का दिन है। मैंने पीछे जो सोचा, तो मुझे इन सब बातों का ख्याल आ गया। काम पूरा हो जायगा। बहुत-कुछ तो हो भी गया है। थोड़ा-सा ही बाकी रह गया है। वह भी शाम होते-होते पूरा हो जायगा। तकलीफ तो थोड़ी हुई--किसी-किसी के हाथों में छाले पड़ गये; लेकिन यह बात आप उनसे जाकर न कहें सरकार, इतनी बात मेरी भी रख लें।

रामलखन की बात मान कर सचमुच मैंने बेनी-बाबू से यह नहीं कहा कि स्त्रियों के हाथों में छाले पड़ गये हैं।

किन्तु उसी दिन, सायंकाल।

एक ओर जीने की दीवार गिर गई। छुट्टी हो गई थी। मज-

दूर लोग इधर-उधर से आ आकर जाने लगे थे कि अररर धम् का भीषण स्वर और एक क्षीण 'आह !'

लोग दौड़ पड़े। लोग गिने भी गये। सब मिलाकर उन्तीस आदमी आज काम पर थे; लेकिन हैं केवल सत्ताइस !

—तो दो आदमी दब गये, क्या ?

—हां, यह हलका स्वर जो आ रहा है ! यह !—यह !

ईंटें उठाई जाने लगीं, तो एक स्त्री ने कहा—हाय ! पत्ती है—पत्ती। तभी मैं सोच रही थी—वह दीख नहीं पड़ती, शायद आगे निकल गई ! हाय यह तो चल बसी !

उससे कौन कहता कि हां, वह आगे निकल गई !

लेकिन एक क्षीण स्वर तब भी ध्वनित होता रहा !

—अरे और उठाओ ईंटों को। हां, इस खंजड़ को। अभी एक आदमी और भी तो है।

एक साथ कई आदमियों ने मिल कर एक दीवार के टुकड़े को उठाया। वह ईंटों के ऊपर गिरा था और बीच में थोड़ी जगह शेष रह गई थी। उसी में मुड़ा हुआ अचेत मिला गिरिधर !

कुछ दिनों में गिरिधर अच्छा हो गया। उसकी एक रीढ़ टूट गई थी; लेकिन उसका जीवन उसकी रीढ़ से अधिक बलिष्ठ था।

उस बंगले को, फिर आगे, बेनी-बाबू नहीं बनवा सके। कुछ दिनों तक काम बन्द रहा और वे बीमार पड़ गये।

मनुष्य का यह जीवन क्या इतना अस्थिर है ! क्या वह फूल के दल से भी अधिक मृदुल है ? क्या वह छुई-मुई है ? उन दिनों

में यही सोचता रहा था। वे बीमार थे, और उनकी बीमारी बढ़ती जाती थी। मैं देख रहा था, शायद बेनी-बाबू तैयारी कर रहे हैं! लेकिन एक दिन मैंने उन्हें दूसरे रूप में देखा। मैंने देखा कि मृत्यु को उन्होंने मसल डाला है, पीस डाला है! वह छटपटा रही है! वह भाग जाना चाहती है!

वे एक पलँग पर लेटे हुए थे, बहुत धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। उनके पास एक नौजवान बैठा हुआ था। वह मौन था, और बेनी-बाबू उससे कुछ पूछ रहे थे। उसी क्षण मैं पहुँच गया। वे उठने को हुए, तो नौकर ने उन्हें उठा दिया और उनके पीछे तकिये लगा दिये। पहले आंखों पर चश्मा नहीं था: अब उन्होंने चश्मा चढ़ा लिया।

संकेत पाकर मैं उनके पास ही कुरसी डाल कर बैठ गया था।

वे बोले—सुनते हो मुल्लू, मैं तुमको रोने नहीं दूंगा। रोने दूं, तो मैं अपने को खो दूंगा। लेकिन मैं इतना सस्ता नहीं हूँ। मैं मरना नहीं चाहता, इसीलिए मैं तुमको प्रसन्न देखना चहता हूं। बतलाओ, तुम किस तरह से प्रसन्न हो सकते हो? मैं और साफ कर दूं? मैं तुमको कुछ देना चाहता हूँ। बोलो, तुम कितने रुपये पाकर खुश हो सकते हो? लेकिन तुम यह सोचने की भूल न करना कि वे रुपये तुम्हारी स्त्री की कीमत हैं। एक स्त्री—एक नवयुवती, एक सुन्दरी—को क्या रुपयों से तोला जा सकता है? छिः, यह तो एक मूर्खता की बात है—जंगलीपन की। लेकिन मैंने अभी तुमको बतलाया न, मैं तुमको खुश करना चाहता हूँ।

—'ओह एक नवयुवती—एक सुन्दरी!'

--तो क्या पत्नी सुन्दर थी ?

--तो उसका कंठ ही कोमल न था, वरन्....

बेनी-बाबू बोले--मैं जानता हूँ, तुम कुछ कहोगे नहीं।

अच्छा, तो मैं ही कहे देता हूँ--उसके बच्चे की परवरिश के लिए, दस रुपये हर महीने मुझसे बराबर ले जाया करना! समझे! यह....लो दस रुपये! आज पहली तारीख है। हर महीने की पहिली तारीख को ले जाया करना।

जेब से नोट निकाल कर उन्होंने मुल्लू के आगे फेंक दिया। मुल्लू तब कितना खुश था, इसको मैंने जाना। किन्तु बेनी-बाबू ने जितना कुछ जाना, उसको मैं न जान सका।

मुल्लू जब छलकते आनन्दाश्रुओं के साथ चल दिया, तो बेनी-बाबू बोले--मेरा खयाल है, अब यह खुश रहेगा। क्यों? तुम क्या सोचते हो ?

मैं चकित था, प्रतिहत था, अभिभूत भी था, तो भी मैंने कह दिया--आपने यह क्या किया ?

'ओह, तुम मुझसे पूछते हो, छोटे भैया!--यह क्या किया! यह मैंने अपने को भुलाने के लिए किया है; क्योंकि मनुष्य अपने को भुलावे में रखने का अभ्यासी है! मैंने देखा--मैं एक भूल कर रहा हूँ!--मैं मृत्यु को बुला रहा हूँ। तब मैंने सोचा--मैं ऐसी भूल नहीं करूँगा, जिसमें अपने आप को भी मैं भुला सकूं! जीवन में एक ऐसा क्षण भी आता है, जब हमको अपने-आप को भुलाना पड़ता है। यह मेरा ऐसा ही क्षण है। लेकिन यह मेरी भूल नहीं है। यह तो मेरा नवजीवन है--जागरण।'

यह कथा यहीं समाप्त हो गई है। किन्तु इस कथा के प्राण में जो अन्तर्कथा है, उसी की बात कहता हूँ। उपर्युक्त घटना के पीछे कुछ वत्सर और जुड़ गये हैं। यह बँगला अब मुझे रहने के लिये दिया गया है। मैं अब अकेला ही इसमें रहता हूँ। कई सहस्र पुस्तकों के महत् ज्ञान से आवृत मैं--लोग कहते हैं--प्रोफेसर हूँ! जीवन और जगत् का तत्त्वदर्शी। लेकिन मैं अपनी समस्या किससे कहूँ--अपना अन्तर किसको खोलकर दिखलाऊँ! बच्चे सुनें तो हँसें और बीवी सुने तो कहे--पागल हो गये हो।

कभी-कभी रात के घोर सन्नाटे में स्वप्नाविष्ट-सा मैं कुछ अस्पष्ट-ध्वनियां सुनने लगता हूँ। कोई खिलखिल हँस रही है। कोई धक्का देकर कह रही है--गा री पत्ती और चूड़ियां खनक उठती हैं, छत कुटने लगती है और एक कोमल, अत्यन्त कोमल गायन-स्वर फूट पड़ता है--निंदिया लागी...।

और उसके हाथों में जो छाले पड़ गये हैं, वे वहां से उठ कर मेरे हृदय से आकर चिपक गये हैं!

विनोदशंकर व्यास

(जन्म—१६०३)

आपका जन्म काशी के एक समृद्ध घराने में हुआ। आपके पिता और पितामह दोनों ही साहित्यानुरागी थे। पितामह पंडित रामशंकर व्यास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अन्तरंग मित्रों में से थे और कई पत्रों के अवैतनिक सम्पादक भी थे। पिता पंडित कालीशंकर व्यास कवि थे और उनकी समस्या-पूत्तियां उस समय के पत्रों में बराबर निकला करती थीं। आपने स्कूल में नवें दर्जे तक शिक्षा प्राप्त की, क्योंकि, इनका मन पढ़ने-लिखने की अपेक्षा खेल-कूद में अधिक रहता था, इसलिये पढ़ना छोड़ दिया। प्रारम्भ में कुछ तुकबन्दियां कीं, परन्तु इनका मन उपन्यास तथा कहानियां पढ़ने में अधिक लगता था। स्कूल में भी प्रायः उपन्यास लेकर जाते थे और डेस्क के नीचे रख कर पढ़ा करते थे। इनकी पहली कहानी १६२५ में 'माधुरी' में छपी। इसके बाद इनकी कहानियां बराबर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं। इनका एक उपन्यास 'अशान्त' भी इसी समय प्रकाशित हुआ। इनकी अब तक की कहानियों का संग्रह '५० कहानियां' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

विधाता

'चीनी के खिलौने, पैसे में दो; खेल लो, खिला लो, टूट जाय तो खा लो--पैसे में दो।'

सुरीली आवाज में यह कहता हुआ खिलौनेवाला एक छोटी-सी घंटी बजा रहा था।

उसकी आवाज सुनते ही त्रिवेणी बोल उठी--

'मां, पैसा दो, खिलौना लूंगी।'

'आज पैसा नहीं है, बेटी।'

'एक पैसा मां, हाथ जोड़ती हूं।'

'नहीं है त्रिवेणी, दूसरे दिन ले लेना।'

त्रिवेणी के मुख पर सन्तोष की झलक दिखलाई दी।

उसने खिड़की से पुकार कर कहा--ऐ खिलौनेवाले, आज पैसा नहीं है; कल आना।

'चुप रह, ऐसी बात भी कहीं कही जाती है?'--उसकी मां ने भुन-भुनाते हुए कहा।

तीन वर्ष की त्रिवेणी की समझ में न आया। किन्तु उसकी मां अपने जीवन के अभाव का पर्दा दुनिया के सामने खोलने से हिचकती थी। कारण, ऐसा सूखा विषय केवल लोगों के हँसने के लिए ही होता है।

*　　*　　*　　*

और सचमुच--वह खिलौनेवाला मुस्कुराता हुआ, अपनी घंटी बजा कर, चला गया।

सन्ध्या हो चली थी ।

लज्जावती रसोईघर में भोजन बना रही थी । दफ्तर से उसके पति के लौटने का समय था । आज घर में कोई तरकारी न थी, पैसे भी न थे । विजयकृष्ण को सूखा भोजन ही मिलेगा ! लज्जा रोटी बना रही थी और त्रिवेणी अपने बाबूजी की प्रतीक्षा कर रही थी ।

'मां, बड़ी तेज भूख लगी है ।'--कातर वाणी में त्रिवेणी ने कहा ।

'बाबू जी को आने दो, उन्हीं के साथ भोजन करना, अब आते ही होंगे ।'--लज्जा ने समझाते हुए कहा । कारण, एक ही थाली में त्रिवेणी और विजयकृष्ण साथ बैठकर नित्य भोजन करते थे और उन दोनों के भोजन कर लेने पर उसी थाली में लज्जावती टुकड़ों पर जीनेवाले अपने पेट की ज्वाला को शान्त करती थी । जूठन ही उसका सोहाग था ।

लज्जावती ने दीपक जलाया । त्रिवेणी ने आंख बन्द कर दीपक को नमस्कार किया; क्योंकि उसकी माता ने प्रतिदिन उसे ऐसा करना सिखाया था ।

द्वार पर खटका हुआ । विजय दिन-भर का थका लौटा था । त्रिवेणी ने उछलते हुए कहा--मां, बाबूजी आ गये ।

विजय कमरे के कोने में अपना पुराना छाता रखकर खूंटी पर कुर्ता और टोपी टांग रहा था ।

लज्जा ने पूछा--महीने का वेतन आज मिला न ?

'नहीं मिला, कल बँटेगा । साहब ने बिल पास कर दिया है ।'
—हताश स्वर में विजयकृष्ण ने कहा ।

लज्जावती चिन्तित भाव से थाली परोसने लगी। भोजन करते समय, सूखी रोटी और दाल की कटोरी की ओर देखकर विजय न-जाने क्या सोच रहा था। सोचने दो; क्योंकि चिन्ता ही दरिद्रों का जीवन है और आशा ही उनका प्राण।

* * * *

किसी तरह दिन कट रहे थे।

रात्रि का समय था! त्रिवेणी सो गई थी, लज्जा बैठी थी।

'देखता हूँ, इस नौकरी का भी कोई ठिकाना नहीं है।'—गम्भीर आकृति बनाते हुए विजयकृष्ण ने कहा।

'क्यों! क्या कोई नई बात है?'—लज्जावती ने अपनी झुकी आंखें ऊपर उठाकर, एक बार विजय की ओर देखते हुए, पूछा।

'बड़ा साहब मुझसे अप्रसन्न रहता है। मेरे प्रति उसकी आंखें सदैव चढ़ी रहती हैं।'

'किसलिए?'

'हो सकता है, मेरी निरीहता ही इसका कारण हो।'

लज्जा चुप थी।

'पन्द्रह रुपये मासिक पर दिन-भर परिश्रम करना पड़ता है। इतने पर भी...................'

'ओह, बड़ा भयानक समय आ गया है!'...लज्जावती ने दुःख की एक लम्बी सांस खींचते हुए कहा।

'मकान वाले का दो मास का किराया बाकी है, इस बार वह नहीं मानेगा।'

'इस बार न मिलने से वह बड़ी आफत मचायेगा ।'—लज्जा ने भयभीत होकर कहा ।

'क्या करूँ ? जान देकर भी इस जीवन से छुटकारा होता-..।'

'ऐसा सोचना व्यर्थ है । घबड़ाने से क्या लाभ ? कभी दिन फिरेंगे ही ।'

'कल रविवार है, छुट्टी का दिन है, एक जगह दूकान पर चिट्ठी-पत्री लिखने का काम है । पांच रुपये महीना देने को कहता था । घंटे-दो-घंटे उसका काम करना पड़ेगा । मैं आठ मांगता था । अब मैं सोचता हूँ, कल उससे मिलकर स्वीकार कर लूं । दफ्तर से लौटने पर उसके यहां जाया करूँगा,'—कहते हुए विजयकृष्ण के हृदय में एक हल्की रेखा दौड़ पड़ी ।

'जैसा ठीक समझो ।'—कह कर लज्जा विचार में पड़ गई। वह जानती थी कि विजय का स्वास्थ्य परिश्रम करने से दिन-दिन खराब होता जा रहा है ।

मगर रोटी का प्रश्न था !

* * * *

दिन, सप्ताह और महीने उलझते गये ।

विजय प्रतिदिन दफ्तर जाता । वह सब से बहुत कम बोलता । उसकी इस नीरसता पर प्रायः दफ्तर के कर्मचारी उस पर व्यंग करते ।

उसका पीला चेहरा और धँसी हुई आंखें लोगों को विनोद करने के लिए उत्साहित करती थीं । लेकिन वह चुपचाप ऐसी बातों को अनसुनी कर जाता, कभी उत्तर न देता । इस पर भी लोग उससे असन्तुष्ट रहते थे ।

विजय के जीवन में आज एक अनहोनी घटना हुई। वह कुछ समझ न सका। मार्ग में उसके पैर आगे न बढ़ते। उसकी आंखों के सामने चिनगारियां झलमलाने लगीं। मुझसे क्या अपराध हुआ ?--कई बार उसने मन ही में प्रश्न किये।

घर से दफ्तर जाते समय बिल्ली ने रास्ता काटा था। आगे चलकर खाली घड़ा दिखाई पड़ा था। इसलिये तो सब अपशकुनों ने मिल कर आज उसके भाग्य का फैसला कर दिया था !

साहब बड़ा अत्याचारी है। क्या गरीबों का पेट काटने के लिये ही पूंजीपतियों का आविष्कार हुआ है ? नाश हो इनका--वह कौन-सा दिन होगा, जब रुपयों का अस्तित्व संसार से मिट जायगा ? भूखा मनुष्य दूसरे के सामने हाथ न फैला सकेगा ?--सोचते हुए विजय का माथा घूमने लगा। वह मार्ग में गिरते-गिरते सँभल गया।

सहसा उसने आंख उठाकर देखा, वह अपने घर के सामने आ गया था; बड़ी कठिनाई से वह घर में घुसा। कमरे में आकर धम से बैठ गया।

लज्जावती ने घबराकर पूछा--तबीयत कैसी है ?

'जो कहा था वही हुआ।'

'क्या हुआ ?'

'नौकरी छूट गई। साहब ने जवाब दे दिया।'--कहते-कहते उसकी आंखें छलछला गईं।

विजय की दशा पर लज्जा को रुलाई आ गई। उसकी आंखें बरस पड़ीं। उन दोनों को रोते देखकर त्रिवेणी भी सिसकने लगी।

संध्या की मलिन छाया में तीनों बैठकर रोते थे।

इसके बाद शान्त होकर विजय ने अपनी आंखें पोंछीं; लज्जावती ने अपनी और त्रिवेणी को---।

क्योंकि संसार में एक और बड़ी शक्ति है, जो इन सब शासन करनेवाली चीजों से कहीं ऊँची है---जिसके भरोसे बैठा हुआ मनुष्य आंख फाड़ कर अपने भाग्य की रेखा को देखा करता है।

वाचस्पति पाठक

(जन्म १९०६ ई०)

जन्मस्थान--नवाबगंज, काशी । घर शिक्षण । आरम्भ से साहित्य-प्रेमी । लेख और कवियों के निरन्तर सम्पर्क और उन रचनाओं के आस्वादन से स्वयं रचना क को इच्छा का उदय । पहले अर्से तक कवित लिखीं । बाद में कहानियां । कहानियां गई हैं--दो संग्रह ('द्वादशी' और 'प्रदीप') प्रकाशित हैं; कविताएँ अतीत के गर्भ में त गईं । कौन जाने; कहानियों का भविष्य क है ? मेरा उनके विषय में कुछ कहना उचित है, न प्रासंगिक । केवल इतना कि मुझे बहुत प्रिय हैं और ईमानदारी के साथ अच्छी लगती हैं । हि ने भी उन्हें अपनाया है । बस ।

कागज की टोपी

एक छोटी-सी झोपड़ी है। रात के आठ बज गये हैं। उसमें दीपक नहीं जला है। आकाश में जो चांद उगा है, उसी का धूमिल प्रकाश, इस झोपड़ी में दो प्राणियों के मलिन चित्र दीवारों पर अंकित कर रहा है। एक तो बुढ़िया, जिसकी उमर ५० से कम नहीं है। दूसरा जो सोया हुआ है, वह पांच-छः वर्ष का बच्चा है। वह उस बुढ़िया के जवान बेटे का बेटा है। यही—ठीक इस झोपड़ी के मलिन चित्र की तरह—उस बुढ़िया का आधार है। इस झोपड़ी में बस यही दो, चित्र और ये प्राणी—शेष और सब, जो होना चाहिए, कुछ भी नहीं दीखता है। सब जैसे अन्धकार में लुप्त हैं; पर सच तो यह है कि उनके पास कुछ है ही नहीं। काल ने ठीक उन्हें वैसे ही विचित्र कर दिया है।

बुढ़िया शाम ही को गांव के कई घरों में घूम कर अपने बच्चे को खिला आई है। अपने खाने के लिये भी उसके आंचल में कुछ भुना हुआ दाना बँधा है; पर इस शीत की रात में वह पहले बच्चे को सुला देना चाहती है। उसके गल कर सिमटे हुए पेट में भूख न भी हो; तो कुछ आश्चर्य नहीं है। क्योंकि वह उधर कुछ भी ध्यान न देकर बड़ी तल्लीनता से लोरियां गुनगुना रही है। बच्चा अभी सोया नहीं है। उसकी स्निग्ध उज्ज्वल दो बड़ी आंखें अपनी गम्भीर नीरवता में स्तब्ध हैं।

वह बच्चा शाम को जितने भी घरों में दादी के साथ घूमा है, सभी जगह उसने एक ही चर्चा सुनी है। सब ने उसकी दादी से चन्द्रग्रहण में चलने के लिए बातें की हैं। जब वह अपनी

दादी की गोद से अलग होकर खेलने के लिये लड़कों की पं
में गया, तब उनमें से कोई भी उसके साथ प्रतिदिन का नि
परिचित खेल नहीं खेल पाया है । उन सब ने उससे अनजानी
बातें की हैं । सब अपने उत्साह में रहे हैं । कौन खिलौने
बाजा, कपड़े और टोपियां लेगा, इसी की सूचना से सबने निह
कर दिया है । उस बालक के मन में ऐसी चिन्ता कभी उदय नहीं
है । वह विकल हो गया है ।

बुढ़िया लोरियों की मधुरता में और लड़का अपने विचारों में लो
है । वे एक दूसरे से अपने में एकदम अलग हो रहे हैं; पर, बच्चे
अपने विचारों की गुत्थियों को अकेले नहीं सुलझा पाता है । वह दा
को पुकारता है .... दादी ! .... ओ री दादी !

दादी लोरी बन्द कर देती है, वह उत्सुकता से पूछती है,—
हां, क्या है बेटा ?

कहां ग्रहण लगेगा दादी ?—वह पूछता है,—लल्लू, छैल,
मिन्नी और वह छोटी भी कहती है कि वहां जायँगे ?

बुढ़िया के मुंह पर स्नेह चमक रहा है । वह उसकी बातें सु
कर घबरा जाती है । वह निराश स्वर में कहती है—बनारस मे
यहां से बड़ी दूर पर ग्रहण लगेगा ।

लड़के को इतने से सन्तोष नहीं होता है । वह बड़े आश्चर्य
पूछता है—तो फिर मिन्नी और छोटी कैसे जायेंगी ? वह कह
हैं—हम वहां खिलौने लेंगी—कपड़े लेंगी—कह कर वह बुढ़िया की
ओर बड़ी उत्सुकता से देखता है । वह चुप रहती है । उससे लड़के
का कौतूहल बढ़ता है। फिर वह पूछता है—तो क्यों दादी, सचमु
वहां खिलौने मिलते हैं ?

मिलते होंगे बेटा !——उसकी उत्सुकता से वह निराश हो रही है। उसके मन में एक अस्पष्ट चित्र उदय हो रहा है। वह खीझ कर बोलती है——वहां बड़ी भीड़ होती है, जाड़े की इस रात में वहां सब नहाते हैं, बस और कुछ नहीं होता।——वह अपना विरोध प्रकट करने के लिये एक दीर्घ श्वास छोड़ कर चुप हो जाती है।

लड़के का आश्चर्य और बढ़ जाता है। वह और आतुरता से पूछता है——बड़ी भीड़ होती है ?

और क्या !——वह क्षोभ से भर कर कहती है——ऐसी भीड़ होती है, कि कितने दब जाते हैं ! एक दूसरे पर गिर कर मर जाते हैं ! और बेटा, एक दूसरे से छूट कर उस भीड़ में भूल जाते हैं !——बुढ़िया की आंखों में आंसू भर आते हैं, वह भरे हुए कंठ से कहती है——फिर भला हम वहां कहां जायंगे ? मेरे बच्चे, तू मेरी गोद से छूट जायगा ! तुझे कैसे सँभालूँगी ?——वह उसे गोद में उठा लेती है, चूमती है। उसकी आंखों से आंसू की दो बूंदें बालक के सिर पर गिर जाती हैं। वह उसे अपने आलिंगन में चिपटा लेती है।

बालक के चिपकने से उसके प्रेम में उफान आ रहा है। वह जैसे लय हुई जा रही है। वह बच्चा इसे जैसे उसके प्यार का बन्दी होकर समझ रहा है। उसे राह नहीं मिल रही है। वह जैसे मुक्त होने के लिए पूछता है——तब, हम न चलेंगे दादी ?

उसकी इस निराश वाणी से बुढ़िया का हृदय कसक उठता है। अब उसके हृदय की इच्छा का दमन उससे नहीं हो सकता, उसके लिए वह सब कुछ कर सकती है। वह एक नवीन उत्साह से पूछती है——तू चलेगा बेटा ?............अच्छा मैं जरूर चलूंगी; और सब जायेंगे

तू ही न जायगा ! मैं तुझे जरूर लिवा ले चलूंगी । मेरा राजा ! मेरा बेटा !--वह उसे चूमती है । दोनों हँसते हैं । दोनों प्र हैं । फिर दोनों, परस्पर विश्वास रख कर सो जाते हैं ।

(२)

बालक अब उसे दिन भर से तंग कर रहा है । हर बा प्रत्येक समय वह एक ही बात करता है, उसे आश्वासन मिलता विश्वास होता है; पर फिर वह उसी को गांठ बांध लेना चाहता है। उस रट कम पड़ती ही नहीं है । गांव के चलनेवाले और बालकों के पा भी वह दौड़-दौड़ कर जाता है । वह अब किसी से कम नहीं है इसी विश्वास से वह सब को देखता है ।

उसकी दादी संकोच में गड़ी हुई है । वह पहले अपने आप चलने को नितान्त अनिच्छा प्रकट करती रही है । अपनी गरीबी में जोवन-यापन से अधिक के लिये किसी के सिर का बोझ बनना उसे कभी पसन्द नहीं हुआ है । और फिर काशी में--पुण्यकार्य में ...... ! अपनी इच्छा को मसल कर वह इसी से अपने को बचाती गई है । पर, अब वह वैसा नहीं कर सकती है । वह उद्विग्न है । सब से विनय कर रही है । एक बुढ़िया को काशी नहलाने का पुण्य-लाभ !--हाथ जोड़ कर--वह गांव भर को बता आई है । उन्हीं लोगों के विश्वास पर वह जा रही है । अब मरने के पहले उसकी जैसे यही साध है । सब के साथ वह भी उत्साह दिखा रही है । उसके भी मन में उमंग है ।

सब के साथ वह भी तैयार हो गई है । उसने अपनी पोटली सिर पर रख ली है और बच्चे की अंगुलियां उसके हाथ में हैं । अपने सब

साथियों के पीछे उसने अपना मार्ग पाया है। उसकी निरीहता में जैसे उसका यही स्थान है। उस लड़के ने जैसे और सब उसका खो दिया है। वह अब जैसे एक धुन में है। वह अपने ही मन में लीन, मौन और निर्विकार बन गई है। साथ की स्त्रियां गीत का स्वर निकाल रही हैं, पर लड़का मानता नहीं है। वह रह-रह कर उसे खींचता है, बढ़ता है। वह एक से दूसरे लड़के के पास पहुँच जाना चाहता है। सब देखें--वह भी चल रहा है। उसकी दादी नहीं पहुँच रही है! अच्छा.......! वह लल्लू को पुकारता है, छैल से बातें करता है।--छोटी! छोटी........! लो सब चीखने लगे हैं। मातायें घबरा उठती हैं। डांट पड़ती है। मार की नौबत आ गई है। कितने डर दिखाये गये हैं। थोड़ी-सी शान्ति होती है, फिर वही--सब जैसे गीत के प्रवाह में कल-कल कर बह रहे हैं।

(३)

लड़के ने जैसे बड़ी प्रतीक्षा की है। अब उससे होने की नहीं है। इस विशाल नगर में आकर उसका धैर्य वृक्ष के कोमल पत्ते की तरह कांपने लगा है। उसका लोभ सर्वग्रासी मुंह फाड़ कर खड़ा है। उसकी बुद्धि काम नहीं दे रही है। वह रह-रह कर चिल्लाता है, अनुनय करता है--दादी तूने मुझे कुछ नहीं ले दिया,--ऊँ, ऊँ, ऊँ।

वह कहती है--अब तू दिन भर रोयेगा ?

वह तनिक हो चुप होता है। फिर कहता है-- दादी, मुझे भी मिठाई दिला दे!

आह, तूने गजब कर डाला रे!--दादी उसकी बात सुन कर चीख उठती है--यह नई आदत सीखी है ?

बालक डर जाता है । उसने अपनी दादी से कभी फटकार नहीं पाई नहीं है । उसकी डांट से वह जैसे अपमानित होता है । लज्जा से अभिभूत होकर वह दादी की गोद में छिप जाता है । वह अब कुछ नहीं बोलेगा ।

बुढ़िया इसे समझ रही है, वह कहती है—बेटा ! अभी तू गुड़ खाया है न ? वही तो मिठाई है, तू नाहक जिद करता है । इतने पैसे मेरे पास कहां हैं ? ले यही तो मेरे पास पैसे हैं, इनसे जो चाहे ले ।—कहकर बुढ़िया अपनी गांठ खोल रही है; पर बच्चा उसे रोकता है ।—ना-ना, तू ही ले देना ।—वह अभी अपने को उसकी गोद में ही छिपाये रखना चाहता है ।

उसी समय शहर चलने की तैयारी हो गई है । लाल, पीली और काली बूटियों की चादरें ओढ़े उन औरतों का गरोह, जैसे रंग-बिरंगी तितलियों के झुण्ड हैं । उसके पीछे बुढ़िया भी किसी सूखे वृक्ष के ठूंठ की तरह लगी है, जिसे छोड़ कर वे उड़ी जा रही हैं । उनकी आंखें विस्मय से विमुग्ध हैं । नगर उनके लिये अलौकिक सत्ता है । जिसको उनकी कल्पना इन्द्रलोक बना देती है । बच्चे और भी प्रसन्न हैं । घोड़ा-गाड़ी, मोटर और साइकिलें—इनकी पों-पों और टुन-टुन कितने गजब हैं । वह उछल रहे हैं ! मोटर से कीचड़ उछल कर पड़ने पर भी सब हँस रहे हैं ! कैसा अच्छा यह उनका आश्चर्य और भाग्य है !!

बाजार में पहुँचकर खरीदारी शुरू हो गई है । वह कुछ इधर, कुछ उधर दूकानों पर हो रही है । शहर की चीजें, ला-जवाब चीजें, वे ले रही हैं । बच्चे अलग अपने मन की चीजें देख कर शोर कर रहे हैं ।

तब तक एक बच्चा चिल्लाता है--देख-देख मेरी टोपी!--उसकी सुनहले तारों से चमचम चमकती हुई टोपी है।

बुढ़िया की गोद में लड़का अप्रतिभ हो गया है। उसकी आंखों में आंसू भर आये हैं। वह दादी की गोद से शून्य दृष्टि से देखता है, भय से कुछ कहना नहीं चाहता है। दादी के मुख की पीड़ा को वह जैसे समझता है! इसीलिये वह अपनी आह को दबा कर दूसरी ओर देखने लगता है। एक ओर देख कर कहता है--अहा.......ओ दादी! वह देख! कैसी अच्छी लाल-हरी टोपी!

दादी देखती है। एक आदमी लाल-हरी कागज की टोपियों की छतरी-सी लिये खड़ा है। वह रह-रह कर बोल रहा है--'ले लो, ये लाल-हरी टोपियां, तीन-तीन पैसे में।' बुढ़िया यह सुन जैसे उत्साह में आ गई है। वह उसे ले रही है। बच्चा मुग्ध हो रहा है। दादी ने अपनी-छोटी सी गांठ खाली कर दी है। उसे टोपी पिन्हा कर वह जैसे उससे अधिक पा गई है। बहुत अधिक लाभ में जैसे प्रसन्न है। वह चुप है। आनन्द-विभोर है। वह केवल प्रसन्न दृष्टि से उसे देख रही है, बच्चा जैसे श्रीमान् है। वह जैसे आज उसका नहीं है। वह दूर से--बहुत चाहने, प्यार करने पर, आज उसका बनकर आया है। ऐसा प्यार! वह अकिंचन कुछ न बोलेगी। केवल अभी दृष्टि भर देख तो ले। वह उसे प्रसन्न कर सकी है। वह गर्व-स्फीत है।

बच्चा कैसा सच का राजा है। अभिमान से भरा है। अब वह किसी की ओर नहीं देख रहा है। वह अपनी कागज की टोपी लगाता है, उतारता है, देखता है, छाती से चिपकाता है, हँसता है। वह अपने में प्रसन्न हो रहा है। वह लाल-हरी टोपी उसकी आंखों को रंगीन कर रही है। रोशनी के प्रकाश में उसके कपड़े को रंगीन कर रही है। वह

देखता नहीं है, उसके मुख को भी रंगीन कर रही है। वह वैसा ही प्रसन्न है। अब वह अपने में ही चीखता है, हँसता है और बातें करता है। वह उसी में भूल गया—रम गया है।

(४)

बुढ़िया सब से अलग पड़ गई है। उसका साथ छूट गया है। वह स्तम्भित हो गई है। इस अपरिचित जन-समूह में अब वह अकेली है। अब-आह.....आंधी-सी चलने लगी है। ऊपर आकाश में बादल धीरे धीरे गुड़ुम-गुड़ुम कर रहे हैं। उसका मन भीतर-बाहर हो रहा है। उसे बच्चे को बचाना है। उसकी व्याकुलता उसी के लिये बढ़ रही है। उसे कहीं स्थान नहीं है। वे ऊँचे-ऊँचे महल, उनके आदमी, उसकी कहीं पहुँच नहीं है। आशा नहीं है। वह विपद् में फँसी है। वह 'अस्सी' की ओर बढ़ रही है। वहीं वह ठहरी थी। अब भी वहीं जाकर रुकेगी, वह बच्चे को छिपा कर भाग रही है।

वह भाग रही है। जल्दी में है। बच्चे को सँभाल रही है। बच्चा उसकी उद्विग्नता नहीं समझता है। वह रह-रह कर अपनी टोपी उसे दिखा देना चाहता है। उसकी ऐसी अच्छी टोपी, उसकी दादी मजे में देख तो ले; वह व्याकुल है। उसकी तृप्ति असन्तोष में ढल रही है। वह अधीर होकर पुकार उठता है—दादी! .....

दादी बोलती नहीं है। वह उसे चिपकाये जा रही है। सर्दी की रात है। हवा है। बादल है। इन सब का रूप उसके मन में एक दुनिया बन गई है। जिसमें वह अकेली भाग रही है। और सब जैसे उससे मुक्त हैं। उसकी आंखों के सामने का सारा दृश्य जैसे उस दुनिया के बाहर है, जहां से उसके लिये कोई आशा, सहानुभूति, प्रेम और करुणा नहीं

है। वह सब से अलग है। झर...झर...झर...बड़ी बूंदों की झड़ी लग गई है। वह भींग उठी है। बच्चे के कपड़े गीले हो गये हैं।

बच्चा भींग गया है। दादी की छाती में छिपे रहने पर भी उसके सिर से पानी चू रहा है। उसके लटीले बालों से फिसल कर छोटी-छोटी बूंदें चू रही हैं, जिनमें टोपी का रंग धुल रहा है। टोपी भींग कर लता हो चली है। बालक उसे सिर पर और दबाये जा रहा है; जैसे अपनी चिर-संचित साध को उस झड़ी से बचा रहा है।

'अस्सी' का घाट सूना पड़ा है। पानी आकर निकल गया है; पर बादल अब भी आकाश में छिटके हैं। उनके बड़े-बड़े टुकड़े घूम-घूम कर चांद को घेर रहे हैं। उस अन्धकार में गैस की बत्ती अपनी रोशनी चुपचाप जमीन पर गिरा रही है। सारा मैदान विधवा के हृदय की भांति शून्य और धूमिल है। उसके सब साथी दूर न जाने किस कोने में पड़े हैं। उस मैदान के एक असहाय छोर में मलिन, निरीह और-टूटी-स्मृति-सी बुढ़िया पड़ी है। उस पर एक पेड़ की छाया है। वह वहां अपने को अकेले देख रही है। बच्चे का शरीर भींगने पर भी उसे गर्म मालूम पड़ रहा है। उसका मन और भी बैठ रहा है। घरों में—छायाओं में न जाने कितने आदमी भरे पड़े हैं। सबकी सांस उसे जैसे स्पर्श कर जाती है। वह अपने मन में समझती और कानों से सुनती भी है; पर वह उन तक जा नहीं पाती है। उसकी निरीहता को कहीं शरण नहीं है। साहस के अभाव ही में वह मौन है।

पीपल के पेड़ का सहारा लिये वह पड़ी है। वह थक गई है। अपने शरीर को उसने एकदम छोड़ दिया है। उस गीले में वह सो भी नहीं सकती। वह शिथिल होकर और भी अवसाद में बही जा रही है। हवा नहीं

चल रही है, फिर भी पीपल के घने पत्ते हिल रहे हैं--चमक रहे हैं। उनका शीतल स्पर्श उसके मन को कँपा जाता है।

बच्चे की देह जलते तवे-सी लाल है। सम्पूर्ण शरीर में खून के रवे जैसे फूट पड़े हैं। वह अपने उत्साह की दौड़ में शिथिल हो गया है। वह वहां से बढ़ भी नहीं पाता है। दादी उसे जकड़े हुए पड़ी है। इसी से जैसे क्षोभ में अवसन्न है। उसके हृदय पर वह बन्धन जैसे पहाड़ बन कर भार दे रहा है। वह ऊब रहा है। एक कांपती आवाज निकलती है--दा...दी!

हां--वह आह भर कर कहती है--क्या है लाल!--वह अपने गीले कपड़ों के घेरे के भीतर झांक कर बड़े कातर स्नेह से उसे देखने लगती है।

बच्चे को जैसे सहारा मिल जाता है। वह अपनी मन की गांठ खोल कर धीरे से कहता है--मेरी अच्छी टोपी, दादी!--उसने अपनी टोपी सिर पर दबा ली है।

बुढ़िया के मुंह से 'हां' भी नहीं निकल पाता है। उसका हृदय जैसे चिर गया है। बालक के काले हो रहे होठों पर बिखरी हंसी उसके कलेजे में और भी तीर बन कर धँस गई है। वह उसी पीड़ा में एक क्षण उसे देखती है, फिर उत्तर में केवल सिर हिला देती है, और और भी जकड़ कर उसे अपनी गोद में छिपा लेती है।

बुढ़िया अपने क्लान्त शरीर में बेसुध हुई पड़ी है। उसकी पीड़ा में एक ही कल्पना सिसक रही है--मेरी अच्छी टोपी ....! अभी दो क्षण पहले की देखी, सिकुड़ी, धुले हुए रंग की पिचकी-पिचकी टोपी, पहले-सी नई बन कर उसके भावों में रंग भर रही है। सचमुच वह उसी नशे में पड़ी है। उसके हाड़ों की ठठरी को पवन हिला देता

। वह जाग जाती है। फिर भी बच्चे की प्रसन्नता की निधि, वह लाल-हरी टोपी, उसे ढँक लेती है।

बच्चे का प्यार लुट गया है, इसी से वह लुट गई है। वह पीड़ा में डूब गया है, इसी से वह डूब गई है। वह बेहाल है, अशक्त है, असहाय है, मौन है, जल रहा है--कांप रहा है; इसी से उसकी दादी बेहोश है, निरीह है, निरवलम्ब है, चुप है, मर रही है--हिल रही है। वह अपने में नहीं है--खो गई है। रात भींगे पैरों भगी जा रही है।

पत्ते खड़खड़ा रहे हैं। उस प्रशान्त नीरवता के हृदय की धड़कन जैसे बढ़ रही है। एक 'ठक' की आवाज होती है। कोई सामने आकर जैसे खड़ा हो जाता है। ओह........वह लम्बे लबादे में काली झब्बेदार पगड़ी से लैस हाथ की लम्बी मोटी लकड़ी पर अकड़ दिये एक सिपाही खड़ा है। उसे इस सुन-सान रात में भागती हुई नदी की जलधारा को देख कर जैसे 'ठक' मार गया है। वह निश्चिन्त और सुखी है! उसने बुढ़िया की ओर देखा भी नहीं; पर वह एक बार फिर कांप गई है।

अब रात छिप चली है। ऊषा की राह में बादलों की लाल पहाड़ियों को बेध कर, सुनहली किरणें जल पर निकल आई हैं। उसकी गोद में उसका बच्चा काला पड़ गया है। बुढ़िया की पलकें जैसे गिरने लगी हैं, पर वह स्वयं लुढ़क जाती है, जैसे--प्रभात के लिये पांवड़े बिछा गई है।

जैनेन्द्रकुमार

(जन्म १९०५ ई०)

जन्म कौड़ियागंज, अलीगढ़ में एक मध्यम श्रेणी के परिवार में हुआ । पिता का देहान्त बाल्यावस्था में ही हो गया तब माता ने लालन-पालन किया । सातवीं श्रेणी तक जैन-गुरुकुल ऋषि ब्रह्मचर्याश्रम, हस्तिनापुर में शिक्षा पाई । तदनन्तर प्राइवेट रूप से मैट्रिक पास किया । इसके बाद काशी जाकर हिन्दू-विश्वविद्यालय में नाम लिखा लिया, पर सेकेन्ड इयर तक पहुंच कर पढ़ाई छूट गई । महात्मा गांधी के असहयोग-आन्दोलन में जेल-जीवन का अनुभव किया । जेल में ही लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई । पहली कहानी 'खेल' १९२८ में 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई । इसी समय पहला उपन्यास 'परख' प्रकाशित हुआ । इस उपन्यास की एक विशेषता यह थी कि इसमें साहित्य में प्रचलित तथा रूढ़ शब्दों के स्थान पर बोलचाल के शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में है । हिन्दुस्तानी एकाडेमी, प्रयाग ने इस पर ५००) का पारितोषिक प्रदान किया है । अब तक आपके पांच उपन्यास तथा पांच कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं ।

पत्नी

शहर के एक ओर एक तिरस्कृत मकान । दूसरा तल्ला । वहां चौके में एक स्त्री अँगीठी सामने लिये बैठी है । अँगीठी की आग राख हुई जा रही है । वह जाने क्या सोच रही है । उसकी अवस्था बीस-बाईस के लगभग होगी । देह से कुछ दुबली है और सम्भ्रान्त कुल की मालूम होती है ।

एकाएक अँगीठी में राख होती हुई आग की ओर स्त्री का ध्यान गया । घुटनों पर हाथ देकर वह उठी । उठ कर कुछ कोयले लाई । कोयले अँगीठी में डाल कर फिर किनारे ऐसे बैठ गई मानों याद करना चाहती है कि 'अब क्या करूँ ?' घर में और कोई नहीं है और समय बारह से ऊपर हो गया है ।

दो प्राणी इस घर में रहते हैं, पति और पत्नी । पति सबेरे से गये हैं कि लौटे नहीं और पत्नी चौके में बैठी है ।

वह (सुनन्दा) सोचती है—नहीं, सोचती कहां है, अलसभाव से वह तो वहां बैठी ही है । सोचने को है तो यही कि कोयले न बुझ जायें ।....वह जाने कब आयेंगे । एक बज गया है । कुछ हो, आदमी को अपनी देह की फिक्र तो करनी चाहिए ।...और सुनन्दा बैठी है । वह कुछ कर नहीं रही है । जब वह आयँगे तब रोटी बना देगी । वह जाने कहां कहां देर लगा देते हैं । और कब तक बैठूं । मुझसे नहीं बैठा जाता । कोयले भी लहक आये हैं । और उसने झल्लाकर तवा अँगीठी पर रख दिया । नहीं, अब वह रोटी बना ही देगी । उसने जोर से खीझ कर आटे की थाली सामने खींच ली और रोटी बेलने लगी ।

थोड़ी देर बाद उसने जीने पर पैरों की आहट सुनी। उसके मुख पर कुछ तल्लीनता आई। क्षण-भर वह आभा उसके चेहरे पर रहकर चली गई और वह फिर उसी भांति काम में लग गई।

कालिन्दीचरण (पति) आये। उनके पीछे-पीछे तीन और उनके मित्र भी आये। ये आपस में बातें करते चले आ रहे थे। और खूब गर्म थे। कालिन्दीचरण मित्रों के साथ सीधे अपने कमरे में चले गये। उनमें बहस छिड़ी थी। कमरे में पहुंच कर रुकी हुई बहस फिर छिड़ गई। ये चारों व्यक्ति देशोद्धार के सम्बन्ध में बहुत कटिबद्ध हैं। चर्चा उसी सिलसिले में चल रही है। भारतमाता को स्वतंत्र करना होगा——और नीति-अनीति, हिंसा-अहिंसा को देखने का यह समय नहीं है। मीठी बातों का परिणाम बहुत देखा। मीठी बातों से बाघ के मुंह से अपना सिर नहीं निकाला जा सकता। उस वक्त बाघ का मारना ही एक इलाज है। आतंक ! हां, आतंक। हमें क्या आतंकवाद से डरना होगा ? लोग हैं जो कहते हैं, आतंकवादी मूर्ख हैं, वे बच्चे हैं। हां, वे हैं बच्चे और मूर्ख। उन्हें बुजुर्गी और बुद्धिमानी नहीं चाहिए। हमें नहीं अभिलाषा अपने जीने की। हमें नहीं मोह बाल-बच्चों का। हमें नहीं गर्ज धन-दौलत की। तब हम मरने के लिए आजाद क्यों नहीं हैं ? जुल्म को मिटाने के लिए कुछ जुल्म होगा ही। उससे वे डरें, जो डरते हैं। डर हम जवानों के लिए नहीं है।

फिर वे चारों आदमी निश्चय करने में लगे कि उन्हें खुद क्या करना चाहिए।

इतने में कालिन्दीचरण को ध्यान आया कि न उसने खाना

खाया है, न मित्रों के खाने के लिए पूछा है। उसने अपने मित्रों से माफी मांग कर छुट्टी ली और सुनन्दा की ओर चला।

सुनन्दा जहां थी, वहां है। वह रोटी बना चुकी है। अँगीठी के कोयले उल्टे तवे से दबे हैं। माथे को उँगलियों पर टिकाकर वह बैठी है। बैठी-बैठी सूनी-सी देख रही है। सुन रही है कि उसके पति कालिन्दीचरण अपने मित्रों के साथ क्यों और क्या बातें कर रहे हैं। उसे जोश का कारण नहीं समझ में आता। उत्साह उसके लिए अपरिचित है। वह उसके लिए कुछ दूर की वस्तु है, स्पृहणीय और मनोरम और हरियाली। वह भारतमाता की स्वतंत्रता को समझना चाहती है; पर उसको न भारतमाता समझ में आती है, न स्वतंत्रता समझ में आती है। उसे इन लोगों की इस जोरों की बात-चीत का मतलब ही समझ में नहीं आता। फिर भी, उत्साह की उसमें बड़ी भूख है। जीवन की हौंस उसमें बुझती-सी जा रही है, पर वह जीना चाहती है। उसने बहुत चाहा है कि पति उससे भी कुछ देश की बात करें। उसमें बुद्धि तो जरा कम है, फिर धीरे-धीरे क्या वह भी समझने नहीं लगेगी? सोचती है, कम पढ़ी हूँ, तो इसमें मेरा ऐसा कसूर क्या है? अब तो पढ़ने को मैं तैयार हूँ। लेकिन पत्नी के साथ पति का धीरज खो जाता है। खैर, उसने सोचा है, उसका काम तो सेवा है। बस, यह मान कर जैसे कुछ समझने की चाह ही छोड़ दी है। वह अनायास भाव से पति के साथ रहती है और कभी उनकी राह के बीच में आने की नहीं सोचती! वह एक बात जान चुकी है कि उसके पति ने अगर आराम छोड़ दिया है, घर का मकान छोड़ दिया है, जान-बूझकर उखड़े-उखड़े और मारे-मारे जो फिरते हैं, इसमें वे कुछ भला ही सोचते होंगे। इसी बात को पकड़ कर वह आपत्तिशून्य भाव से पति के साथ विपदा पर विपदा उठाती रही है। पति ने कहा भी है कि तुम

मेरे साथ क्यों दुख उठाती हो। पर सुन कर वह चुप रह गई है, सोचती रह गई है कि देखो, यह कैसी बात करते हैं। वह जानती है कि जिसे 'सरकार' कहते हैं, वह सरकार उनके इस तरह के कामों से बहुत नाराज है। सरकार सरकार है। उसके मन में कोई स्पष्ट भावना नहीं है कि 'सरकार' क्या होती है; पर यह जितने हाकिम लोग हैं, वे बड़े जबरदस्त होते हैं और उनके पास बड़ी बड़ी ताकतें हैं। इतनी फौज, पुलिस के सिपाही और मजिस्ट्रेट और मुन्शी और चपरासी और थानेदार और वायसराय ये सब सरकार ही हैं। इन सबसे कैसे लड़ा जा सकता है? हाकिम से लड़ना ठीक बात नहीं है; पर यह उसी लड़ने में तन-मन बिसार बैठे हैं। खैर, लेकिन ये सब के सब इतने जोर से क्यों बोलते हैं? उसको यही बहुत बुरा लगता है। सीधे-सादे कपड़ों में एक खुफिया पुलिस का आदमी हरदम उनके घर के बाहर रहता है। ये लोग इस बात को क्यों भूल जाते हैं? इतने जोर से क्यों बोलते हैं?

बैठे-बैठे वह इसी तरह की बातें सोच रही है। देखो, अब दो बजेंगे। उन्हें न खाने की फिक्र, न मेरी फिक्र। मेरी तो खैर कुछ नहीं; पर अपने तन का ध्यान तो रखना चाहिए। ऐसी ही बेपरवाही से तो वह बच्चा चला गया। उसका मन कितना भी इधर-उधर डोले; पर अकेली जब होती है, तब भटक-भटक कर वह मन अन्त में उसी बच्चे के अभाव पर आ पहुँचता है। तब उसे बच्चे की वही वही बातें याद आती हैं—वे बड़ी प्यारी आंखें, छोटी-छोटी अँगुलियां और नन्हें-नन्हें ओंठ याद आते हैं। अठखेलियां याद आती हैं। और सब से ज्यादा उसका मरना याद आता है। ओह! यह मरना क्या है। इस मरने की तरफ उससे देखा नहीं जाता। यद्यपि वह जानती है कि मरना सबको है—उसको मरना है, उसके पति को मरना है; पर उस तरफ भूल से छन-भर

देखती है तो भय से भर जाती है। यह उससे सहा नहीं जाता। बच्चे की याद उसे मथ उठती है। तब वह विह्वल होकर आंख पोंछती है और हठात् इधर-उधर की किसी काम की बात में अपने को उलझा लेना चाहती है। पर अकेले में, वह कुछ करे, रह-रह कर वही वह याद—वही वह मरने की बात उसके सामने हो रहती है और उसका चित्त बेबस हो जाता है।

वह उठी। अब उठ कर बरतनों को मांज डालेगी, चौका भी साफ करना है। ओह! खाली बैठी मैं क्या सोचती रहा करती हूं।

इतने में कालिन्दीचरण चौके में घुसे।

सुनन्दा कठोरतापूर्वक शून्य को ही देखती रही। उसने पति की ओर नहीं देखा।

कालिन्दी ने कहा—सुनन्दा, खानेवाले हम चार हैं। खाना हो गया?

सुनन्दा चून की थाली और चकला-बेलन और बटलोई वगैरह खाली बरतन उठाकर चल दी, कुछ भी बोली नहीं।

कालिन्दी ने कहा—सुनती हो, तीन आदमी मेरे साथ और हैं। खाना बन सके तो कहो; नहीं तो इतने में ही काम चला लेंगे।

सुनन्दा कुछ भी नहीं बोली। उसके मन में बेहद गुस्सा उठने लगा। यह उससे क्षमा-प्रार्थी-से क्यों बात कर रहे हैं, हँस कर क्यों नहीं कह देते कि कुछ और खाना बना दो। जैसे मैं गैर हूँ। अच्छी बात है, तो मैं भी गुलाम नहीं हूँ कि इनके ही काम में लगी रहूँ। मैं कुछ नहीं जानती खाना-वाना। और वह चुप रही।

कालिन्दीचरण ने जरा जोर से कहा—सुनन्दा!

सुनन्दा के जी में ऐसा हुआ कि हाथ की बटलोई को खूब जोर से

फेंक दे। किसी का गुस्सा सहने के लिए वह नहीं है। उसे तनिक भी सुध न रही कि अभी बैठे-बैठे इन्हीं अपने पति के बारे में कैसी प्रीति की और भलाई की बातें सोच रही थी। इस वक्त भीतर ही भीतर गुस्से से घुट कर रह गई।

"क्यों? बोल भी नहीं सकतीं।"

सुनन्दा नहीं ही बोली।

"तो अच्छी बात है। खाना कोई भी नहीं खायगा।"

यह कह कर कालिन्दी तैश में पैर पटकते हुए लौटकर चले गये।

कालिन्दीचरण अपने दल में उग्र नहीं समझे जाते, किसी कदर उदार समझे जाते हैं। सदस्य अधिकतर अविवाहित हैं, कालिन्दीचरण विवाहित ही नहीं हैं, वह एक बच्चा खो चुके हैं। उनकी बात का दल में आदर है। कुछ लोग उनके धीमेपन पर रुष्ट भी हैं। वह दल में विवेक के प्रतिनिधि हैं और उत्ताप पर अंकुश का काम करते हैं।

बहस इतनी बात पर थी कि कालिन्दी का मत था कि हमें आतंक को छोड़ने की ओर बढ़ना चाहिए। आतंक से विवेक कुंठित होता है और या तो मनुष्य उससे उत्तेजित ही रहता है, या उसके भय से दबा रहता है। दोनों ही स्थितियां श्रेष्ठ नहीं हैं। हमारा लक्ष्य बुद्धि को चारों ओर से जगाना है, उसे आतंकित करना नहीं। सरकार व्यक्ति के और राष्ट्र के विकास के ऊपर बैठकर उसे दबाना चाहती है। हम इसी विकास के अवरोध को हटाना चाहते हैं—इसी को मुक्त करना चाहते हैं। आतंक से वह काम नहीं होगा। जो शक्ति के मद में उन्मत्त हैं, असली काम तो उसका मद उतारने और उसमें कर्तव्य-भावना का प्रकाश जगाने का है। हम स्वीकार करें कि मद उसका टक्कर खाकर, चोट पाकर, ही उतरेगा।

यह चोट देने के लिए हमें अवश्य तैयार रहना चाहिए, पर यह नोचा-नोची उपयुक्त नहीं। इससे सत्ता का कुछ बिगड़ता तो नहीं, उल्टे उसे अपने औचित्य पर संतोष ही आता है।

पर जब (सुनन्दा के पास से) लौट कर आया, तब देखा गया कि कालिन्दी अपने पक्ष पर दृढ़ नहीं है। वह सहमत हो सकता है कि हां, आतंक जरूरी भी है। "हां", उसने कहा, "यह ठीक है कि हम लोग कुछ काम शुरू कर दें।" इसके साथ ही कहा, "आप लोगों को भूख नहीं लगी है क्या? उनकी तबियत खराब है, इससे यहां तो खाना बना नहीं। बताओ क्या किया जाय? कहीं होटल चलें?"

एक ने कहा कि कुछ बाजार से यहीं मँगा लेना चाहिए। दूसरे की राय हुई कि होटल ही चलना चाहिए। इसी तरह की बातों में लगे थे कि सुनन्दा ने एक बड़ी थाली में खाना परोस कर उनके बीच ला रखा। रख कर वह चुपचाप चली गई। फिर आकर पास ही चार गिलास पानी के रख दिये और फिर उसी भांति चुपचाप चली गई।

कालिन्दी को जैसे किसी ने काट लिया।

तीनों मित्र चुप हो रहे। उन्हें अनुभव हो रहा था कि पति-पत्नी के बीच स्थिति में कहीं कुछ तनाव पड़ा हुआ है। अन्त में एक ने कहा—कालिन्दी, तुम तो कहते थे खाना नहीं है।

कालिन्दी ने झेंप कर कहा—मेरा मतलब था, काफी नहीं है।

दूसरे ने कहा—बहुत काफी है। सब चल जायगा।

देखूं, कुछ और हो तो—कह कर कालिन्दी उठ गया।

आकर सुनन्दा से बोला—यह तुमसे किसने कहा था कि खाना वहां ले आओ? मैंने क्या कहा था?

सुनन्दा कुछ न बोली।

"चलो, उठा कर लाओ थाली। हमें किसी को यहां नहीं खाना है। हम होटल जायंगे।"

सुनन्दा नहीं बोली। कालिन्दी भी कुछ देर गुम खड़ा था। तरह-तरह की बातें उसके मन में और कंठ में आती थीं। उसे अपना अपमान मालूम हो रहा था, और अपमान उसे असह्य था।

उसने कहा—सुनती नहीं हो कि कोई क्या कह रहा है ? क्यों?

सुनन्दा ने और मुंह फेर लिया।

'क्या मैं बकते रहने के लिए हूँ ?'

सुनन्दा भीतर ही भीतर घुट गई।

'मैं पूछता हूँ कि जब मैं कह गया था, तब खाना ले जाने की क्या जरूरत थी ?'

सुनन्दा ने मुड़ कर और अपने को दबा कर धीमे से कहा—खाओगे नहीं ? एक तो बज गया।

कालिन्दी निरस्त्र होने लगा। यह उसे बुरा मालूम हुआ। उसने मानो धमकी के साथ पूछा—खाना और है ?

सुनन्दा ने धीमे से कहा—अचार लेते जाओ।

'खाना और नहीं है ? अच्छा, लाओ अचार।'

सुनन्दा ने अचार ला दिया और लेकर कालिन्दी भी चला गया।

सुनन्दा ने अपने लिए कुछ भी बचा कर नहीं रखा था। उसे यह सूझा ही न था कि उसे भी खाना है। अब कालिन्दी के लौटने पर उसे जैसे मालूम हुआ कि उसने अपने लिए कुछ भी नहीं बचा कर रखा है। वह

अपने से रुष्ट हुई। उसका मन कठोर हुआ। इसलिए नहीं कि क्यों उसने खाना नहीं बचाया। इस पर तो उसमें स्वाभिमान का भाव जागता था। मन कठोर यों हुआ कि वह इस तरह की बात सोचती ही क्यों है ? छिः! यह भी सोचने को बात है ! और उसमें कड़वाहट भी फैली। हठात् यह उसके मन को लगता ही है कि देखो, उन्होंने एक बार भी नहीं पूछा कि तुम क्या खाओगी ! क्या मैं यह सह सकती थी कि मैं तो खाऊँ और उनके मित्र भूखे रहें ? पर पूछ लेते तो क्या था। इस बात पर उसका मन टूटता-सा है। मानो उसका जो तनिक-सा मान था, वह भी कुचल गया हो। पर वह रह-रहकर अपने को स्वयं अपमानित कर लेती हुई कहती है कि छिः! छिः! सुनन्दा, तुझे ऐसी जरा-सी बात का अब तक खयाल होता है! तुझे तो खुश होना चाहिए कि उनके लिए एक रोज भूखे रहने का तुझे पुण्य मिला। मैं क्यों उन्हें नाराज करती हूँ? अब से नाराज न करूँगी। पर वह अपने तन की भी सुध तो नहीं रखते! यह ठीक नहीं है। मैं क्या करूँ ?

और वह अपने बरतन मांजने में लग गई। उसे सुन पड़ा कि वे लोग फिर जोर-शोर से बहस करने में लग गये हैं। बीच-बीच में हँसी के कहकहे भी उसे सुनाई दिये। 'ओह' सहसा उसे खयाल हुआ, 'बरतन तो पीछे भी मल सकती हूँ। लेकिन उन्हें कुछ जरूरत हुई तो?' यह सोच, झटपट हाथ धो वह कमरे के दरवाजे के बाहर दीवार से लगकर खड़ी हो गई।

एक मित्र ने कहा—अचार और है ? अचार और मँगाओ यार!

कालिन्दी ने अभ्यासवश जोर से पुकारा—अचार लाना भाई, अचार। मानो सुनन्दा कहीं बहुत दूर हो। पर वह तो बाहर लगी खड़ी ही थी। उसने चुपचाप अचार लाकर रख दिया।

जाने लगी तो कालिन्दी ने तनिक स्निग्ध वाणी से कहा—थोड़ा पानी भी लाना।

और सुनन्दा ने पानी ला दिया। देकर लौटी और फिर बाहर द्वार से लग कर ओट में खड़ी हो गई। जिससे कालिन्दी कुछ मांगें, तो जल्दी से ला दे।

सियारामशरण गुप्त

(जन्म १८९५ ई०)

जन्म चिरगांव, झांसी में एक वैश्य-परिवार में हुआ। आपके पिता सेठ श्री रामचरण जी कविता से बड़ा प्रेम रखते थे और स्वयं भी कवि थे। आपके अग्रज श्री मैथिलीशरण जी गुप्त आधुनिक हिन्दी-कविता के प्रवर्तकों में से हैं। अपने अग्रज की भांति आप भी कवि के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। आपकी अब तक ९ कविता-पुस्तकें निकल चुकी हैं। आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। आपने नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध तथा साहित्य के सभी अंगों को अपनी लेखनी से पुष्ट बनाया है। अब तक तीन उपन्यास लिख चुके हैं। गोद, अंतिम-आकांक्षा और नारी, इन उपन्यासों के लिखे जाने की कथा बड़ी विचित्र है। इधर कई सालों से आप श्वास-रोग से पीड़ित हैं, जिससे साल में प्रायः आठ-नौ महीने अशक्त रहते हैं। डाक्टरों ने आपको स्थान-परिवर्तन की सलाह दी। बीमारी की ऐसी अवस्था में आपने समय काटने के लिए उपन्यास लिखे। कविता लिखी नहीं जाती थी, क्योंकि उसके लिखने में गुनगुनाना पड़ता है और ऐसा करने में खांसी का कष्ट बाधक होता था। कहानियां बहुत थोड़ी लिखी हैं, पर वे सुन्दर हैं।

झूठ-सच

तीसरे खण्ड के कमरे में सामने की खिड़की खोलकर लिखने बैठता हूं; कुछ दूर एक घर की छत पर कई दिन से एक दीवार उठ रही है। यहां एक राज है और एक मजूर स्त्री। इस जगह से दोनों काम करते दिखाई देते हैं। कभी-कभी एक तीसरा आदमी दिखाई पड़ता है,—मकान-मालिक। रंग-ढंग से मालूम होता है, वह काम की देख-भाल कर जाता है।

राज कन्नी लेकर ईंटें छांटता है और स्त्री चूना-गारा तसले में लाती है; ठीक नहीं देख सकता कि ऐसा ही होता है। पर इसके अलावा और हो क्या सकता है?

न तो राज की सूरत ठीक-से देख सकता हूं और न उस स्त्री की। कपड़े दोनों के साफ दिखाई देते हैं। राज का कपड़ा उजला है और स्त्री की धोती नीली। यह धोती मानों किसी ने दो चार दिन पहले ही उसे खरीद कर दी हो। वे सफेद और नीले रंग धूप में चमकते हैं! सोचता हूं, दोनों युवक और युवती हैं। इतना ही नहीं, मैं और भी बहुत कुछ सोचता हूं! क्या आप अनुमान नहीं कर सकते कि वह क्या है? जो मैं सोचूंगा, वही आप सोचेंगे। इस समय वहां उस छत पर उन दो को छोड़कर और कोई नहीं है। ऐसे में वे क्या बातें करते हैं, उन्हें मैं अनुमान से ही सत्रा-सोलह आने तक सही बता दूंगा। अनुमान हमारे कान का 'दूरबीन' है। वरन् दूरबीन से भी कुछ अधिक। क्योंकि विज्ञान-वेत्ता सब तरह के छोटे-बड़े दूर-वीक्षण यन्त्र तो बाजार में सुलभ कर सके हैं, पर चाहे जहां की बात सुना दे सकनेवाले स्वतन्त्र श्रुतियंत्र

अब तक हमें नहीं दे सके। फिर भी मेरा काम रुकता नहीं है। यहीं बैठा मैं उस युवक और युवती की बातें सुनता हूं।

क्या विश्वास नहीं होता? मेरा अविश्वास करोगे तो संसार में न जाने कौन-कौन अविश्वसनीय हो उठेंगे। एक युवक है, दूसरी युवती। जानने की बात इतनी ही तो थी। इतना जानकर ही न जानें कितनी रचनाएं ऐसी रची जा चुकी हैं कि जिन्हें पढ़ने के लिए ही जन्मान्तरों तक मुक्ति की कामना स्थगित रक्खी जा सकती है! इन सब को असत्य कैसे कहेंगे? उनकी नहीं कहता, जिन्हें यह जगत् ही माया-मरीचिका जान पड़ता है। दार्शनिक होकर उन्होंने असत्य का ही दर्शन किया है। महत् वही होंगे, जिन्हें काव्य, नाटक, उपन्यास और कहानी तक में सत्य की उपलब्धि हो सके। अतएव जो मैं उस युवक और युवती की बातें यहां से सुन रहा हूं, इसमें किसी तरह का सन्देह न किया जायगा। किया जायगा तो उसके छींटे बहुतों को कलंकित कर देंगे।

* * * *

देखो, वहां उस छत पर यह पतिया जोर से हँस पड़ी है!

वह साधारण मजूर है। परन्तु जब लेखक किसी के प्रति आकर्षित होता है, तब यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती कि सुन्दर भी वह है। दिन में ही उसकी हँसी से वहां चांदनी-सी छिटक गई है।

राज कहता है—देख पत्ती, इस तरह मत हँसा कर। यह हँसी बहुत बुरी है।

पतिया कहती है—बुरी है तो आंखें बन्द कर लो।

'तेरे पास होने से ही आंख और कान न जानें कहां चले जाते

हूं। जो अपने आपे में नहीं रहता है। मन कहता है कहीं बहुत दूर भाग चलें।'

'तुम्हें रोकता कौन है ? भाग जाओ, घर से उन्हें साथ लेकर।'

'किसे,—घर के उस कोयले को ? बचने दे; कहीं से कोई चिनगारी आ गिरी तो उसके साथ वहीं का वहीं 'सती' हो जाऊँगा !'

पतिया फिर से हँस पड़ती है। राज कहता है--फिर उसी तरह हँसती है ! रुक जा। नीचे मालिक आ गये हैं। सुन लिया, तो एकदम काले पानी की सजा बोल देंगे।

'मेरा मालिक कोई नहीं है।'

नीचे से आवाज आती है--'क्या हो रहा है यह ? सब देख रहा हूँ। आज की मजूरी न दी जायगी।'

जानता हूँ, हजारीलाल की आवाज है। यह छत उन्हीं की है। ये उन लोगों में से हैं, जो अपने को सर्वज्ञ समझते हैं। बात करते हैं, तो उसे पूरी ही नहीं होने देते। जानते हैं, भगवान् ने जीभ उन्हीं को दी है, और सब को केवल कान दिये हैं।

पतिया और राज एक दूसरे को देख कर आंखों ही आंखों में मुसकाये। इसके बाद राज ने कन्नी हाथ में लेकर ईंट पर ठोकर दी और मूंज की बती कुंड़ई सिर पर रखकर पतिया ने तसला अपनी ओर खींचा।

धीमे स्वर में राज ने कहा—तेरे मालिक नहीं है ? कोई तो होगा। बता, कौन है ?

अब नीचे सीढ़ियों पर किसी के चढ़ने का शब्द सुनाई दिया। पतिया ने कुछ कह कर तसले में चिपका हुआ चूना खुरचा और उसे राज

के ऊपर छिड़कती हुई झट-से नीचे उतर गई। राज के मुख पर सन्तोष की रेखा दिखाई दी। पतिया के उस व्यवहार में अपने प्रश्न का एक उत्तर उसने पा लिया था।

थोड़ी देर बाद जिस समय हजारीलाल ऊपर आकर खड़े हुए, उस समय राज अपने काम में इस तरह जुटा था कि उनकी ओर देखने तक का अवसर उसे नहीं मिला। पतिया सिर से चूने का तसला उतार रही थी। उसे राज के आगे रखकर उसने सिर का वस्त्र सँभाल लिया।

हजारीलाल ने कुछ काम न होने की शिकायत तो की, पर उस शिकायत में बल न था। जैसे यह जाबिते की कार्रवाई हुई हो। असल में काम-काज देखने वह नहीं आये थे। कुछ और ही देख जाने का उद्देश्य उनका था। वह सम्भवतः पूरा नहीं हुआ है। उन्होंने राज से कुछ काम की और कुछ बिना काम की बातें कीं, कुछ देर तक यों ही खड़े भी रहे। अन्त में लाचार होकर जब नीचे उतरने लगे, तब उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि अबकी बार 'चलि औचक चुपचाप' यहां का काम देखा जायगा।

हजारीलाल नीचे उतरे और पतिया की वही हँसी फिर वहां छिटक पड़ी।

सांझ हो आई है। काम बन्द करके वे दोनों छत से उतर रहे हैं। मुझे भी अब अपनी खिड़की बन्द करनी पड़ेगी।

* * * *

घूमते समय हजारीलाल से भेंट हो गई थी। उनसे भी मालूम हुआ कि उनकी छत पर कुछ काम लगा है। कुछ झूठ थोड़े कहा था। मालूम हुआ, राज का नाम है काशीराम। हां, पतिया का नाम रधिया

निकला। इससे बहुत अन्तर नहीं पड़ता। मैं पतिया ही कहूँगा। कोई कवि हों, तो वह भी बिना छन्दोभंग के ऐसा ही कर सकते हैं।

विशेष बात मैंने उनसे नहीं की। यह ठीक नहीं जान पड़ता कि अपनी बातों की सचाई का प्रमाण-पत्र उनसे चाहा जाय। मेरे कहने से ही कोई बात झूठ और हजारीलाल के कहने से ही सच हो, यह हो कैसे सकता है।

लिखने के कमरे की खिड़की मैंने बन्द कर रखी है, काशीराम और पतिया उस छत पर से चले गये हैं, तब भी मेरा निज का काम रुकना नहीं चाहता। न जानें नये-नये कितने रूपों में वे दोनों मेरे सामने उपस्थित हो रहे हैं। प्रयत्न करता हूँ, पर नींद नहीं आती। आंखें बन्द कर लेने पर वे और भी स्पष्ट हो उठते हैं। अँधेरा है, सुनसान है, सब ओर सन्नाटा है; तब भी कवि सूर की भांति रूप और दृश्य का नया सागर-सा मेरे चारों ओर उमड़ उठा है ! मेरे मस्तक में गरमी है। विश्राम नहीं मिलने पाता। सोचता हूँ, इससे बचने का उपाय ही क्या? लेखक बनना है, तो यह सब मुसीबत भी झेलनी होगी। बहुत रात गये किसी तरह नींद आती भी है, किन्तु ये काशीराम और पतिया मेरा साथ नहीं छोड़ते।

जा पहुँचा हूँ पतिया के घर पर। छोटी-सी झोपड़ी है। गली में गन्दगी इतनी कि उस तक पहुँचना भी दूभर हो उठा। घरों के नाबदान गली में पसर कर खुली वायु का सेवन करते हैं। किसी तरह कर्म-कौशल से ही इस झोपड़ी के भीतर पहुँच सका हूँ। इसी में वह सुन्दरी रहती है। बहुत विस्मय नहीं हुआ। कमल और कीच की बात बहुत सुन रक्खी थी। दोनों के निकट सम्बन्ध का प्रमाण प्रत्यक्ष में यहीं दिखाई दिया।

एक कोठरी में पतिया की मां खाट पर पड़ी है। हाल में ही वह

बहुत कड़ी बीमारी भोग चुकी थी। कमजोरी अब भी इतनी है कि चल-फिर नहीं सकती। उसको आंखों में नींद न थी। खटिया पर लेटे-लेटे उसने पुकारा—पतिया! पतिया दूसरे घर में कुछ कर रही थी; वहीं से उसने कहा—चिल्लाती क्यों हो, आती तो हूँ।

थोड़ी देर बाद आकर वह मां के सिरहाने खड़ी हो गई। बोली—अभी-अभी चिल्ला रही थीं, जैसे घर में आग लग गई हो। अब मुखारबिन्द क्यों नहीं खुलता ?

'कुछ नहीं। कहती थी, गरमी बहुत है, खुले में लिटा दे तो'—

'क्यों नहीं। खस की टट्टियां लगा दूंगी, दो-चार नौकर बुलवा कर रात भर पंखा डुलवाऊँगी। नहीं तो सोओगी किस तरह ?—कहकर पतिया झल्लाती हुई वहां से चली गई। मां ने ओठों ही ओठों में न जानें क्या कहा, कुछ समझ नहीं पड़ा।

धीमे से किवाड़ खुलने की आवाज आई। मां ने पूछा—कौन है ?

'मैं काशीराम।'

आकर वह खड़ा हो गया। इतनी रात गये उसका आना नया न था। मां की बीमारी में इधर वह रात-रात भर रह चुका है।

मां बोली—आओ बेटा, आओ। अरी ओ पतिया, सुन री! काशीराम आया है। कहां गई है, एक बोरा तो बिछा जा।

पतिया ने जैसे सुना ही नहीं। मां बड़बड़ाने लगी—ऐसे कुलच्छन हैं इसके। इसी से इसके भाग फूटे हैं बेटा।

थोड़ी देर में पतिया ने आकर कहा—चिल्लाकर क्यों मुहल्ले में डौंडी पीटती हो ? आये हैं, तो कोई बुलाने गया था ? हमारे यहां

बैठने के लिए मेज-कुरसी नहीं है। बड़े भारी राजा-नवाब तो हैं, जो जमीन पर नहीं बैठ सकते।

काशीराम को बुरा नहीं लगा। वरन् जान पड़ा, जैसे वह प्रसन्न ही हुआ हो। बैठ वह पहले ही चुका था। उसने मां की तबीयत का हाल पूछा, बहुत जल्द अच्छे हो जाने की सान्त्वना दी और इधर-उधर की दूसरी बातें चलाईं।

पतिया वहां से चली गई थी। मां ने शिकायत की—क्या कहूं बेटा, यह कलमुंही मरती भी नहीं है।

'चांद के-से टुकड़े को कलमुंही कहती हो मां?'

'एक बार नहीं, हजार बार। इसी से तो इसके भाग फूटे हैं।'

'कलमुंही देखनी हो, तो मैं तुम्हारी बहू को यहां लाऊं।'

'उसकी क्या कहते हो बेटा, वह देवता है। ऐसी बहू सब को नहीं मिलती।'

'मिलती तो नहीं है। जिसने पाप किये होते हैं, उसी को मिलती है।'—कहकर काशीराम अपने आप हँस पड़ा।

जाते समय अकेले में काशीराम का पतिया से सामना हो गया। धीरे से हँसकर बोली—देवता के पास जा रहे हो? खूब अच्छी तरह पूजा-आरती करना।

पतिया की मुसकराहट अँधेरे में नक्षत्र की तरह झिलमिला उठी। इसके बाद दोनों ही एक साथ अदृश्य हो गये।

रात गहरी होने के साथ-साथ सब ओर सन्नाटा फैलता गया। बीच-बीच में मां की बकझक सुनाई पड़ती थी—अरी कहां गई री।

इतने सबेरे सो गई, पीने के लिए पानी तो रख जाती। प्यास के मारे गला घुटा जाता है। अरी ओ, सुन तो!

किसी ने नहीं सुना, कोई उसके पास नहीं आया।

❀ ❀ ❀ ❀

उठ कर जिस समय खटिया पर बैठा-बैठा आंखें मलता हूं, उस समय उजली धूप छत पर फैली हुई है। रात को गायब हुए काशीराम और पतिया, दोनों ही, अपने स्थान पर कभी के काम-काज में जुटे हैं।

देखता हूं, नई कृति की सामग्री मिलती ही जा रही है। स्वप्न में भी और जागृति में भी। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। ऐसे लोग हो सकते हैं, जो जागृति की बात तो मानेंगे, किन्तु स्वप्न को अस्वीकार कर देंगे। यह विचार ऐसा है कि दिन को तो मान लिया जाय और रात के लिए कहा जाय यह असत्य है! यदि एक सत्य है, तो दूसरे को भी वैसा ही कहना पड़ेगा।

वहां वे दोनों, काशीराम और पतिया, ईंट, चूना और गारे के साथ जूझते हैं, और इधर में उन्हें बहुत दूर एकान्त में ले पहुंचा हूं। साधारण जन उन्हें उसी जगह देखते हैं। उनमें लेखक की अन्तर्दृष्टि कहां? जहां छत पर वे दिखाई देते हैं, सचमुच में वहां से वे ला-पता हैं। कोई जानता नहीं है कि गये कहां हैं। उस छत पर काम कई दिन से रुका है। इस बीच में उन दोनों में क्या-क्या बातें हुईं, पहली रात उनकी किस जगह कटी, आगे चलकर पुलिस की आंख में उन्होंने किस तरह धूल डाली, और भी बहुत-सी बातें हैं, जिन्हें मैंने अच्छी तरह जान लिया है। वह नारी उस पुरुष का अपहरण पूर्णतया कर चुकी है। जो पुरुष के द्वारा नारी के अपहरण की बात पढ़ते रहते हैं, वे शंका करेंगे। पर

वास्तव में बात वैसी है नहीं। पुरुषों के द्वारा नारी का अपहरण असाधारण होने से ही पत्रों में उस तरह प्रकाशित किया गया है।

अपहरण!—यही मेरे नये ग्रन्थ का नाम होगा। पर यह बाद में सोचा जायगा। इस समय तो मैं देख रहा हूँ कि ये दोनों किसी दूर के शहर में जाकर, एक नये घर में टिक चुके हैं। काशीराम दिन में जब काम की खोज में बाहर चला जाता है, तब डेरे में बैठी-बैठी पतिया आस-पास के किरायेदारों में अपनी मधुर मुसकराहट से घनिष्ठता का भाव उत्पन्न करती है। यहां ईंट-चूने के साथ जूझते हुए भी ये कितने आगे निकल चुके हैं, इसे स्वयं तक नहीं जानते!

और आज सचमुच वह छत सूनी पड़ी है। यहां कई दिन पहले जो शून्यता मैंने देख ली थी, उसे दूसरे लोग आज देखते हैं। काशीराम और पतिया काम पर नहीं आये। कई दिन इस तरह निकल जाते हैं, किन्तु वे दिखाई नहीं पड़ते। अचानक उस छत का काम रुक गया है, यह दूसरे लोग भी देख रहे हैं। वहां छत का काम रुका है, परन्तु मेरे निर्माण में कोई बाधा नहीं पड़ी। उसमें तेजी ही आई है।

❀ ❀ ❀ *

आज हजारीलाल के पास चला गया था। मैंने पूछा—तुम्हारे काशीराम और रधिया का क्या हाल है?

बोले—पता नहीं। कई दिनों से काम बन्द है।

मैंने मुसकराकर कहा—वही तो। कई दिन से छत सूनी दिखाई पड़ती है।

हजारीलाल कहने लगे—हां, तुम उस ऊपर वाले कमरे में बैठते हो? एक दिन अपनी छत पर से जान पड़ा था कि तुम होगे। कहो

आज कल क्या लिखा जा रहा है? इधर तुम्हारी तारीफ बहुत सुनी है।

मैंने कहा—'तारीफ सुनी है'—यह मेरे लिए तो तारीफ नहीं हुई। इतने निकट से उसे तुम देख नहीं सके, उसे तुमने सुना भर है!

हजारीलाल ने कुछ लज्जित होने का भाव दिखाया। कहने लगे—हां भाई, तुम्हारी किसी चीज को अभी तक पढ़ा तो नहीं है। क्या करूँ, काम-काज के मारे फुर्सत नहीं मिलती।

'फुर्सत नहीं मिलती, फिर भी दूकान पर तुम्हारे यहां घन्टों पौ-बारह की धूम रहती है। तुम्हें बधाई!'

'बात यह है कि खेलने से जी हरा रहता है। और यह भी कि तुम-जैसे बड़े लेखकों की बातें हम-जैसे की समझ में नहीं आतीं।'

'किस बड़े लेखक की चीज तुमने पढ़ी थी, मैं भी तो सुनूं।'

जान पड़ा, हजारीलाल जैसे अब तक अपना गला ही गरम कर रहे थे। अब कोई बात वे सुनायेंगे। बोले—यों ही उनकी एक पुस्तक हाथ में आ गई थी। पुस्तक का विज्ञापन अखबारों में इतने मोटे-मोटे अक्षरों में हो रहा था, जैसे कहीं महायुद्ध छिड़ा हो। सब पढ़े लिखे लोगों में उसी की चर्चा। सो ऐसे ही ऐसे में एक मित्र के कमरे में वह दिखाई दे गई। मैंने पढ़ने के लिए उसे चाहा, तो मित्र की तो यह हालत, जैसे मैं उनकी हवेली लूट लूंगा। हिम्मत के साथ उनका सामना करके किसी तरह पुस्तक उठा ही लाया। परन्तु जाने दूं। प्रशंसा करूँ तो वाह वाह और निन्दा करूँ तो वाह वाह! लेखक की भलाई दोनों बातों में है। भाव कुभाव अनख आलस हूं—सभी ओर मंगल ही मंगल।

मैंने पूछा--पुस्तक का नाम तो बताओ, लेखक का नाम तक नहीं लेना चाहते।

कहने लगे--गुरु का नाम लेने की मनाई है। उस पुस्तक से बहुत बड़ी शिक्षा ले चुका हूँ, इसलिए किसी तरह उसका नाम नहीं लूंगा। और नाम तो एक झूठी या बनावटी बात है। भूकम्प का, उल्कापात का, अग्निकांड का आज तक किसी ने नामकरण किया है? वह भूकम्प है, वह उल्कापात है, वह अग्निकांड है, वह पुस्तक है--केवल इतना कह देने से काम निकल जाता है।

कुछ ठहर कर हँसते हुए ही कहने लगे--पुस्तक के सम्बन्ध में प्रारम्भ में ही लेखक ने प्रतिज्ञा की थी--मैं सत्य का यथार्थ और नग्न निदर्शन करूंगा!--मेरी उत्सुकता बढ़ गई। पढ़नेवाले को इसके अतिरिक्त और चाहिए क्या? उस दिन अपने खिलाड़ी साथियों को भी निराश करके मुझे लौटा देना पड़ा। पुस्तक लेकर पढ़ने बैठा, तो प्रारम्भ में ही माथा ठनका। देखा,--यह किन शोहदों के बीच में जा पहुँचा हूँ। एक कोई मायाविनी है, सब उसी के आस-पास चक्कर काट रहे हैं। लेखक को उन्हीं बातों में रुचि, उन्हीं बातों में उसका आनन्द, और उन्हीं बातों में उसका रस। सत्य और यथार्थ का तो वह द्रष्टा ही ठहरा! वर्णान्धता की बात डाक्टरों के मुंह से सुनी थी, परन्तु गुणान्धता का पता उसी बार चला। कुत्सित, कुरूप और घृण्य के प्रति ही लेखक का आकर्षण दिखाई दिया। शराब के भद्र दलाल देखे हैं, परन्तु किताबें भी वैसी ही, वरन् उससे हजार गुनी बुरी, दलाली इस युग में करने चलेंगी, यह उसी दिन मालूम हुआ। थोड़ी देर तक ही पुस्तक हाथ में रह सकी। जब सहन करना पूर्णतया असम्भव हो उठा, तब वहीं से नीचे के नाबदान में उसे छोड़ दिया। जहां की चीज थी, वहीं पहुँच

गई। परन्तु क्या कहूँ, इसी बात को लेकर उसी दिन से मेरे उन मित्र महोदय ने मुझसे बोलना तक बन्द कर रक्खा है। बताइए, इसमें मेरा क्या दोष? तभी से किसी पुस्तक को छूते हुए डरता हूँ। इसी का फल है, जो आज तुम्हारे सामने लज्जित होना पड़ा कि तुम्हारी भी कोई चीज अब तक मैंने नहीं देखी।

गुस्सा होकर ही घर लौटा। जान पड़ा कि मेरे नये ग्रन्थ की पूर्वालोचना करने के लिए ही हजारीलाल ने यह किस्सा गढ़ा है। उत्तर देने के लिये अब कितनी ही बातें मेरे मन में टूट पड़ी हैं। उन्हें ओज से, अलंकार के अस्त्रों से, सजाकर मैंने पंक्तिबद्ध किया। परन्तु सामने प्रतिद्वन्द्वी न होने से आग-लगी अकेली लकड़ी की भांति अपने आप दग्ध होकर शान्त हो जाना पड़ा है। अन्त में यही निश्चय रहा कि हजारीलाल की खबर अपने नये ग्रन्थ में लेनी पड़ेगी, यही नाम ज्यों का त्यों रखकर।

हजारीलाल कहां? आकर्षण तो उस मायाविनी के प्रति है। उस दूर के शहर में उस नये मकान के बीच जहां वे दोनों आजकल टिके हैं, वहां इस समय एक भयंकर काण्ड होने जा रहा है। काशीराम खटिया पर लेटा हुआ है। चारों ओर रात का सन्नाटा। कमरे में काशीराम के घुरकने की आवाज को छोड़कर जैसे और कोई पदार्थ जीवित नहीं। मिट्टी के दिये की लौ तक निष्पन्द है। इस समय पतिया के हाथ में अचानक एक छुरी चमक उठती है। उस चमक में जैसे छुरी का भीषण भय कांप गया हो। और इसके बाद ही एक चीत्कार, रक्त की एक धारा, थोड़ी देर के लिए तड़फड़ाहट और फिर सब कुछ सदा के लिए शान्त। अब उस राक्षसी का कहीं पता तक नहीं, वह अपने नये प्रेमी के साथ सुरक्षित है।

सब कुछ स्पष्ट हो चुका है। अब बदला न जायगा, रचना का नाम होगा--'राक्षसी'। हजारीलाल को छोड़ दिया जाय, तो भी हानि नहीं। पर इस समय कुछ लिखा नहीं जा रहा है। एक बात लिखने बैठता हूँ, और दस बातें दिमाग में कोलाहल करती हैं। किसे कहां जगह दूं, समझ में नहीं आता। अभी कुछ ठहरने की आवश्यकता है। विचारों के इस उफान में कितना कुछ उफन कर नीचे की आग में गिरा जा रहा है। गिरा जा रहा है, तो गिर जाने दो। इसके बाद भी पात्र में इतना बचेगा कि उससे 'राक्षसी' में किसी तरह की कमी न पड़ेगी।

❀ ❀ ❀ ❀
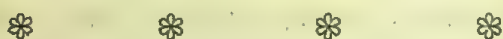
इधर कई दिनों से हजारीलाल के साथ बहुत मिलना-जुलना हो रहा है। वह बुरा हो सकता है; परन्तु उस बुराई से भी कुछ न कुछ मिलेगा ही। इस खाद से लेखक की उर्वरा-शक्ति बढ़ेगी।

आज बहुत दिनों बाद हजारीलाल के यहां काशीराम दिखाई पड़ा। अवस्था उसकी बहुत अच्छी न थी। शरीर का जैसे सारा रक्त निकल गया हो। चेहरा सूखा हुआ दुबला-दुबला, बरसों के रोगी की तरह। स्वीकार करना पड़ेगा, उसे देखकर, दया-जैसी ही किसी वस्तु का अनुभव हुआ।

मुझे देखकर हजारीलाल ने कहा--लो, ये आ गये। इनकी सलाह लो।

बात क्या है?--मैंने पूछा।

काशीराम चुपचाप किसी विचार में डूबा रहा, उसके कान तक मेरी बात पहुँच नहीं सकी। आंखों में उसकी पागलपन-जैसी चमक थी। मैंने फिर पूछा--बात क्या है? अब की बार उसने मेरी ओर

देखकर हाथ जोड़े। बोला—बात कुछ नहीं है, जो कुछ होना है, हो जायगा। मैं उसका गला घोंट दूंगा।

'गला किसलिए घोंटोगे ? क्या उसने तुम्हारी गर्दन पर छुरी फेर दी थी, जो इस तरह बदला लोगे ?'

'गर्दन पर ? गर्दन पर नहीं, कलेजे पर। मैं इसका मजा चखा दूंगा।'

'बिगड़ो मत, समझदारी की बात करो। किसलिए उसे मजा चखाओगे ? तुमने भी तो कोई बुराई उसकी की होगी।'

काशीराम ने हजारीलाल की ओर मुड़कर कहा—सुना मालिक ? कहते हैं, मैंने उसकी बुराई की होगी। बुराई करनी होती तो उसे उसी दिन सात साल चक्की पीसने के लिए भिजवा देता। वह तो जानवर है, इसी से नेकी की बात इतने जल्द भूल गया है।

मैं सँभला। यह स्त्री का मामला नहीं, कोई दूसरी बात है। मैंने कहा—इस तरह बात समझ में नहीं आती। खुलासा सब हाल कहो। अगर कोई जानवर है, तो उसके साथ वैसा ही बर्ताव किया जायगा।

इसी तरह कुछ और दिलासा दिए जाने पर सँभल कर उसने कहना आरम्भ किया—पिछले जेठ की ही तो बात है। उस दिन वहां का एक आदमी आकर कह गया, रधिया को उसके घरवाले ने दो दिन से अपने घर में ताला लगा कर बन्द कर रक्खा है। उसने उसे खाने-पीने तक को नहीं दिया। यह कैसी बात ! मेरा जी घबराया। उसी समय हाथ का कौर थाली में पटक कर मैं उस गांव के लिए चल पड़ा। जब वहां पहुँचा, रात के आठ-नौ का समय होगा। सुनी हुई बात सब सच निकली। गिरधारी शराब पिये औंधे मुंह पड़ा था। उस कोठरी तक पहुँचने में रुकावट नहीं हुई, जहां रधिया ताले में बन्द थी। ताला ऐसा था कि बिना चाबी के खोलने में

कठिनाई नहीं हुई। हाथ पकड़ कर कोठरी के भीतर से उसे निकाला। पूछा--यह क्या हाल है री तेरा? बोली--पहले दो घूंट पानी। प्यास के मारे गला सूखा जाता है।--गिरधारी पर ऐसा गुस्सा आया कि अभी इसका गला घोंट दूं। एक लोटा पानी भर कर दिया, तो रधिया गट गट करके उसी दम उसे पूरा का पूरा पी गई। बाद में मालूम हुआ कि गिरधारी ने किसी की चोरी की थी। रधिया ने रोका कि यह अच्छी बात नहीं। बस इसी बात को लेकर झगड़े की गांठ दोनों में पड़ गई। दूसरे-तीसरे दिन ही यह बहाना लेकर उस कसाई ने रधिया को बन्द कर दिया कि तुझे रोटी करनी नहीं आती। मैंने कहा--मैं थाने में खबर करता हूँ, चोरी का माल अभी घर में होगा; तभी लालाजी के होश ठिकाने होंगे। रधिया मेरे पैरों पड़ गई--ना-ना, ऐसा न करो; ऐसा जानती तो तुमसे न कहती।--वह तो रोने-चिल्लाने लगी। मैंने कहा--मर अभागी, इसी तरह मर! अब कहो, यह मैंने उसकी बुराई की, जो उसी दिन उसे जेल नहीं भिजवाया?--तब फिर उसी रात रधिया को मैं वहां से भगा लाया। भगा न लाता, तो उसकी जान न बचती।

'जानता हूँ, सब जानता हूँ, कानून तो यही कहता है कि गाय की गर्दन कट जाने दो, कुछ बोलो मत। मैं ऐसे किसी कानून को नहीं मानता।'

थोड़ी देर में काशीराम शान्त हुआ। रधिया का नाम लेते ही जान पड़ता था, उसके वचनों में चन्दन का लेप होता हो। कहने लगा--घर लाकर मैंने रधिया से कहा--देख री, अब मैं तुझे वहां जाने न दूंगा। वहां गई तो जीती न बचेगी। इसी घर में रूखा-सूखा पाकर मालकिन की तरह रह। यहां आकर वह झांकेगा, तो उसके दांत तोड़ दूंगा। बोली--अब वहां जाऊँगी? मैं ऐसी नहीं हूँ--मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। किसी बात की कमी न थी। मालिक का काम करते थे, और पैर पसार कर रात

को सुख की नींद लेते थे। किसी बात का कोई खटका न था। बीच में एकाध बार गिरधारी दिखाई दिया, पर मेरे डंडे को देखकर उसकी हिम्मत नहीं हुई कि कुछ कहे। रधिया कितनी सीधी है, यह तो तुम जानते ही हो मालिक। पर उस दिन मैंने सुना कि गिरधारी को उसने भी ऐसा फटकारा कि जिसका नाम। जिस दिन रधिया को लाया था, उस दिन उसकी हालत थी, जैसे महीने भर की लंघनें कर चुकी हो। यहां थोड़े ही दिनों में वह फूल-सी खिलने लगी। मैंने सोचा कि अब कुछ ऐसा करना चाहिए, जिसमें आगे किसी तरह का खटका न रहे। इसी बीच में वहां के किसी आदमी ने सुनाया कि गिरधारी बीमार है। सुनकर रधिया का चेहरा फीका पड़ गया। पूछने लगी--कैसी बीमारी है ? मैंने कहा---होगी किसी तरह की, तू तो अपना काम देख। वह चुप रह गई। दूसरे-तीसरे दिन फिर वही खबर। गिरधारी को लंघनें हो रही हैं ! तो अब तक लंघनें हो रही हैं, मरा क्यों नहीं ? रधिया एक जगह अकेली बैठकर रो रही थी। मैंने फटकारा। कहा---रोती क्यों है ? वैसे आदमी को ऐसी ही सजा मिलनी चाहिए। वह तो एकदम बदल गई। कहने लगी---कोई बुरी बात मुंह से निकालोगे, तो अपना सिर फोड़ लूंगी।---मैं सन्नाटे में आ गया। स्त्री की जाति कैसी नमकहराम होती है ! वह तो दो दिन में ही मुरझाने लगी। बोली---मैं जाऊँगी।---मैंने रोका---वहां जाकर मेरी नाक कटायेगी क्या ? वहां जाने का नाम लिया, तो याद रखना,---हां ! उसी दिन वह किसी से कुछ कहे-सुने बिना घर से निकल गई ! उस समय मैं कहीं गया हुआ था। लौट कर मैंने कहा---जाने दो, पिंड छूटा। पर क्या कहूं मालिक, उसके बाद ही मेरी आंखों में आंसू आ गये। घर ऐसा लगने लगा, जैसे काट खाएगा। उस अभागी ने मेरी बात न रक्खी। सोचा, अब की बार उसे वहां अच्छी सिखावन मिले। सो वही बात हुई मालिक, वही बात हुई। राम रे, मैंने अपने आप उसका बुरा चेता !

काशीराम की आंखों से आंसू झरने लगे। कुछ सँभल कर फिर उसने कहा—मैं तो समझता ही था कि बीमारी की बात बहाने की है। वही निकला। वह भला चंगा शराब पीता था और आनन्द करता था। बेचारी छल ही छल में वहां फँस गई। अब कल की ही बात है, उन दोनों में फिर कोई बात हुई। वैसे ही कुछ चोरी-चपाटी की होगी। सो उसने रधिया को इस बार इतना पीटा कि उसका हाथ टूट गया है। अस्पताल पहुँच गई है। मैं खुद जाकर देख आया हूँ। डाक्टर साहब कहते हैं कि मैं दस रुपये लाऊँ, तो वे ऐसी दवा मँगा देंगे, जिससे हाथ की हड्डी जुड़ जाय। सो भी पूरा विश्वास उन्हें नहीं है। पीटा उस हत्यारे ने, हड्डी तोड़ी उस हत्यारे ने और दण्ड भरूँ मैं! दस रुपये। मैं ऐसा नासमझ नहीं हूँ। मेरे पास रुपये क्या पैसे तक तो हैं नहीं। जब गिरधारी का गला घोंट दूंगा, तभी मुझे चैन मिलेगा।

काशीराम के चेहरे पर गहरी पीड़ा के लक्षण दिखाई दिये। जैसे उसका शरीर ऐंठने लगा हो। दायां हाथ बांयें पर रखकर एक स्थान बताते हुए रोती हुई बोली में उसने कहा—हत्यारे ने बेचारी का हाथ तोड़ दिया है, हाथ!

दुखी होकर मैंने समझाया—दूसरे की व्याहता को तुम्हें भी तो उस तरह भगा लाना ठीक न था।

'ठीक था मालिक, एकदम ठीक था। गिरधारी की व्याहता है, तो मेरी भी वह सगी बहन है। उसे कैसे उस कसाई के हाथ में रहने देता? हाथ तोड़ डाला, इससे तो मार ही डालता तो अच्छा था। अभागी अब काम कैसे करेगी?'

'रधिया तुम्हारी बहन है!'—मेरी आंखों में भी आंसू थे।

घर आकर पहला काम यह किया कि अपनी 'राक्षसी' के प्रारम्भिक पृष्ठ फाड़कर नाबदान में छोड़े, हां नाबदान में ही, और तैयार होकर तुरन्त निकल पड़ा। देखूं अस्पताल में रधिया की कुछ सहायता कर सकता हूं या नहीं।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

(जन्म—१९०६ ई०)

आपका जन्म पश्चिमोत्तर पंजाब के एक गांव कोटअद्दू में हुआ। शिक्षा गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार में आपने प्राप्त की। आपकी १९२८ में पहली कहानी 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई। अब तक 'चंद्रकला', 'भय का राज्य' तथा 'अमावस' नाम से तीन कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। अब से ५–६ वर्ष पूर्व आपने हिन्दी-कहानियों के विकास पर एक आलोचनात्मक लेख 'विशाल भारत' में लिखा था। इस लेख ने उन सब कहानी-लेखकों का, जिनकी इसमें आलोचना की गई थी, ध्यान आकर्षित किया और पत्र-पत्रिकाओं में काफी चर्चा रही। आपके इसी लेख को ध्यान में रखकर एक आलोचक ने लिखा है कि आप में कहानी-लेखक होने की अपेक्षा कहानी के समालोचक होने की प्रतिभा अधिक है। परन्तु यहां जो कहानी दी जा रही है, उससे सिद्ध होता है कि आप सुन्दर कहानी लिखते हैं। कहानियों के अलावा आपने नाटक तथा एकांकी नाटक भी लिखे हैं।

हूक

जब तक गाड़ी नहीं चली थी, बलराज जैसे नशे में था। यह शोरगुल से भरी दुनिया उसे एक निरर्थक तमाशे के समान जान पड़ती थी। प्रकृति उस दिन उग्र रूप धारण किये हुए थी। लाहौर का स्टेशन। रात के साढ़े नौ बजे। कराची एक्सप्रेस जिस प्लेटफार्म पर खड़ी थी, वहां हजारों मनुष्य जमा थे। ये सब लोग बलराज और उसके साथियों के प्रति, जो जानबूझ कर जेल जा रहे थे, अपना हार्दिक सम्मान प्रकट करने आये थे। प्लेट-फार्म पर छाई हुई टीनों पर वर्षा की बौछारें पड़ रही थीं। धू-धू करके गीली और भारी हवा इतनी तेज चल रही थी कि मालूम होता था, वह इन सम्पूर्ण मानवीय निर्माणों को उलट-पुलट कर देगी; तोड़-फोड़ डालेगी। प्रकृति के इस महान उत्पात के साथ-साथ जोश में आये हुए उन हजारों छोटे-छोटे निर्बल-से देहधारियों का जोशीला कंठस्वर, जिन्हें 'मनुष्य' कहा जाता है—

बलराज राजनीतिक पुरुष नहीं है! मुल्क की बातों से या कांग्रेस से उसे कोई सरोकार नहीं। वह एक निठल्ला कलाकार है। मां-बाप के पास काफी पैसा है। बलराज पर कोई बोझ नहीं। यूनिवर्सिटी से एम० ए० का इम्तहान इज्जत के साथ पास करके वह लाहौर में ही रहता है। लिखता-पढ़ता है, कविता करता है; तसवीरें बनाता है और बेफिक्री से घूम-फिर लेता है। विद्यार्थियों में वह बहुत लोकप्रिय है। मां-बाप मुफस्सिल में रहते हैं, और बलराज को उन्होंने सभी तरह की आजादी दे रखी है।

ऐसा निठल्ला बलराज कभी कांग्रेस-आन्दोलन में शामिल होकर जेल जाने की कोशिश करेगा, इसकी उम्मीद किसी को नहीं थी। किसी को मालूम नहीं कि कब और क्यों उसने यह अनहोनी बात करने की

निश्चय कर लिया। इतना ही मालूम है कि बारह बजे के करीब विदेशी कपड़े की किसी दूकान के सामने जाकर उसने दो-एक नारे लगाये; चिल्लाकर कहा कि विदेशी वस्त्र पहनना पाप है, दो-एक भलेमानसों से प्रार्थना की कि वे विलायती माल न खरीदें। नतीजा यह हुआ कि वह गिरफ्तार कर लिया गया। उसी वक्त उसका मामला अदालत में पेश हुआ और उसे छः महीने की सादी सजा सुना दी गई। बलराज के दोस्तों को यह समाचार तब मालूम हुआ, जब एक बन्द लारी में बैठाल कर उसे मिन्टगुमरी जेल में भेजने के लिए स्टेशन की ओर रवाना कर दिया गया।

लोग, विशेषकर कालेजों के विद्यार्थी—बलराज के जय-जयकारों से आसमान गुंजा रहे थे; परन्तु वह जैसे जागते हुए भी सो रहा था। चारों ओर का विक्षुब्ध वातावरण, आसमान से गाड़ी की छत पर अनन्त वर्षा की बौछार और हजारों कंठों का कोलाहल, बलराज के लिए जैसे यह सब निरर्थक था। उसकी आंखों में गहरी निराशा की छाया थी, उसके मुंह पर विषाद-भरी गहरी गम्भीरता अंकित थी और उसके होंठ जैसे सी दिये गये थे। उसके दोस्त उससे पूछते थे कि आखिर क्या सोचकर वह जेल जा रहा है; परन्तु वह जैसे बहरा था, गूंगा था—न कुछ सुनता था, न कुछ बोलता था।

कांग्रेस के उन पन्द्रह-बीस स्वयंसेवकों में बलराज एक को भी नहीं जानता था, और न उसके कपड़े ही खद्दर के थे; परन्तु उन सब वालंटियरों में एक भी व्यक्ति उसके समान पढ़ा-लिखा, प्रतिभाशाली और सम्पन्न घराने का नहीं था। इससे वे सब बलराज को इज्जत की निगाह से देख रहे थे। गाड़ी चली तो उन सबने मिलकर कोई गीत गाना शुरू किया, और बलराज अपनी जगह से उठ कर

दरवाजे के सामने जा खड़ा हुआ। डिब्बे की सभी खिड़कियां बन्द थीं। बलराज ने दरवाजे पर की खिड़की खोल डाली। एक ही क्षण में वर्षा की थपेड़ों से उसका सम्पूर्ण मुंह भींग गया। बाल बिखर गये; मगर बलराज ने इसकी परवा नहीं की। खिड़की खोले वह उसी तरह खड़ा रह कर बाहर के घने अन्धकार की ओर देखने लगा, जैसे इस सघन अन्धकार में बलराज के लिए कोई गहरी मतलब की बात छिपी हुई हो।

एक स्वयंसेवक ने बड़ी इज्जत के साथ बलराज से कहा—आप बुरी तरह भींग रहे हैं। इच्छा हो, तो इधर आकर लेट जाइये।

बलराज ने इस बात का कोई जवाब नहीं दिया; परन्तु जिस निगाह से उसने उस स्वयंसेवक की ओर देखा, उससे फिर किसी को यह हिम्मत नहीं हुई कि वह उससे कुछ और अनुरोध कर सके।

खिड़की से सिर बाहर निकालकर बलराज देख रहा है। उस घने अन्धकार में न-जाने किस-किस दिशा से आ-आकर वर्षा की तीखी-सी बूंदें उसके शरीर पर पड़ रही हैं, न जाने किधर की सनकती हुई हवा उसके बालों को झटके दे-देकर कभी इधर और कभी उधर हिला रही है।

इस घने अन्धकार में, जैसे बिना किसी बाधा के, बलराज ने एक गहरी सांस ली। उसकी इस बाधा-विहीन ठंढी सांस ने जैसे उसकी आंखों के द्वार भी खोल दिये। बलराज की आंखों में आंसू भर आये, और प्रकृति-माता के आंचल का पानी मानों तत्परता के साथ उसके आंसुओं को धोने लगा।

इसके बाद बलराज को कुछ जान नहीं पड़ा कि किसने कब और किस तरह धीरे से उसे एक सीट पर लिटा दिया। किसी तरह

की आपत्ति किये बिना वह लेट गया, और उसी क्षण उसने आंखें मूंद लीं।

(२)

चार साल पहले की बात है।

पहाड़ पर आये बलराज को अधिक दिन नहीं हुये। वह अकेला ही यहां चला आया था। अपने होटल में दोपहर का भोजन करके, रात की पोशाक पहिनकर, वह अभी लेटा ही था कि उसे दरवाजे पर थपथपाहट की आवाज सुनाई दी। बलराज चौंक कर उठा और उसने दरवाजा खोल दिया। उसका खयाल था कि शायद होटल का मैनेजर किसी जरूरी काम से आया होगा, अथवा कोई डाक-वाक होगी। मगर नहीं, दरवाजे पर एक महिला खड़ी थी—बलराज की रिश्ते की बहन। वह यहां मौजूद है, यह तो बलराज को मालूम था; परन्तु उसे बलराज का पता कैसे ज्ञात हो गया। इस सम्बन्ध में वह कुछ भी सोच नहीं पाया था कि उसकी निगाह एक लड़की पर पड़ी, जो उसकी बहन के साथ थी। बलराज खुली तबीयत का युवक नहीं है; फिर भी उस लड़की के चेहरे पर उसे एक ऐसी मुसकान-सी दिखाई दी, जो मानों पारदर्शक थी। मुस्कराहट की ओट में जो हृदय था, उसकी झलक यहां साफ-साफ देखी जा सकती थी; बलराज ने अनुभव किया, जैसे इस लड़की को देख कर उसका चित्त आह्लाद से भर गया है।

उसी वक्त आग्रह के साथ वह उन दोनों को अन्दर ले गया। कुशल-क्षेम की प्रारम्भिक बातों के बाद बलराज की बहन ने उस बालिका का परिचय दिया—यह कुमारी ऊषा है। अभी दसवीं क्लास में पढ़ रही है।

बलराज की बहन करीब एक घंटे तक वहां रही। सभी तरह की बातें उसने बलराज से कीं; परन्तु ऊषा ने इस सम्पूर्ण बातचीत में जरा भी हिस्सा नहीं लिया। अपनी आंखें नीची करके और अपने मुंह को कोहनी पर टेक कर वह लगातार मुसकराती रही, हँसती रही और मानों फूल बिखेरती रही।

❀ ❀ ❀ ❀

तीसरे दर्जे की लकड़ी की सीट पर लेटे-लेटे बलराज अर्ध चेतना में देख रहा है, चार साल पहले के एक स्वच्छ दिन की दोपहरिया। होटल में सन्नाटा है। कमरे में तीन जने हैं। बलराज है, उसकी बहन है और दसवीं जमात में पढ़नेवाली पन्द्रह बरस की ऊषा है। बलराज अपने पलंग पर चादर ओढ़े बैठा है, उसकी बहन बातें कर रही है, और ऊषा मुसकरा रही है, और लगातार मुसकराये जा रही है।

(३)

कुछ ही दिन बाद की बात है। ऊषा की मां ने बलराज और उसकी बहन को अपने यहां चाय के लिये निमंत्रित किया। बलराज ने अब ऊषा को अधिक नजदीक से देखा। उसकी बहन उसे ऊषा के कमरे में ले गई। तीसरी मंजिल के बीचोबीच साफ-सुथरा छोटा-सा एक कमरा था। एक तरफ सितार, बायलिन आदि कुछ वाद्य यंत्र रखे हुये थे। दूसरी ओर एक तिपाई पर कुछ किताबें अस्तव्यस्त दशा में पड़ी थीं। इस तिपाई के पास एक कुर्सी रखी थी। बलराज को उस कुर्सी पर बैठा कर उसकी बहन और ऊषा पलंग पर बैठ गईं।

चाय में अभी देर थी, और ऊषा की अम्मा रसोई-घर में थी। पर बलराज की बहन ने पढ़ाई-लिखाई के सम्बन्ध में ऊषा से अनेक

तरह के सवाल करने शुरू किये; उधर बलराज की निगाह तिपाई पर पड़ी हुई एक कापी पर गई। कापी खुली पड़ी थी। गणित के गलत या सही सवाल इन पत्रों पर हल किये गये थे। इन सवालों के आस-पास जो खाली जगह थी, उस पर स्याही से बनाये गये अनेक चेहरे बलराज को नजर आये—कहीं सिर्फ आंख थी, कहीं नाक और कहीं मुंह। जैसे आकृति-चित्रण का अभ्यास किया जा रहा हो। बलराज ने यह सब एक उड़ती निगाह से देखा, और यह देख कर उसे सचमुच आश्चर्य हुआ कि पन्द्रह बरस की ऊषा आकृति-चित्रण में इतनी कुशल कहां से हो गई।

हिम्मत करके बलराज ने कापी का पृष्ठ पलट दिया; दूसरे ही पृष्ठ पर एक ऐसा पोपला चेहरा अंकित था, जिसके सारे दांत गायब थे। चित्र सचमुच बहुत अच्छा बना था। उसके नीचे सुडौल अक्षरों में लिखा था—'गणित मास्टर'। बलराज के चेहरे पर सहसा मुसकराहट घूम गई। इसी समय ऊषा की भी निगाह बलराज पर पड़ी। उसी क्षण वह सभी कुछ समझ गई। बातचीत की ओर से उसका ध्यान हट गया, और लज्जा से उसका मुंह नीचे की ओर झुक गया।

इसी समय बलराज की बहन ने अपने भाई से कहा—ऊषा को लिखने का शौक भी है। तुमने उसकी कोई चीज पढ़ी है? — बलराज ने उत्सुकतापूर्वक कहा—कहां? जरा मुझे भी तो दिखाइये।

ऊषा अभी इस बात का कोई जवाब दे नहीं पाई थी कि बलराज ने किताबों के ढेर में से एक और कापी खींच निकाली। यह कापी अंग्रेजी अनुवाद की थी। इस अनुवाद में भी खाली जगह का प्रयोग हाथ, नाक, कान, मुंह आदि बनाने में किया गया था। बलराज पृष्ठ पलटता गया। एक जगह उसने देखा कि 'मेरा घर' शीर्षक एक सुन्दर सी कविता ऊषा ने लिखी है। बलराज ने इसे एक ही निगाह में पढ़

लिया। पढ़कर उसने सन्तोष की एक सांस ली, प्रशंसा के दो-एक वाक्य कहे और इसी सम्बन्ध में अनेक प्रश्न ऊषा से कर डाले।

पन्द्रह-बीस मिनट इसी प्रकार निकल गये। उसके बाद किसी काम से ऊषा को नीचे चला जाना पड़ा। बलराज ने तब एक और छोटी-सी नोट बुक उस ढेर में से खोज निकाली। इस नोट बुक के पहले पृष्ठ पर लिखा था—'निजी और व्यक्तिगत'। मगर बलराज इस कापी को देख डालने के लोभ का संवरण न कर सका। कापी के सफे उसने पलटे। देखा एक जगह बिना किसी शीर्षक के लिखा था—

ओ मेरे देवता!

"तुम कौन हो, कैसे हो, कहां हो—मैं यह सब कुछ नहीं जानती; मगर फिर भी मेरा दिल कहता है कि सिर्फ तुम्हीं मेरे हो, और मेरा कोई भी नहीं।

"रात बढ़ गई है। मैंने अपनी खिड़की खोल डाली है; चारों ओर गहरा सन्नाटा है। सामने की ऊंची पहाड़ी की बर्फीली चोटियां चांदनी में चमक रही हैं। घर के सब लोग सो गये हैं। सारा नगर सो गया है; पर मैं जाग रही हूँ। अकेली मैं। पढ़ना चाहती थी; मगर और नहीं पढूंगी। पढ़ नहीं सकूंगी। सो भी नहीं सकूंगी। क्यों, क्योंकि उन बर्फीली चोटियों पर से तुम मुझे पुकार रहे हो! मैंने तो तुम्हारी पुकार सुन ली है; परन्तु मन ही मन तुम्हारी उस पुकार का जो मैं जवाब दूंगी, उसे क्या तुम सुन सकोगे, मेरे देवता!"

वह पृष्ठ समाप्त हो गया। बलराज अगला पृष्ठ पलट ही रहा था कि ऊषा कमरे में आ पहुँची। बलराज के हाथ में वह कापी देख कर वह तड़प-सी उठी। सहसा बलराज के बहुत निकट आकर और

अपना हाथ बढ़ा कर उसने कहा—माफ कीजिये। यह कापी मैं किसी को नहीं दिखाती। वह मुझे दे दीजिये।

बलराज पर मानों घड़ों पानी पड़ गया, और स्तब्ध-सी दशा में उसने वह कापी ऊषा के हाथों में पकड़ा दी।

अपनी उद्विग्नता पर मानों ऊषा अब लज्जित-सी हो उठी। उसने वह कापी बलराज की ओर बढ़ा कर ज़रा नरमी से कहा—अच्छा, आप देख लीजिये। पढ़ लीजिये। मैं आपको नहीं रोकूंगी। और यह कह कर वह नोट-बुक उसने बलराज के सामने रख दी। मगर बलराज अब उस कापी को हाथ लगाने की भी हिम्मत नहीं कर सका।

उसके बाद बलराज ही के अनुरोध पर ऊषा ने गाकर भी सुना दिया। अनेक चुटकुले सुनाये। वह जी खोल कर हँसती भी रही; मगर पंद्रह वरस की इस छोटी-सी बालिका के प्रति, ऊपर की घटना से, बलराज के हृदय में सम्मानपूर्ण दहशत का जो भाव पैदा हो गया था, वह हट न सका।

❀ ❀ ❀ ❀

वर्षा की बौछार के कुछ छींटे सोये हुए बलराज के नंगे पैरों पर पड़े। शायद उसे कुछ सर्दी-सी प्रतीत हुई। वह देखने लगा—सबसे ऊंची मंजिल के ठीक-बीचों-बीच एक कमरा है। कमरे के मध्य में एक खिड़की है। इस खिड़की में से बलराज सामने की ओर देख रहा है। चांदनी रात है। मकान में, सड़क पर, नगर में—सभी जगह सन्नाटा है। सामने की पहाड़ी की बर्फीली चोटी चांदनी में चमक रही है। रह-रह कर ठंडी हवा के झोंके खिड़की की राह से कमरे में आते हैं और बलराज के शरीर भर में एक सिहर-सी उत्पन्न कर जाते हैं। सहसा

दूर पर वीणा की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। बलराज ने देखा कि चमकती हुई बर्फीली चोटी पर एक अस्पष्ट सा चेहरा दिखाई देने लगा है। यह चेहरा तो उसका देखा-भाला हुआ है! बलराज ने पहचाना--ओह, यह तो ऊषा है! आज की नहीं; आज से चार साल पहले की। वीणा की ध्वनि क्रमशः और भी अधिक करुण हो उठी। वह मानो पुकार-पुकार कर कहने लगी--ओह मेरे देवता! ओ मेरे देवता!

(४)

दूसरे ही दिन बलराज की बहन ने उसे सिनेमा देखने के लिये निमंत्रित किया। ऊषा भी साथ ही थी। भयानक रस का चित्र था, बोरिस कारलोफ़ का फ्रैंकन्स्टाइन। बलराज मध्य में बैठा। उसकी बहन एक ओर और ऊषा दूसरी ओर। खेल शुरू होनेमें अभी कुछ देर थी। बात-चीत में बलराज को ज्ञात हुआ कि ऊषा ने अभी तक अधिक फिल्म नहीं देखे हैं और न उसे सिनेमा देखने का कोई विशेष चाव ही है।

खेल शुरू हुआ। सचमुच डरानेवाला। श्मशान से मुर्दा खोद कर लाया जाना; प्रयोग-शाला में सूखे शव की मौजूदगी; अकस्मात मुर्दे का जी उठना---यह सभी कुछ डरानेवाला था। बालिका ऊषा का किशोर हृदय धक्-धक् करने लगा और क्रमशः वह अधिकाधिक बलराज के निकट होती चली गई।

आखिरकार एक जगह वह भय से सिहर-सी उठी, और बहुत अधिक विचलित होकर उसने बलराज का हाथ पकड़ लिया। फ्रैंकन्स्टाइन ने बड़ी निर्दयता से एक अबोध बालिका का खून कर दिया था। ऊषा के कांपते हुये हाथ के स्पर्श से बलराज को ऐसा अनुभव हुआ, जैसे उसके शरीर-भर में प्राणदायिनी बिजली-सी घूम गई हो। उसने बालिका

के हाथ को बड़ी नरमी के साथ थोड़ा सा दबाया। ऊषा ने उसी क्षण अपना हाथ वापस खींच लिया।

खेल समाप्त हुआ। बलराज ने जैसे इस खेल में बहुत-कुछ पा लिया हो; परन्तु प्रकाश में आकर जब उसने ऊषा का मुंह देखा, तो उसे साफ दिखाई दिया कि बालिका के चेहरे पर हल्की-सी सफेदी आ जाने के अतिरिक्त और कोई भी अन्तर नहीं आया। उसकी आंखें उतनी ही पवित्र, उजली और अबोध थीं, जितनी खेल शुरू होने से पहले। उत्सुकता को छोड़ कर और किसी भाव का उसके चेहरे पर लेश-मात्र भी चिह्न नहीं था। बलराज ने यह देखा और देख कर जैसे वह कुछ लज्जित-सा हो गया।

❀ ❀ ❀ ❀

गाड़ी एक स्टेशन पर आकर खड़ी हो गई। बलराज कुछ उनींदा-सा हो गया। उसकी आंखें जरा-जरा खुली हुई थीं। सामने की सीट पर एक दढ़ियल सिपाही अजीब ढंग से मुंह बनाकर उबासियां ले रहा था। बलराज को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे फ्रैंकन्स्टाइन का भूत सामने से चला आ रहा है। लैम्प के निकट से एक छोटी-सी तितली उड़ी और बलराज के हाथ को छूती हुई नीचे गिर पड़ी। बलराज को अनुभव हुआ, मानो ऊषा ने उसका हाथ पकड़ा है। बहुत दूर पर से इंजन की सीटी सुनाई दी। बलराज को ऐसा जान पड़ा, जैसे ऊषा चीख उठी हो। उसके शरीर-भर में एक कम्पन-सा दौड़ गया। मुमकिन था कि बलराज की नींद उचट जाती; परन्तु इसी समय गाड़ी चलने लगी और उसके हल्के-हल्के झूलों ने उसके उनींदेपन को दूर कर दिया।

(५)

शरमीली तबीयत का होते हुये भी बलराज काफी सामाजिक है। अपरिचित या अल्प-परिचित लोगों से मिलना-जुलना और उन पर अच्छा प्रभाव डाल सकना उसे आता है; परन्तु न जाने क्या कारण है कि ऊषा के सामने आकर वही बलराज कुछ भीगी बिल्ली-सा बन जाता है। ऊषा अब लाहौर के एक कालेज के तीसरे वर्ष में पढ़ रही है। अब वह सुसंस्कृत, सभ्य और सामाजिक नवयुवती बन गई है। बलराज स्थानीय कालेजों के विद्यार्थियों में अत्यधिक लोकप्रिय है। सभा-सोसाइटियों में खूब हिस्सा लेता है। बहुत अच्छा भाषण दे सकता है। वह कवि है, लेखक है, चित्रकार है। और ऊषा भी जानती है कि वह सभी कुछ है। इसी कारण वह बलराज को विशेष इज्जत की निगाह से देखती है। परन्तु बलराज जब ऊषा के सामने पहुँचता है तब वह बड़ी निराशा के साथ अनुभव करता है कि उसकी वह सम्पूर्ण प्रतिभा ख्याति और वाक्-शक्ति न-जाने कहां जाकर छिप गई है।

सूरज डूब चुका था, और बलराज लारेंस बाग की सैर कर रहा था। अँधेरा बढ़ने लगा, और सड़कों की बत्तियां एक साथ जगमगा उठीं। बाग में एक कृत्रिम पहाड़ी है। उस पहाड़ी के पीछे की सड़क पर अधिक आवागमन नहीं रहता। बलराज आज कुछ उदास और दुखी था। वह धीरे-धीरे इसी सड़क पर बढ़ा चला जा रहा था।

इसी समय उसके नजदीक से एक तांगा गुजरा। बलराज ने उड़ती निगाह से देखा, तांगे पर दो युवतियां सवार हैं। अगले ही क्षण एक लड़की ने बलराज को प्रणाम किया। बलराज के शरीर-भर में आह्लाद की लहर-सी घूम गई। ओह, यह तो ऊषा है! बरलाज ने ऊषा के प्रणाम का कुछ इस तरह जवाब दिया, जिससे उसने समझ लिया कि

जैसे वह उसे ठहरने का इशारा कर रहा है। तांगा कुछ दूर निकल गया था। ऊषा ने तांगा ठहरवा लिया और स्वयं उतर कर बलराज के निकट चली आई। आते ही बड़े सहज भाव से उसने पूछा—कहिये, क्या बात है।

बलराज को कुछ भी तो नहीं सूझा। उसने तांगा ठहराने का इशारा बिलकुल नहीं किया था; परन्तु यह बात वह इस वक्त किस तरह कहता! नतीजा यह हुआ कि बलराज ऊषा के चेहरे की ओर ताकता रह गया।

ऊषा कुछ हतप्रभ-सी हो गई। फिर भी, बात चलाने की गरज से, उसने कहा—आपकी 'सराय पर' शीर्षक कविता मैंने कल ही पढ़ी थी। आप ने कमाल कर दिया है।

बलराज ने यों ही पूछ लिया—आप को वह पसन्द आई?

'खूब।'

इसके बाद बलराज फिर से चुप हो गया। शायद उसके हृदय में अनेक भावों की आंधी-सी उठ खड़ी हुई कि कुछ भी व्यक्त कर सकना उसके लिये आसान नहीं था। जिस तरह तंग गले की बोतल ऊपर तक भर दी जाने के बाद, अपनी आन्तरिक प्रचुरता के कारण ही, उलटा देने पर भी खाली नहीं हो पाती, उसी तरह बलराज के हार्दिक भावों की घनता ही उसे मूक बनाये हुए थी। ऊषा प्रणाम करके लौटने ही लगी थी कि बहुत धीरे-से बलराज ने पुकारा—ऊषा!

ऊषा घूम कर खड़ी हो गई। मुंह से उसने कुछ भी नहीं कहा; परन्तु उसकी आंखों में एक बड़ा-सा प्रश्नवाचक चिह्न साफ तौर से पढ़ा जा सकता था।

बलराज ने बड़ी शिथिल आवाज में कहा--आपको देख कर न-जाने मुझे क्या हो जाता है !

ऊषा यह सुनने के लिये तैयार न थी। फिर भी वह चुपचाप खड़ी रही।

क्षण भर रुक कर बलराज ने कहा--आप सोचती होंगी, यह अजब बेहूदा आदमी है। न हँसना जानता है, न बोलना जानता है; मगर सच मानिये ....।

बीच ही में बाधा देकर ऊषा ने कहा--मैं आपके बारे में कभी कुछ नहीं सोचती; मगर आपको यह होता क्या जा रहा है ?

बलराज के चेहरे पर हवाइयां-सी उड़ने लगीं। उसे ऊषा के स्वर में कुछ कठोरता-सी प्रतीत हुई। तो भी बड़े साहस के साथ उसने कहा--मैं अपने आन्तरिक भाव व्यक्त नहीं कर सकता।

ऊषा ने चाहा कि वह इस गम्भीरतम बात को हँस कर उड़ा दे; मगर कोशिश करने पर भी वह हँस न सकी। वह कुछ भयभीत सी हो गई। उसने कहा--मैं जाती हूँ।

और वह घूम कर चल दी।

बलराज एक कदम आगे बढ़ा। उसके जी में आया कि वह लपक कर ऊषा का हाथ पकड़ ले; परन्तु वह ऐसा न कर सका।

एक कदम आगे बढ़कर वह पीछे की ओर घूम गया। उसी वक्त तांगे पर से एक नारी-कंठ सुनाई दिया--ऊषा ! ऊषा !

(६)

अभी परसों की ही बात है।

गरमियों की इन छुट्टियों में लाहौर से दो टोलियां सैर के लिये चलने वाली थीं--एक सीमाप्रान्त की ओर दूसरी, कुल्लू से शिमला के लिये। इस दूसरी टोली का संगठन बलराज ने किया था, और वही इस टोली का मुखिया भी था।

ऊषा के दिल में अभी तक बलराज के लिये आदर और सहानुभूति के भाव थे। बलराज के मानसिक अस्वास्थ्य को देख कर उसे सचमुच दुःख होता था। वह अपने स्वाभाविक सहज व्यवहार-द्वारा बलराज के इस मानसिक अस्वास्थ्य की चिकित्सा कर डालना चाहती थी। और सम्भवतः यही कारण था कि वह उसके साथ, अन्य दो तीन लड़कियों के समेत, कुल्लू-यात्रा पर जाने को भी तैयार हो गई थी।

परन्तु अभी परसों की बात है। शाम के समय बलराज ने अपनी पार्टी के सभी सदस्यों को चाय पर निमंत्रित किया। घंटे-दो-घंटे के लिये बलराज के यहां अच्छी चहल-पहल रही। हँसी-मजाक हुआ, गाना-बजाना हुआ, और पर्वत-यात्रा के विस्तृत प्रोग्राम पर भी विचार होता रहा।

चाय के बाद, सभी लोग चले गये; बलराज ऊषा को उसके निवास-स्थान तक पहुँचाने के लिये साथ चल दिया। ऊषा ने इस बात पर कोई आपत्ति नहीं की।

माल रोड पर पहुँच कर बलराज ने प्रस्ताव किया कि तांगा छोड़ दिया जाय और पैदल ही लारेंस बाग का चक्कर लगा कर घर जाया जाय। ऊषा ने यह प्रस्ताव भी बिना किसी बाधा के स्वीकार कर लिया।

दोनों जने तांगे से उतर कर पैदल चलने लगे। ऊषा ने अनेक बार यह प्रयत्न किया कि कोई बातचीत शुरू की जाय। बलराज

भी आज अपेक्षाकृत कम उद्विग्न प्रतीत हो रहा था। फिर भी बात मानो चली नहीं। पनप नहीं पाई।

क्रमशः वे दोनों नकली पहाड़ी के पीछे की सड़क पर आ पहुँचे। आज भी सांझ डूब चुकी थी, और सड़कों पर की बत्तियां जगमगाने लगी थीं।

इस निस्तब्धता में दोनों चुपचाप चले जा रहे थे कि मौलश्री के एक घने पेड़ के नीचे पहुँच कर बलराज सहसा रुक गया।

ऊषा ने भी खड़े होकर पूछा--आप रुक क्यों गये ?

बलराज ने कहा--उस दिन की बात याद है ?

उसका स्वर भारी होकर लड़खड़ाने लगा था। ऊषा कुछ घबरा-सी गई। बात टाल देने की गरज से उसने कहा--चलिये, वापस लौट चला जाय। देर हो गई है।

मगर बलराज अपनी जगह से नहीं हिला। मालूम होता था कि उसके दिल में कोई चीज इतनी जोर से समा गई है कि वह उसका दम घोंटने लगी है। बलराज के चेहरे पर पसीने की बूंदें चमकने लगीं। कांपते हुये स्वर में उसने कहा--ऊषा! अगर तुम जानतीं कि मैं दिन-रात क्या सोचता रहता हूँ !

ऊषा अब भी चुप थी। उसके हृदय में विद्रोह की आग भभक पड़ी; मगर फिर भी वह चुपचाप खड़ी रही। सहन करती रही।

बलराज ने फिर से कहा--ऊषा! तुम मुझ पर तरस खाओ। मुझ पर नाराज मत होओ।

ऊषा ने कठोर और दृढ़ स्वर में कहा--आपको नहीं मालूम क्या हो गया है। अगर आपने अब एक भी बात इस तरह की और कही तो मैं आपसे कभी नहीं बोलूंगी।

बलराज यह सुन कर भी सँभल नहीं सका। उसकी आंखों में आंसू भर आये और बड़े अनुनय के साथ उसने ऊषा का हाथ पकड़ लिया।

ऊषा ने तड़प कर अपना हाथ छुड़ा लिया और वह शीघ्रता से एक तरफ को बढ़ चली। चलते हुये, बहुत ही निश्चयपूर्ण स्वर में वह कहती गई—मैं आपके साथ कुल्लू नहीं जाऊँगी।

कुछ ही दूरी पर ऊषा को एक खाली तांगा मिला। उस पर सवार होकर वह अपने घर की ओर चली गई।

अगले दिन सुबह बलराज ने अपनी पार्टी के सभी सदस्यों के नाम इस बात की सूचना भेज दी कि वह कुल्लू नहीं जा सकेगा। किसी को मालूम भी नहीं हो पाया कि माजरा क्या है और सम्पूर्ण पार्टी बर्खास्त हो गई।

सीमा-प्रान्त की ओर जानेवाली पार्टी आज सुबह की गाड़ी से ही पेशावर के लिये रवाना हुई है। अब से सिर्फ १४ घंटे पहले। इस पार्टी को विदा देने के लिये बलराज भी स्टेशन पर पहुँचा था। ऊषा भी इसी पार्टी के साथ गई है। अपने मां-बाप से यात्रा पर जाने की अनुमति प्राप्त करके कहीं भी न जाना उसे उचित प्रतीत नहीं हुआ। स्टेशन पर ही बलराज ने इस पार्टी को कई तरह की नसीहतें दीं। किसी को उसके आचरण में असाधारणता जरा भी प्रतीत नहीं हुई; परन्तु गाड़ी चलने से पहले ही चुपचाप सबसे पृथक् होकर वह तीसरे दर्जे के मुसाफिरों की भीड़ में जा मिला।

बलराज स्टेशन से बाहर आया, तो दुनिया जैसे उसके लिये अन्धकारपूर्ण हो गई थी। आस्मान में सूरज बिना किसी बाधा के चमक रहा था। सड़कों पर लोग सदा की तरह आ-जा रहे थे। दुनिया के सभी कारोबार उसी तरह जारी थे; परन्तु बलराज के लिये जैसे

सभी ओर सूनापन व्याप्त हो गया था। कहीं कुछ भी आकर्षण बाकी न रहा था। सभी कुछ नीरस, फीका--बिलकुल फीका हो गया था।

सड़क के किनारे, फुटपाथ पर, बलराज धीरे-धीरे बिलकुल निरुद्देश भाव से चला जा रहा है। हजारों-लाखों मनुष्यों से भरी नगरी बलराज के लिये जैसे बिलकुल निर्जन और सुनसान बन गई है। रह-रह कर जो इतने लोग उसके निकट से निकल जाते हैं, उसकी निगाह में जैसे बिलकुल व्यर्थ और निर्जीव हैं; चलती-फिरती पुतलियों से बढ़ कर और कुछ भी नहीं।

एक खाली तांगा बड़ी धीमी रफ्तार से चला आ रहा था। उसका कोचवान बड़ी मस्त और करुण-सी आवाज में गाता चला आता था--

दो पहर अनारां दे!

फट मिल जांदे, बोल न जां दे यारां दे।

दो पहर अनारां दे,

सड़ गई जिन्दड़ी, लग गये ढेर अँगारा दे!

बलराज ने यह सुना और उसके दिल में एक गहरी हूक-सी उठ खड़ी हुई। निष्प्रयोजन वह धीरे-धीरे आगे बढ़ता चला गया, और अन्त में अनायास ही उसने अपने को विदेशी कपड़ों की एक दूकान के सामने पाया।

❀ ❀ ❀ ❀

गाड़ी उड़ी चली जा रही है, और बलराज सपना देख रहा है। दुनिया के किसी एक कोने में मौलश्री का एक बहुत बड़ा पेड़ है। अकेला--बिलकुल अकेला। चारों ओर सघन अन्धकार है। सिर्फ इसी वृक्ष के ऊपर-नीचे, आसपास उजेला है। चारों तरफ क्या

है, कुछ है भी या नहीं--कुछ नहीं मालूम। ठण्डी, सनसनाती हुई हवा चल रही है। पेड़ के पत्ते ऊंची आवाज में इस तरह सांय-सांय कर रहे हैं, जैसे रेलगाड़ी भागी जा रही हो। इस पेड़ के नीचे सिर्फ दो ही व्यक्ति हैं--ऊषा और बलराज। ऊषा बलराज से बहुत दूर हटकर बैठना चाहती है; परन्तु बलराज उसका पीछा करता है। वह जिधर जाती है, धीरे-धीरे उसी की ओर बढ़ने लगता है। ऊषा कहती है--'मेरे निकट मत आओ।' परन्तु बलराज नहीं सुनता। वह बढ़ता चला जाता है और अन्त में लपक कर ऊषा को पकड़ लेता है। ऊषा उससे बहुत नाराज हो गई है। वह कहती है, मैं तुम्हें अकेला छोड़ जाऊँगी। सदा के लिये, अनन्त काल के लिये, फिर कभी तुम्हारे पास न आऊँगी। बलराज उससे माफी मांगता है, गिड़गिड़ाता है; परन्तु वह नहीं सुनती। चल देती है एक तरफ को, गहरे अन्धकार में। बलराज चिल्ला रहा है और ऊषा उसकी पुकार सुने बिना अन्धकार में विलीन होती जा रही है।

गाड़ी की रफ्तार बहुत धीमी हो गई। उनींदी-सी दशा में बलराज बड़े ही कातर स्वर में धीरे से पुकार उठा--ऊषा! ऊषा! तुम लौट आओ, ऊषा!

इसी वक्त एक सिपाही ने चिल्लाकर कहा--उठो। मिन्टगुमरी का स्टेशन आ गया!

बलराज चौंक कर उठ बैठा। उसने देखा, रात के दो बजे हैं, और उसके हाथों में हथकड़ियां पड़ी हुई हैं।

'इन्कलाब जिन्दाबाद' और 'महात्मा गांधी की जय' के नारों से मिन्टगुमरी का रेलवे प्लेटफार्म सहसा गूंज उठा।

सुमित्रानन्दन पंत

(जन्म--१९०० ई०)

पंतजी का जन्म अल्मोड़े के कौसानी स्थान में हुआ। कौसानी प्रकृति की सुन्दर लीलास्थली है, कह सकते हैं कि हिन्दी के इस महाकवि का जन्म जैसे कविता की सजीव गोद ही में हुआ। और अपने काव्य में अपनी जन्मभूमि के अनुकूल ही सुन्दरता, भव्यता और उज्वलता लेकर इस कवि ने हिन्दी-साहित्य में अपना पैर बढ़ाया। पंतजी के काव्य के प्रति हिन्दी-पाठकों का असाधारण आकर्षण है। पंतजी के द्वारा हिन्दी-कविता ने जिस माधुर्य को पाया है उसकी बानगी हर जगह देखी जा सकती है। आपकी ७ कविता-पुस्तकें, १ नाटक तथा एक कहानी-संग्रह प्रकाशित है।

पानवाला

यह पानवाला और कोई नहीं, हमारा चिरपरिचित पीताम्बर है। बचपन से उसे वैसा ही देखते आए हैं। हम छोटे लड़के थे— स्थानीय हाई स्कूल में चौथे-पांचवें क्लास में पढ़ते थे। मकान की गली पार करने पर सड़क पर पहुँचते ही जो सबसे पहली दूकान मिलती, वह पीताम्बर की। हम कई लड़के रहते, मास्टरों से लुक-छिप कर वहां पान का बीड़ा खाते, कुछ दूकान के अन्दर आलमारी की आड़ में खड़े-खड़े सिगरेट-बीड़ी की भी दो चार कस लेते, पर मुख्य आकर्षण की सामग्री पीताम्बर की दूकान में आलू और मिठाइयां रहतीं। कभी-कभी वह स्कूल से लौटने तक हम लोगों के लिए औटाये हुए दूध में केले मिलाकर रखता, कभी रबड़ी बना देता। स्कूल से लौटने पर थका-मांदा, भूख से व्याकुल हम लोगों का दल टिड्डियों की तरह पीताम्बर की दूकान पर टूट पड़ता। कोई मिठाई और रायता खाता, कोई कचालू, मटर, दूध-केला, रबड़ी इत्यादि। पान खाना, बीड़ी-सिगरेट फूंक लेना भी किसी-किसी के लिए आवश्यक हो जाता था। घर में हमारी उम्र के लड़कों को ये नियामतें कहां नसीब हो सकतीं? पीताम्बर हमें हँसाता-बहलाता, खुद हँसता, परिहास करता और थोड़ी-बहुत छेड़खानी करने एवं ताना मारने से भी न चूकता। हममें से सभी को घर से पैसे मिलते न थे, हम उधार खाते और पीताम्बर को भी खिलाते। वह हम लोगों का दोस्त था, वह सभी का दोस्त था; छोटे, बड़े, बच्चे, बूढ़े सभी से वह परिहास करता, उन पर मीठी फबतियां कसता और सबको खुश रखता।

पीताम्बर तब किस उम्र का था, अब किस उम्र का है, यह बात

म तब भी नहीं जानते थे, अब भी नहीं जानते। उससे पूछने का किसी को साहस भी हो? वह तो सब को हँसी में उड़ा देता है। ऐसी खरी-खोटी सुनाता है, ऐसे ताने और व्यंग-बाण मारता है कि अपने व्यक्तित्व को, निजी याद को, पास ही नहीं फटकने देता। लोग हंस कर, घिघिया कर, खिसिया कर, कुढ़ कर चुप हो जाते हैं। दूसरे ही क्षण वह उन्हें फिर खुश कर लेता है। वह कैसा ही आत्माभिमानी हो, परन्तु यह कभी नहीं भूलता कि उन्हीं लोगों से उसकी गुजर चलती है, लेकिन पीताम्बर को हो क्या गया?

तब से बीस साल बीत गए, हममें से बहुतों की शादियां और बाल-बच्चे भी हो गए, भिन्न-भिन्न लोग कालेज की डिग्रियां लेकर बड़े-बड़े ओहदों पर पहुँच गए, भारी-भारी वेतन पाने लगे, कइयों ने कोठियां खड़ी कर दीं, मोटर-गाड़ियां खरीद लीं, पर पीताम्बर! पीताम्बर वैसा ही रह गया है। तब कौन जानता था कि हमारे ही लिए विधाता ने भविष्य बनाया है, पीताम्बर के वास्ते भविष्य-सी किसी वस्तु का आविष्कार नहीं हुआ है, अथवा वह भूत, भविष्य और वर्तमान से अतीत है। सावन सूखा भादों हरा। अर्थशास्त्र के नियमों के लिए तो उसकी दूकान अपवाद थी ही, पर क्या प्रकृति के नियमों ने भी उसके लिए बदलना छोड़ दिया है? किसी तरह का भी तो बदलाव उसमें इन बीस सालों में नहीं आया—लेश-मात्र नहीं, चिह्न तक नहीं। वही आकृति, वही प्रकृति, वही कद, वही आदतें, और वही दूकान—किसी में भी उन्नति-अवनति के कोई लक्षण नहीं। अब वह आलू और मिठाई नहीं रखता तो इसलिए कि मुहल्ले में अब वैसे चटोर, खाने के शौकीन लड़के ही नहीं रह गए। लेकिन पान-सुपारी, सिगरेट, बीड़ी—अब भी उसी प्रकार, उन्हीं जगहों पर दूकान में रक्खे हैं। चूने-कत्थे के बर्तन भी वही पुराने पहचाने हुए हैं।

चूने की लकड़ी घिस-कट कर पतली पड़ गई है, कत्थे की पपड़ी जम जाने से और भी मोटी हो गई है। दूकान के बीचो-बीच वही पुराना लैम्प टँगा है जो उसके किसी मित्र की इनायत है, चिमनी के ऊपर का भाग टीन की पत्ती का बना हुआ है। सामने एक मझोले आकार का शीशा लगा है, जिसके पारे में धब्बे और चकतियां पड़ जाने के कारण कांच के पीछे से बीच में द्रौपदी का तिरछा रंगीन चित्र चिपका दिया गया है। अन्दर के कमरे में मूंज की एक चारपाई और बिस्तरा, खूंटी पर टँगा कोट, सिगरेट-दियासलाई के खाली डिब्बे, एक लोहे की अँगीठी और कुछ चाय का सामान रहता है, बाहर वही पुराना काठ का बेंच पड़ा है, जिस पर सुबह, शाम, दोपहर, हर वक्त दो-चार दोस्त लोग बैठे गप-शप करते एक दूसरे की खिल्ली उड़ाते और शहर भर की बुराइयों एवं खराबियों की चर्चा करते हैं। उस बेंच से नित्य नई अफवाहों का आविष्कार एवं प्रचार होता, न जाने कितनी स्त्रियों की कलंक-कथायें, युवकों––रसिकों की लीलायें, भाग्यों के बनने-बिगड़ने के खेल, जन्म-मृत्यु के समाचार, गांव, शहर, देश, एवं विश्व के इतिहास का प्रवाह आने-जाने वालों के मुखों से निसृत हो पीताम्बर के कर्ण-कुहरों में जाह्नवी की तरह समा गया, उसका क्या पता, क्या पार? वही उसका मानसिक भोजन है, जो उसकी अस्थि, रक्त, मज्जा, मांस बन गया है।

अपने लड़कपन के मित्रों के साथ उसकी एक तस्वीर है जो दूकान में गद्दी के ऊपर लटकी रहती है। कोई भी उस चित्र के गोल, सुडौल, भरे हुए मुख, अंगों के गठन, बनाव-शृंगार को देखकर यह नहीं विश्वास करेगा कि वह यही पीताम्बर है! वह यह पीताम्बर है भी नहीं; वह सोलह-सत्रह साल का, यूनीफार्म पहने, हाथ में

हाकी की स्टिक लेकर, अकड़कर, कुर्सी पर बैठा अमीरों और रईसों का अमीरदिल मित्र इस तंगदिल कोठरी में बैठा हुआ गरीब पन-वारी कैसे हो सकता है ? उसकी गोल चमकदार आंखों में गर्व और हालाकी भरी है, दृष्टिगरिमा बाहर को फूट रही है; इसकी आंखें धंसी हुई, लाल छड़ों से भरी, छिलका निकाल देने पर पिचकी हुई लीची की तरह गँदली , करुणा, क्षोभ, प्रतिहिंसा बरसा रही हैं। उनके कोनों में कौओं के पंजे बन गए हैं। उस सोलह साल के नवयुवक के मुख-मंडल पर सुख, सौकुमार्य; स्वास्थ्य, आशा और उत्साह की आभा है; इस अधेड़ का मुख--जिसकी उम्र तीस से पचास साल तक कुछ भी कही जा सकती है--दुख, दारिद्रय, निराशा, आत्मपीड़न, असन्तोष का भग्न जीर्ण खण्डहर है। गालों की गोल रेखाओं को संसार ने नींबू की तरह चूसकर टेढ़ा-मेढ़ा विकृत कर दिया है। दुख से काटे हुए रात-दिन के शेष चिह्नों को तरह बेमेल स्याह, सफेद, घनी, दाढ़ी-मूछों ने--जिन्हें हफ्ते में एक बार बनाने की भी नौबत नहीं आती--उस सोलह साल के फूल को सुखा कर कांटों की झाड़ी से घेर लिया है। दुर्भाग्य के स्रोत की शीर्ण, शुष्क धाराओं की तरह, सिकुड़े हुए भाल पर गहरी चिन्ता की रेखाएँ पड़ गई हैं। नीले मुरझाए हुए ओठों के दोनों ओर नाक से मिली हुई दो लकीरों ने मनचाहा खाना न मिलने के कारण अनावश्यक मुख को दोनों ओर से घेरों में बन्द कर दिया है। मुख का रंग धूप से जलकर काला पड़ गया है और उसका प्रत्येक चर्म-अणु सूजी के दाने की तरह शोक-ताप में पक कर फूल गया है। रोड़े की तरह गले में अटकी हुई हड्डी मांस के सूख जाने से बाहर निकल आई है। वह चित्र भले ही हो, वास्तविक पीताम्बर यही है। दुबला, नाटा, अविकसित हड्डियों का ढांचा यह पीताम्बर--उसकी कलाइयां दो अंगुल से अधिक चौड़ी नहीं, वे भी जैसे कस कर तंग चमड़े में बांध दी

गई हों; उसके इकहरे जीर्ण चमड़े के अंदर से चरबी का अस्तर कभी का गायब हो चुका है। रक्तहीन हाथों में नीली-नीली फूली नाड़ियां और हथेलियों में चूने-कत्थे से कटी रेखाओं की जालियां पड़ गई हैं। दुःख, दैन्य और दुर्भाग्य के जीवन-प्रवाह के तट पर ठूंठ की तरह खड़ा, उसके तीक्ष्ण, कटु आघातों से लड़ता हुआ पीताम्बर उस अभाव-वाचक स्थिति पर पहुँच गया है, जहां पर उस आशा, तृष्णा, लोभ, जीवनेच्छा, सौन्दर्य, मोह, ममता, उम्र आदि भाववाचक विभूतियों के अत्याचार-उत्पात का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। वर्तमान मनुष्यता, सामाजिकता, नैतिकता, धर्म, आचार, रूढ़ि-रीतियों की कला का वह एक साधारण नमूना-मात्र है। अपने देश के वर्तमान जीवन ने कुशल कलाकार की तरह भिन्न-भिन्न अवस्थाओं एवं परिस्थितियों की कूचियों से उसमें रूप, रंग, रेखाएँ भर कर उसे हमारी पैशाचिकता, पशुत्व, अंधकार का निर्मम सजीव चित्र बना दिया है। उस षोड़शवर्षीय किशोर का चित्र इस चित्र से कैसे मिल सकता है? वह सब समय की मानवी प्रकृति की कला का नमूना था, यह हमारी इस समय की सभ्यता की मानवी विकृति का नमूना है।

पीताम्बर जाति का तमोली नहीं, वह अच्छे घराने का है। छुटपन में ही मां-बाप के मर जाने के कारण पीताम्बर अयाचित स्नेह के संरक्षण से वंचित हो गया। उसके भाई को, जो उससे पांच साल बड़ा था, यह समझते देर नहीं लगी कि अब उसे दूसरों की चापलूसी, खुशामद कर, उनकी करुणा, दया को जाग्रत कर, उनके स्वभाव और इच्छाओं को अपना कर, दूसरों की बुरी प्रवृत्तियों के सामने अपनी अच्छी प्रवृत्तियों का बलिदान कर, दब कर, सह कर, कुट कर, पिस कर, जीवन-निर्वाह करना है। मुक्तिश्रेयी मां-बाप उसकी

शादी कर गए थे। एक असहाय, मूक, पंगु, अपढ़, अन्धविश्वासों से निर्मित मांस की लोथ, निष्प्राण, पतिप्राण सती का भार उस पर था। इसलिए लाचार हो वाणी में दीनता, आंखों में याचना, होठों में शरमायी हुई करुणहँसी भर कर सब के सामने आंखें झुकाना, माथा नवाना सीख कर यज्ञदत्त ने अपना स्वरूप बदल डाला। पड़ोस और शहर के लोग उसकी नम्रता, तत्परता पर मुग्ध हो गए, उसे जिला बोर्ड में दफ्तरी का काम दिला दिया। पन्द्रह रुपये वेतन मिलता, जिसमें चार प्राणी किसी तरह जीवन व्यतीत करते। यज्ञदत्त में कोई खास बात न थी। वह जैसे ऐसे ही छोटे-मोटे काम के लिए बना था।

पर इसी यज्ञदत्त का भाई, उन्हीं मां-बाप की दरिद्र कोख से पैदा हुआ पीताम्बर अपने आत्माभिमान को न छोड़ सका, वह इस निर्धन घर का अमीरदिल प्रकाश था। उसके वैसे ही संस्कार थे। सृष्टिकर्त्ता ने उसे निर्माण करने में किसी प्रकार का संकोच या संकीर्णता न दिखाई थी। प्रकृति ने रईसों के लड़कों को और उसे समान-रूप से अपने मुक्त दान, अपनी गुप्त शक्तियों का अधिकारी बनाया था। उसके स्वभाव में आत्मसम्मान प्रमुख, और इच्छाएँ गौण हो गई थीं। किसी के सामने झुकना, किसी के रोब में आना उससे न हो सकता था। मां को वह खो ही चुका था, जिस के हाथों का स्नेह-स्पर्श उसके अभिमान और हठीले स्वभाव के तीखे कोनों को कोमल, चिकना बना सकता। अभिमान केवल स्नेह के सामने झुक सकता है, उसे सहिष्णु साथी की जरूरत होती है। पर अपने भले-बुरे के ज्ञान से अनभिज्ञ उस गरीब के लड़के को ऐसा कुछ भी न मिल सकने के कारण उसका अतृप्त अभिमान आत्म-निर्माण करने के बदले आत्म-संहारक हो गया। पीताम्बर, उच्छृंखल, स्वतंत्र तबीयत

का हो गया। आत्महीनता के पीड़ाजनक ज्ञान से बचने के लिए वह धनी युवकों से मित्रता स्थापित कर झूठा सन्तोष ग्रहण करने लगा, जीवनोपाय के लिए कोई हुनर, कोई उद्योग सीखने की ओर उसने कभी ध्यान ही नहीं दिया, जिससे पीछे उसे सच्चा संतोष मिल सकता। वह बड़ा तेज और होशियार था। बात की बात में शहर के अमीर लड़कों को अपने वश में कर, उनकी स्नेह-सहानुभूति पर अधिकार प्राप्त कर, मौज उड़ाया करता। वह मनोरंजन के उन्हें नित्य नवीन उपाय बतलाता; जवानी की बहार लूटने को उत्साहित करता, उनमें साहस भरता और मुश्किल को आसान बनाकर अपने को उनके लिए आवश्यक बना लेता था। वह उनसे दबता न था, बराबरी का व्यवहार रखता था। उनके साथ पिकनिक में जाता, ताश खेलता, हाकी, फुटबाल, क्रिकेट में अपनी दक्षता दिखलाता, किसी के कुछ कहने पर या छेड़ने पर बिगड़ भी उठता। यदि वह वैसा उदण्ड, स्वतंत्र एवं आत्माभिमानी न होता; और अपने मित्रों की जरा भी खुशामद कर सकता, तो आज वह फटेहाल न होता!

अमीरजादों के साथ ऐश, आराम में रहना सीख कर शीघ्र ही वह जीवन-संग्राम की कठिनाइयों को झेलने और कठोर परिश्रम कर सकने में अक्षम साबित हो गया। जवानी की खुमार उतरने और होश आने पर उसने अपने को मोर के पर लगाए हुए कौए की तरह और भी दयनीय, कुरूप, एवं निकम्मा पाया। अपने भाई की गरीब गृहस्थी से, पास-पड़ोस से, शहर से और खुद अपने से उसे घृणा होने लगी, वह और भी चिड़चिड़ा, दुराग्रही, हठी, निन्दक, आत्म-घातक और परद्रोही हो गया। उसके धनी मित्रों ने भी, जिनके साथ रह कर उसे अनेक प्रकार की कुटेवें और बुरी आदतें पड़ गई

ों, उसकी ऐसी दशा देखकर उसका साथ छोड़ दिया। वह न घर का रह गया न घाट का। चाय, पान, सिगरेट के लिए, सुस्वादु भोजन के लिए, अब उसका जी तरसने लगा। सिनेमा, थियेटर उसे और भी जोर से अपनी ओर खींचने लगे। लाचार हो, अपने से तंग आकर उसने अपने गरीब भाई की जेब पर हाथ साफ करना शुरू किया। भाई उससे पहले से रुष्ट था, अब उसका ऐसा पतन देख कर उसने उसका घर में आना बन्द कर दिया।

सब तरह से निराश हो, अपमान, भय, यातना, लज्जा, क्षोभ, आत्म-सम्मान, दारुण भूख-प्यास से एक साथ ही ग्रस्त, पीड़ित क्लान्त एवं पराजित हो, अन्त में पीताम्बर ने एक तम्बोली की दूकान में पान लगाने की नौकरी कर ली, पर वहां भी वह अधिक समय तक न ठहर सका। उसकी कुटेवें उसका दुर्भाग्य बन गई थीं। और एक रोज दूकान पर पान खाने को आई हुई एक वेश्या के रूप-सम्मोहन के तीर से बुरी तरह घायल हो उसने शाम के वक्त चुपचाप गल्ले की सन्दूकची से पांच रुपये का नोट चुरा कर अपनी विपत्ति-निशा की कालिमा को एक रात के कलंक से और भी कलुषित कर डाला। उसका स्वास्थ्य अभी खराब नहीं हुआ था। उसके अविवाहित जीवन, सबल इन्द्रियों की स्वस्थ प्रेरणाओं का समाज अथवा संसार क्या मूल्य आंक सकता था, क्या सदुपयोग कर सकता था? फूल की मिलनेच्छा सुगन्ध कही जाती है, मनुष्य की प्रणयेच्छा दुर्गन्ध, उसे निर्मल समीर वाहित करता है, इसे कलुषित लोकापवाद। नर-पुष्प के गन्ध को गीत गाता हुआ भौंरा, नृत्य करता हुआ मलयानिल, भिन्न-पुष्प के गर्भ में पहुंचा आता है। मनुष्य का शौर्य वैवाहिक स्वेच्छाचार की अच्छी कोठरियों, पाश-

विक अनाचार को गन्दी नालियों में, सहस्त्र प्रकार के गर्हित, नीरस, कृत्रिम उपायों द्वारा छिपे-छिपे प्रवाहित होता है ! यह इस लिए कि हम सभ्य हैं, मनुष्य के मूल्य को, जीवन की पवित्रता को समझ सकते हैं । असंख्य जीवों से परिपूर्ण यह सृष्टि एक ही अमर, दिव्य शक्ति की अभिव्यक्ति है, प्रकृति के सभी कार्य पुनीत हैं, मनुष्य-मात्र की एक ही आत्मा है--हम ऐसे-ऐसे दार्शनिक सत्यों के ज्ञाता एवं विधाता हैं, हम प्रकाशवादी हैं !

खैर दूकान का मालिक पीताम्बर को पुलिस के हवाले करने जा रहा था, उसके बड़े भाई ने बीच-बचाव कर, हाथ जोड़कर, गिड़गिड़ाकर तम्बोली के रुपये भर दिए और पीताम्बर को धिक्कार कर, उस पर गालियों की बौछार कर, अन्त में लोगों के समझाने पर तरस खाकर उसके लिए निजी पान की दूकान खोल दी। तभी से हमारे कथानायक इस दूकान की गद्दी पर बैठ कर पानवाले की उपाधि से विभूषित हुए। अवश्य ही वह कोई शुभ मुहूर्त रहा होगा कि उस पानवाले की गद्दी अभी तक बनी हुई है; भले ही वह नाम-मात्र की हो।

पर यहां से पीताम्बर का दूसरा दुर्भाग्य शुरू हुआ। वह क्रिया-शील , निरंकुश पीताम्बर अब विचारशील और गम्भीर हो गया। उसका रुद्ध आत्माभिमान कुंठित हो गया। वह निर्जीव, निर्बलात्मा, निश्चेष्ट, अस्थिमांस का पुतला-मात्र रह गया । उसने यथाशक्ति अपने स्वभाव और प्रवृत्तियों के अनुसार अपनी परिस्थितियों के संसार से लड़ने, जीवन-संग्राम में विजय पाने का प्रयत्न किया था, पर वह निष्फल हुआ--संसार ने ही अन्त में उस पर विजय पाई।

क्या वह निर्धन युवक किसी भाग्य-दोष से या अपने दोष से

निरंकुश, उच्छृंखल अथवा आत्माभिमानी था? क्या गरीब के लड़के में ऐसे गुण शोभा नहीं देते? नहीं, नहीं, वह सुन्दर, स्वस्थ, सशक्त, सचेष्ट, आत्मसम्मान से पूर्ण युवक गरीब का लड़का कैसे हो सकता है, जब प्रकृति ने अपने सब विभवों से सँवार कर उसे धनी-मानी बनाया था? वह युवक अपना सौन्दर्य पहचानता था, अपने सुन्दर, स्वस्थ शरीर के प्रभाव से वह अनजान न था, युवावस्था की प्रवृत्तियों ने उसके मनःचक्षुओं के सामने जो एक/सौन्दर्य का स्वर्ग, आशा-आकांक्षाओं का इन्द्रजाल उछाल दिया था, अपने और संसार के प्रति जो एक प्रगाढ़ अनुरक्ति एवं उपभोग की सामर्थ्य पैदा कर दी थी, उसकी अमन्द मादकता से, प्रबल आकर्षण से वह कैसे आत्म-विस्मृत न होता? वाह्य-जगत् के जीवन-संघर्ष का आघात लगते ही उसकी सहज प्रेरणा उसके अन्दर एक आत्म-विश्वास पैदा करती रहती थी कि उसके अभिमान का, उसके अस्तित्व का मूल्य आंकनेवाला कोई मिलेगा; कोई अवश्य मिलेगा जो उसकी समस्त आशा-आकांक्षाओं के लिए, प्रवृत्तियों की चेष्टाओं के लिए मार्ग खोल देगा, उनके सौन्दर्य से वशीभूत होकर उन्हें चरितार्थ कर देगा, तृप्त कर देगा। प्रत्येक युवक के भीतर स्वभावतः यह स्फुरणा जन्म पाती है।

पर इस आत्म-संतोष के लिए धनी युवकों के पास जाना पीताम्बर की अनुभव-शून्यता एवं भ्रम था। वे इस काम के लिए उससे भी निर्धन थे। यह काम किसी एक व्यक्ति के करने का था भी नहीं। इसका संचालक या सम्पादक हो सकता है हमारा सुव्यवस्थित, सामाजिक या सामूहिक व्यक्तित्व। सामाजिक एकता सामाजिक सुव्यवस्था एवं समुन्नति व्यक्ति का विशद व्यक्तित्व है, जिसकी छत्रच्छाया में वह आत्मोन्नति कर सकता है, आत्म-तृप्ति

पा सकता है। समाज व्यक्ति की सीमा का सापेक्ष निःसीम है। वह बूंदों की सम्मिलित शक्ति का समुद्र है जिसमें मिलकर प्रत्येक बूंद एकत्रित ऐश्वर्य का उपभोग कर सकता है, पर अपने देश में वह सामूहिक आधार है ही नहीं जिसकी विशद भूमि पर व्यक्ति निर्भीक रूप से खड़ा होकर आगे बढ़ सके। हम सब अनाथ, यतीम हैं, हमारा देश एक महान् सभ्यता का विशाल भग्नावशेष है। हमारे यहां प्रत्येक व्यक्ति एक व्यक्ति-मात्र, मांसपिण्ड-मात्र है, वह कुलीन हो या अकुलीन, धनी हो या निर्धन। वह समाज नहीं है, वह देश नहीं है, उसके पीछे इन सब का सम्मिलित बल काम नहीं करता। वह निराधार है, वह क्षुद्र है।

हम केवल व्यक्तिगत उन्नति, व्यक्तिगत सम्मान, व्यक्तिगत शक्ति को ही समझ सकते हैं, उसी का उपभोग भी करते हैं। अपने सामाजिक व्यक्तित्व का सम्मान, उसकी शक्ति एवं उन्नति का महत्व अभी हमें मालूम नहीं हो पाया, इसीलिए हम कच्चे सूत की लच्छी के उन उलझे और बिखरे तागों की तरह हैं, जो अपनी एकता से बननेवाली रस्सी के बल से अपरिचित हैं।

फलतः इस विशाल पृथ्वी पर जटिल जीवन-संग्राम की कठिनाइयों का सामना हम में से प्रत्येक को केवल अपने बल पर करना पड़ता है। अर्थात् प्रत्येक तिनके को बाढ़ का सामना पृथक्-पृथक् रूप से करना पड़ता है! व्यक्ति के लिए देश के व्यक्तित्व का, मनुष्य के लिए विश्व के व्यक्तित्व का अभाव होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति को शक्ति की इकाई केवल व्यक्ति ही रह जाता है और उसके लिए वाह्य-जगत् के जीवन-संग्राम के घात-प्रतिघात, उत्थान-पतनों का सहना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जाता है। दो-एक बार निष्फल

ोकर वह शीघ्र ही अपने को अयोग्य समझने लगता है और हतबुद्धि
ो अन्त में निराशावादी, भाग्यवादी, दुःखवादी, विरक्त, उदास,
ोही, द्वेषी, निन्दक सभी कुछ बन जाता है। सभ्यता के ह्रास के युग
राष्ट्र की या समाज की अवनति के युगों में ऐसी ही विचारधारा जन-
ाधारण की बन जाती है।

इसी विचार-धारा के प्रवाह में प्रताड़ित, प्रतिहत, पीताम्बर
ी तिनके की तरह बह गया। समाज की दुर्बलता को वह अपनी
ुर्बलता, उसके दोषों को अपना ही दोष समझने लगा। वह अपनी
ी आंखों में गिर गया। ईश्वर ने उसे क्यों वैसा हेय, जघन्य और
निकम्मा बनाया, यह उसकी समझ में नहीं आया। वह उसे अपने
ही कर्मों का, पापों का फल, पूर्व जन्म का, भाग्य का दोष मानने
लगा। अपने चारों ओर व्याप्त वातावरण में उसे ऐसे ही विचार
और भावनाएँ मिलीं, जो उसके भीतर भी जड़ जमा गईं। उसे
अपने से घृणा, अच्छाई से घृणा—जीवन, संसार सब से विरक्ति
हो गई। वह अपने अन्तर की जीवनोत्पादक प्रेरणाओं, अभिलाषाओं,
आशाओं, रुचियों को बलपूर्वक दबाने लगा। मन ही मन जीवन-
इच्छा के लिए आत्मा का तिरस्कार करने लगा। यह जीवन माया है,
संसार भ्रम है, इच्छाओं का अन्त दुःख है, जीवन, संसार, आत्म-उन्नति
सब कुछ दुःखमय है, यह सब निर्मम भाग्य का छल है, ऐसी ही बातों
में उसका विश्वास बढ़ने लगा। उसके भीतर कार्य में प्रवृत्त करनेवाली
स्फुरणा निश्चेष्ट पड़ गई, मन की सब स्फूर्ति सदैव के लिए जाती रही।
उसने अपने से भी गए-बीतों, दुर्भाग्य-पीड़ितों को देखना, उन पर सोचना
प्रारम्भ किया; ऐसे विचारों से उसे सान्त्वना मिलने लगी और उसका
विश्वास जीवन और संसार की निस्सारता पर बढ़ने लगा। व्यक्ति

के जिस क्षुद्र रूप को उसने जीवन और संसार का स्वरूप समझ लिया था, वह अवश्य ही निस्सार एवं दुःखप्रद है। व्यक्ति के विशद रूप का, उसके सामाजिक, दैशिक, विश्व-व्यक्तित्व का चिरन्तन स्वरूप उसे अपने यहां कहीं देखने को नहीं मिला। जीवन की समग्रता से कट कर वह अलग हो गया, और पेड़ की डाली से विच्छिन्न पुष्प की तरह मुरझाने और सूखने लगा।

किसी को सुन्दर, स्वस्थ, संसार में रत, आशा, सदिच्छा, सदाशयता में तत्पर देख कर उसके भीतर से एक विद्रूप की हँसी निकलने लगी, वह सब का उपहास करने लगा। सभी पर ताने कसने, व्यंग-बौछार करने का उसका स्वभाव ही बन गया। उसका समस्त विश्वास-भाव विश्व से उठ गया। अभाव का विश्व कठोर है सही, पर वही सत्य है। सुख, सफलता, सम्पत्ति का स्वप्न देखना अज्ञान है। अब वह मनुष्यों की खोट, उनकी बुराइयों को खोजने लगा: जो सुखी सम्पत्तिशाली दीखता, समाज जिसे आदर-सम्मान देता, उसमें भी दो-चार दोष निकाल कर वह अपने मन को सन्तोष देने लगा। उसके पड़ोस में उसके किसी सम्बन्धी ने एक विशाल दो-मंजिली कोठी खड़ी कर दी थी। वह आधुनिक ढंग की, बड़ी ही सुन्दर, उस गरीब बस्ती में अपना गर्वोन्नत मस्तक उठाए हुए थी, पर पीताम्बर ने, वह सड़क के किनारे है, उसमें पर्दा नहीं, उसके मालिक ने मजदूरों की तनख्वाह काटी, इत्यादि, उसमें कई दोष निकाल दिए। वह जब मकान जाता, उस कोठी की ओर कभी नहीं देखता, पहले ही से आंखें फेर लेता।

हम कभी से इस अभावात्मक सत्य पर विश्वास करते चले आ रहे हैं। ऐसा करने से हम सक्रिय जीवन के घात-प्रतिघात, उसकी

स्वास्थ्य-वर्धक स्पर्द्धाओं का सामना करने से बच जाते हैं, हम अपने विशद व्यक्तित्व के उज्ज्वल परिणामों से अनभिज्ञ होने के कारण क्षुद्र व्यक्तित्व को अपनाए हुए हैं, अपने को सर्वस्व न बना सकने के कारण हम शून्यवत् हो गए हैं। पर सूरज, चांद और तारे हमें शून्य बन जाने का उपदेश नहीं देते। नीला आकाश, हरी धरती, इठलाती वायु, रंग-बिरंगे फूल, गाते हुए पक्षी, दौड़ती हुई लहरें हमें दूसरा ही सन्देश देतीं, दूसरे ही सत्य का दर्शन कराती हैं। वहां अजेय जीवन, अविराम सृजन हमारे मरणशील व्यक्तित्व का, हमारे जड़त्व और निर्जीवता का प्रत्येक क्षण उपहास उड़ाया करते हैं, हमें विश्व की समग्रता की ओर, हमारे अमर व्यक्तित्व की ओर आकर्षित करते रहते हैं। पारस्परिक स्पर्द्धा, द्वेष, द्रोह, छोटे-मोटे सुख-दुख, हानि-लाभ, भेद-भाव के अन्धकार से घिरे हम सर्वत्र-प्रकाशमान सम्पूर्णता से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर नाशवान् हो गए हैं।

इसी अभावात्मक सत्य की निर्जीव-सजीव मूर्ति पीताम्बर को हम छुटपन से इस पानवाले के रूप में देखते आए हैं। उसे अब निश्चेष्ट, निर्जीव, रहने में आराम मिलता है। उसका स्वास्थ्य अब नहीं के बराबर रह गया है। लगातार पान चबाने से दांत सड़ गए, दिन-रात बैठे रहने से जठराग्नि बुझ गई है। वह केवल जीवित रहने के अभ्यास से जीता है। स्वास्थ्य गँवा बैठने एवं हृदय में निर्जीवता व्याप्त हो जाने के कारण वह अपनी पत्नी से भी प्रसन्न नहीं रह सका। पानवाला बन जाने के कुछ ही महीनों बाद भाई ने उसकी शादी कर दी थी। जब तेल टपक कर समाप्त हो चुका था तब केवल बत्ती को जलाने के लिए मानो दीपक को शिखा के पाश में बांध दिया गया। पीताम्बर का निर्बल रुग्ण बच्चा जब जाता रहा तब उसने सन्तोष की ही सांस ली।

आज दीवाली के रोज दूकान सजाते हुए उसने एक पुराना मिट्टी का खिलौना कपड़े की तहों से बाहर निकाल गद्दी के पास रक्खा है। जिसके लिए पांच साल पहले यह खिलौना लाया था, वह तो रहा नहीं, यह खिलौना रह गया है। 'वह मिट्टी का नहीं था इसीलिए, वह मिट्टी का नहीं था!' ऐसा कहते हुए पीताम्बर उसी तरह ठठाकर हँस रहा है।

आपकी
कहानिया
में अपना
'इंस्टाल
तीन उप

भगवतीचरण वर्मा

(जन्म—१९०३ ई०)

आपका जन्म शफीपुर, जिला उन्नाव में हुआ। आपने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए० और एल-एल० बी० की परीक्षाएँ पास कीं। कानपुर में आप जब सातवें दर्जे में पढ़ते थे तभी कुछ कविताएं 'प्रताप' में प्रकाशित हुई थीं। उस समय आपकी अवस्था केवल चौदह वर्ष की थी। १९२१ में आपकी पहली कहानी 'हिंदी मनोरंजन' में प्रकाशित हुई, परन्तु इस समय आपका ध्यान कविता लिखने की ओर अधिक रहा और आपका यश भी कवि के रूप में ही पहले-पहल फैला। अब तक आपकी कविताओं के चार संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। १९३१ में आपने कहानियां लिखने की ओर फिर से ध्यान दिया और शीघ्र ही कहानी-लेखकों में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया। इनकी कहानियों के दो संग्रह 'इंस्टालमेंट' और 'दो बांके' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। अब तक आपके तीन उपन्यास भी प्रकाशित हो चुके हैं।

दो बाँके

शायद ही कोई ऐसा अभागा हो, जिसने लखनऊ का नाम न सुना हो, और युक्त प्रांत में नहीं, बल्कि सारे हिन्दुस्तान में, और मैं तो यहां तक कहूँगा कि सारी दुनिया में लखनऊ की शोहरत है। लखनऊ के सफेदा आम, लखनऊ के खरबूजे, लखनऊ की रेवड़ियां, ये सब ऐसी चीजें हैं, जिन्हें लखनऊ से लौटते समय लोग सौगात के तौर पर साथ ले जाया करते हैं; लेकिन कुछ ऐसी भी चीजें हैं, जो साथ नहीं ले जाई जा सकतीं। और उनमें लखनऊ की जिन्दादिली और लखनऊ की नफासत विशेष रूप से आती हैं।

ये तो वे चीजें हैं, जिन्हें देशी और परदेशी सभी जानते या जान सकते हैं; पर कुछ ऐसी चीजें भी हैं, जिन्हें कुछ लखनऊ वाले तक नहीं जानते और अगर परदेसियों को इनका पता लग जाय तो उनके भाग खुल गये। इन्हीं विशेष चीजों में आते हैं लखनऊ के 'बांके'।

'बांके' शब्द हिन्दी का है या उर्दू का, यह विवादग्रस्त विषय हो सकता है; और हिन्दी वालों का कहना है—इन हिन्दी वालों में मैं भी हूँ—कि यह शब्द संस्कृत के 'बंकिम' शब्द से निकला है। पर यह मानना पड़ेगा कि जहां 'बंकिम' शब्द में कुछ गंभीरता है, कभी कभी कुछ तीखापन झलकने लगता है, वहां 'बांके' शब्द में अजीब बांकापन है, अगर जवान बांका-तिरछा न हुआ तो आप निश्चय समझ लें कि उसकी जवानी की कोई सार्थकता नहीं; अगर चितवन बांकी नहीं तो आंख का फोड़ लेना अच्छा है, बांकी अदा और बांकी-झांकी के बिना जिन्दगी सूनी हो जाय। मेरे ख्याल से अगर दुनिया से 'बांका' शब्द उठ जाय तो कुछ दिल-चले लोग खुद-कुशी करने पर आमादा हो जायंगे; और इसीलिए मैं तो यहां तक कहूँगा

कि लखनऊ बांका शहर है और इस बांके शहर में कुछ बांके भी रहते हैं, जिनमें गजब का बांकापन है। यहां पर आप लोग शायद झल्लाकर यह छेंगे—म्यां, ये बांके क्या बला हैं, कहते क्यों नहीं, और मैं उत्तर दूंगा कि, आप में सब्र नहीं है। अगर इन बांकों की एक बांकी भूमिका नहीं हुई तो फिर कहानी किस प्रकार बांकी हो सकती है?

हां, तो लखनऊ नगर में रईस हैं, रंडियां हैं, और इन दोनों के साथ शोहदे भी हैं। बकौल लखनऊ वालों के ये शोहदे ऐसे-वैसे नहीं हैं। ये लखनऊ की नाक हैं, लखनऊ की सारी बहादुरी के ये ठेकेदार हैं और जान ले लेने या जान दे देने पर आमादा रहते हैं। अगर लखनऊ से ये शोहदे हटा लिए जायं तो लोगों का यह कहना—अजी लखनऊ तो जनानों का शहर है, सोलह आने सच्चा उतर जाय।

जनाब, इन्हीं शोहदों के सरगनों को लखनऊ वाले 'बांके' कहते हैं। शाम के वक्त तहमत पहने हुए और कसरती बदन पर जालीदार बनियाइन पहन कर उसके ऊपर बूटेदार चिकन का कुरता डांटे हुए जब ये निकलते तो लोग-बाग बड़ी हसरत की निगाहों से इन्हें देखते हैं। उस वक्त इनके पट्टेदार बालों में करीब आध पाव चमेली का तेल पड़ा रहता है; कान में इत्र की अनगिनती फुरहरियां खुंसी रहती हैं और एक बेले का गजरा गले तथा एक हाथ की कलाई पर रहता है। फिर ये अकेले भी नहीं निकलते, नके साथ इनके शागिर्द शोहदों का जुलूस रहता है—एक से एक ढ़कर बोलियां बोलते हुए, फब्तियां कसते हुए और शेखियां हांकते हुए। न्हें देखने के लिए एक हजूम उमड़ पड़ता है।

तो उस दिन मुझे अमीनाबाद से नक्खास जाना था। पास में पैसे म थे; इसलिए जब एक नवाब साहब ने आवाज दी 'नक्खास' तो मैं चक कर उनके इक्के पर बैठ गया। यहां यह बतला देना ठीक ही होगा कि

लखनऊ के इक्केवालों में तीन चौथाई शाही खानदान के हैं और यह उनकी बदकिस्मती है तथा सरकार की ज्यादती है कि उनका वसीका बन्द या कम कर दिया गया और उन्हें इक्का हांकना पड़ रहा है।

इक्का नखास की तरफ चला और मैंने मियां इक्केवाले से कहा—कहिए नवाब साहेब, खाने-पीने भर को तो पैदा कर लेते हैं?

इस सवाल का पूछा जाना था कि नवाब साहेब के उद्गारों के बांध का टूट पड़ना था। बड़े करुण स्वर में बोले—क्या बतलाऊँ हुजूर, अपनी क्या हालत है, कह नहीं सकता। खुदा जो कुछ दिखाएगा, देखूंगा। एक दिन था जब हम लोगों के बुजुर्ग हुकूमत करते थे, ऐशोआराम से जिन्दगी बिताते थे। लेकिन आज भूखों मरने की नौबत आ गई है। ओह हुजूर, अब इस पेशे में कुछ भी नहीं रह गया। पहले तो तांगे चले, जी को समझाया-बुझाया 'म्यां' अपनी-अपनी किस्मत? मैं भी तांगा ले लूंगा, यह तो वक्त की बात है; मुझे भी फायदा होगा। लेकिन क्या बतलाऊँ हुजूर, हालत दिनों- दिन बिगड़ती ही गई। अब देखिए मोटरों पर मोटरें चल रही हैं। भला बतलाइए हुजूर, जो सुख इक्के की सवारी में है, वह भला कहीं तांगे या मोटर में मिलने का? तांगे में पलथी मार कर बैठ नहीं सकते। जाते उत्तर की तरफ हैं मुंह दक्खिन की तरफ रहता है। अजी, साहब, हिन्दुओं में मुरदा उलटे सिर ले जाया जाता है, लेकिन तांगे में तो जिन्दा ही उलटी तरफ लोग चलते हैं। और जरा गौर कीजिए, ये मोटरें शैतान की तरह चलती हैं। जहां जाती हैं वहां बला की धूल उड़ाती हैं, इंसान अंधा हो जाय। मैं तो कहता हूँ कि बिना जानवर के आप ही आप चलनेवाली सवारी से तो दूर ही रहना चाहिए। उसमें शैतान का फेर है।

इक्केवाले नवाब और न जाने क्या क्या कहते, अगर वह 'या अली' के नारे से चौंक न उठते।

सामने क्या देखते हैं कि एक आलम उमड़ा पड़ रहा है। इक्का रकाब-गंज के पुल के पास पहुँच कर रुक गया।

एक अजीब समा था। रकाबगंज के पुल के दोनों तरफ करीब पन्द्रह हजार की भीड़ थी, लेकिन पुल पर एक आदमी नहीं। पुल के एक किनारे करीब पच्चीस शोहदे लाठी लिए हुए खड़े थे और दूसरी ओर भी उतने ही। लेकिन एक खास बात यह थी कि सड़क के बीचोबीच पुल के एक सिरे पर एक चारपाई रक्खी थी और दूसरी ओर दूसरी। बीच-बीच में रुक-रुक कर दोनों ओर से 'या अली' के नारे लगाते थे।

मैंने इक्केवाले से पूछा,—क्यों म्यां, क्या मामला है?

इक्केवाले ने एक तमाशबीन से पूछ कर कहा,—हुजूर, आज दो बांकों में लड़ाई होनेवाली है, उसी लड़ाई को देखने के लिए यह भीड़ इकट्ठा है।

मैंने फिर पूछा—यह क्यों?

इक्केवाले ने जवाब दिया,—हुजूर, पुल के इस पार के शोहदों का सरगना एक बांका है और उस पार के शोहदों का सरगना दूसरा बांका। कल पुल के इस पार के एक शोहदे से पुल के उस पार के दूसरे शोहदे का कुछ झगड़ा हो गया, और उस झगड़े में कुछ मार-पीट हो गई। लेकिन बाद में दोनों बांकों में इस फिसाद पर कहा-सुनी हुई और उस कहा-सुनी में ही मैदान बद दिया गया।

चुप होकर मैं उधर देखने लगा। एकाएक मैंने पूछा,—लेकिन ये चारपाइयां क्यों आई हैं?

'अरे हुजूर, इन बांकों की लड़ाई कोई ऐसी-वैसी थोड़ी ही होगी, इसमें खून बहेगा, और लड़ाई तब तक खत्म न होगी, जब तक एक बांका खत्म न हो जायगा। आज तो एक-आध लाश गिरेगी। ये चारपाइयां उन बांकों की लाशें उठाने के लिए आई हैं। दोनों बांके बीबी-बच्चों से रुखसत लेकर और कर्बला के लिए तैयार होकर आवेंगे।'

इसी समय दोनों ओर से 'या अली' की एक बहुत बुलन्द आवाज उठी। मैंने देखा कि पुल के दोनों ओर हाथ में लाठी लिए हुए दोनों बांके आ गये। तमाशबीनों में एक सकता-सा फैल गया, सब लोग चुप हो गये।

पुल के इस पारवाले बांके ने सड़क के दूसरे पार वाले बांके से कहा,—उस्ताद! और दूसरे पारवाले बांके ने कड़क कर उत्तर दिया,—उस्ताद!

पुल के इस पार वाले बांके ने कहा,—उस्ताद आज खून हो जायगा खून!

पुल के उस पार वाले बांके ने कहा,—उस्ताद, आज लाशें गिर जायेंगी लाशें।

पुल के इस पार वाले बांके ने कहा,—उस्ताद, आज कहर हो जायगा, कहर!

पुल के उस पार वाले बांके ने कहा,—उस्ताद, आज कयामत बरपा हो जायगी, कयामत!

चारों ओर एक गहरा सन्नाटा फैला था। लोगों के दिल धड़क रहे थे, भीड़ बढ़ती ही जा रही थी।

पुल के इस पार वाले बांके ने लाठी का एक हाथ घुमा कर एक कदम बढ़ाते हुए कहा,—तो फिर उस्ताद—होशियार!

पुल के उस पार वाले बांके के शागिर्दों ने गगनभेदी स्वर में नारा लगाया,—या अली !

पुल के उस पार वाले बांके ने भी लाठी का एक हाथ घुमा कर एक कदम बढ़ाते हुए कहा,—तो फिर उस्ताद सँभलना !

पुल के उस पार वाले बांके के शागिर्दों ने गगनभेदी स्वर में नारा लगाया,—या अली !

दोनों तरफ से दोनों बांके कदम ब कदम लाठी के हाथ दिखलाते तथा एक दूसरे को ललकारते हुए आगे बढ़ रहे थे, दोनों तरफ के बांकों के शागिर्द हर कदम पर 'या अली' के नारे लगा रहे थे और दोनों तरफ के तमाशबीनों के हृदय उत्सुकता, कौतूहल तथा इन बांकों की वीरता के प्रदर्शन के कारण धड़क रहे थे।

पुल के बीचो-बीच, एक दूसरे से दो कदम की दूरी पर दोनों बांके रुके। दोनों ने एक दूसरे को थोड़ी देर तक गौर से देखा। फिर दोनों बांकों की लाठियां उठीं और दाहने हाथ से बांये हाथ में चली गईं।

इस पार वाले बांके ने कहा—फिर उस्ताद !

उस पार वाले बांके ने कहा—फिर उस्ताद !

इस पार वाले ने अपना हाथ बढ़ाया और उस पार वाले बांके ने अपना हाथ बढ़ाया और दोनों बांकों के पंजे गुंथ गये।

दोनों बांकों के शागिर्दों ने नारा लगाया,—या अली ! पंजा टस से मस नहीं हो रहा है। दस मिनट तमाशबीन सकते की हालत में खड़े रहे, इतने में इस पार वाले बांके ने कहा—उस्ताद, गजब के कस हैं !

उस पार वाले बांके ने कहा—उस्ताद, बला का जोर है !

इस पार वाले बांके ने कहा—उस्ताद, अभी तक मैंने समझा था कि मेरी जोड़ का लखनऊ में कोई दूसरा नहीं है।

उस पार वाले बांके ने कहा—उस्ताद, आज मुझे अपनी जोड़ का आदमी मिला।

इस पार वाले बांके ने कहा—उस्ताद, तबियत नहीं होती कि तुम्हारे जैसे बहादुर आदमी का खून करूँ।

उस पार वाले बांके ने कहा—उस्ताद, तबियत नहीं होती कि तुम्हारे जैसे शेरदिल आदमी की लाश गिराऊँ।

थोड़ी देर के लिए फिर दोनों मौन हो गये, पंजा गुंथा हुआ, टस से मस नहीं हो रहा है।

इस पार वाले बांके ने कहा—उस्ताद, झगड़ा किस बात का है?

उस पार वाले बांके ने कहा—उस्ताद, यही तो मैं भी समझ नहीं पा रहा हूँ।

इस पार वाले बांके ने कहा—उस्ताद, पुल के इस तरफ वाले हिस्से का मालिक मैं!

उस पार वाले बांके ने कहा—उस्ताद, पुल के इस तरफ वाले हिस्से का मालिक मैं।

और दोनों ने एक साथ कहा—पुल की दूसरी तरफ से न हमें कोई मतलब है और न हमारे शागिर्दों को।

दोनों के हाथ ढीले पड़े—दोनों ने एक दूसरे को सलाम किया और फिर दोनों घूम पड़े। छाती फुलाए हुए दोनों बांके अपने शागिर्दों में आ मिले। बिजली की तरह यह खबर फैल गई कि दोनों बांके बराबर की जोड़ छूटे और उनमें सुलह हो गई।

इक्केवाले को पैसे देकर मैं वहां से पैदल ही लौट पड़ा; क्योंकि देर हो जाने के कारण नख्खास जाना बेकार था।

इस पार वाला बांका अपने शागिर्दों से घिरा हुआ चल रहा था। शागिर्द कह रहे थे,—उस्ताद, इस वक्त बड़ी समझ से काम लिया, वरना आज लाशें गिर जातीं, उस्ताद हम सबके सब अपनी अपनी जान दे देते। लेकिन उस्ताद, गजब के कस हैं!

इतने में बांके से किसी ने कहा—मुला स्वांग खूब कर्‌यो!

बांके ने देखा कि एक लम्बा और तगड़ा देहाती, जिसके हाथ में एक भारी सा लट्ठ है, सामने खड़ा मुसकरा रहा है।

उस वक्त बांके खून का घूंट पीकर रह गये। उन्होंने सोचा, एक बांका दूसरे बांके से ही लड़ सकता है, देहातियों से उलझना उसे शोभा नहीं देता।

शागिर्द भी खून का घूंट पीकर रह गये; उन्होंने सोचा, भला उस्ताद की मौजूदगी में उन्हें हाथ उठाने का कोई हक है?

महादेवी वर्मा

(जन्म १९०७ ई०)

आपका जन्म फरुखाबाद में एक प्रतिष्ठित घराने में हुआ। आपने १९३३ में संस्कृत में एम० ए० पास किया और उसी वर्ष प्रयाग-महिला-विद्यापीठ में प्रिंसिपल नियुक्त हो गईं। आपके नाना ब्रजभाषा के अच्छे कवि और भक्त पुरुष थे। माता हिंदी-कविता की विदुषी तथा उपासक थीं। तुलसी, सूर और मीरा की रचनाओं का परिचय आपको पहले-पहल माता ही से प्राप्त हुआ। पहले ब्रजभाषा में कुछ कवितायें लिखीं; परन्तु शीघ्र ही श्री मैथिलीशरण गुप्त की खड़ी बोली की कविताओं से प्रभावित होकर आपने भी खड़ी बोली में कविताएं लिखना शुरू कर दिया। आधुनिक हिंदी-कवियों में इन्होंने जितनी लोकप्रियता प्राप्त की है, उतनी बहुत कम कवियों को प्राप्त हुई है। यह बात शायद बहुत कम लोगों को मालूम है कि गद्य के ऊपर भी आपकी लेखनी का उतना ही अधिकार है, जितना पद्य पर। समय-समय पर आप संस्मरण के रूप में कुछ रेखा-चित्र लिखती रही हैं, जिन्हें हम तो कहानी भी मानेंगे। आपके इन रेखा-चित्रों का संग्रह 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखायें'—नाम से प्रकाशित हुआ है।

घीसा

वर्तमान की कौन-सी अज्ञात प्रेरणा हमारे अतीत की किसी भूली हुई कथा को सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ दोहरा जाती है, यह जान लेना सहज होता तो मैं भी आज गांव के उस मलिन सहमे नन्हें से विद्यार्थी की सहसा याद आ जाने का कारण बता सकती जो एक छोटी लहर के समान ही मेरे जीवन-तट को अपनी सारी आर्द्रता से छू कर अनन्त जल-राशि में विलीन हो गया है :

गंगा-पार झूंसी के खंडहर और उसके आस-पास के गांवों के प्रति मेरा अकारण आकर्षण रहा है। उसे देखकर ही सम्भवतः लोग जन्म-जन्मातर के सम्बन्ध का व्यंग्य करने लगे हैं। है भी तो आश्चर्य की बात ! जिस अवकाश के समय को लोग इष्ट-मित्रों से मिलने, उत्सवों में सम्मिलित होने तथा अन्य आमोद-प्रमोद के लिए सुरक्षित रखते हैं उसी को मैं इस खंडहर और उसके क्षत-विक्षत चरणों पर पछाड़ें खाती हुई भागीरथी के तट पर काट ही नहीं, सुख से काट देती हूँ।

दूर पास बसे हुए, गुड़ियों के बड़े-बड़े घरौंदों के समान लगनेवाले कुछ लिपे-पुते, कुछ जीर्ण-शीर्ण घरों से स्त्रियों का जो झुण्ड पीतल-तांबे के चमचमाते, मिट्टी के नये लाल और पुराने भदरंग घड़े लेकर गंगाजल भरने आता है उसे भी मैं पहचान गई हूँ। उनमें कोई बूटेदार लाल, कोई निरी काली, कोई कुछ सफेद और कोई मैल और सूत में अद्वैत स्थापित करनेवाली, कोई कुछ नई और कोई छेदों से चलनी बनी हुई धोती पहने रहती हैं। किसी की मोम लगी पाटियों के बीच में एक अंगुल चौड़ी सिंदूर-रेखा अस्त होते हुए सूर्य की किरणों में चमकती रहती है और किसी की कड़वे तेल से भी अपरिचित रूखी जटा बनी हुई छोटी-छोटी लटें मुख को

घेर कर उसकी उदासी को और अधिक केंद्रित कर देती हैं। किसी की सांवली गोल कलाई पर शहर की कच्ची नगदार चूड़ियों के नग रह-रह कर हीरे से चमक जाते हैं और किसी की दुर्बल कलाई पर लाख की पीली मैली चूड़ियां काले पत्थर पर मटमैले चन्दन की मोटी लकीरें जान पड़ती हैं। कोई अपने गिलट के कड़े-युक्त हाथ घड़े की ओट में छिपाने का प्रयत्न-सा करती रहती है और कोई चांदी के पछेली-ककना की झनकार के ताल के साथ ही बात करती है। किसी के कान में लाख की पैसे वाली तरकी धोती में कभी-कभी झांक भर लेती है और किसी की ढारें लम्बी जंजीर से गला और गाल एक करती रहती हैं। किसी के गुदना गुदे गेहुँए पैरों में चांदी के कड़े सुडौलता की परिधि-सी लगते हैं और किसी की फैली उँगलियों और सफेद एँड़ियों के साथ मिली हुई स्याही रांग और कांसे के कड़ों को लोहे की साफ की हुई बेड़ियां बना देती हैं।

वे सब पहले हाथ-मुंह धोती हैं फिर पानी में कुछ घुस कर घड़ा भर लेती हैं।--तब घड़ा किनारे रख सिर पर इँडुरी ठीक करती हुई मेरी ओर देख कर कभी मलिन, कभी उजली, कभी दुःख की व्यथा-भरी, कभी सुख की कथा-भरी मुस्कान से मुस्करा देती हैं। अपने मेरे बीच का अन्तर उन्हें ज्ञात है, तभी कदाचित् वे इस मुस्कान के सेतु से उसका वार-पार जोड़ना नहीं भूलतीं।

ग्वालों के बालक अपनी चरती हुई गाय-भैंसों में से किसी को उस ओर बहकते देखकर ही लकुटी लेकर दौड़ पड़ते हैं, गड़रियों के बच्चे अपने झुंड की एक भी बकरी या भेड़ को उस ओर बढ़ते देखकर कान पकड़ कर खींच ले जाते हैं और व्यर्थ दिन भर गिल्ली-डंडा खेलनेवाले निठल्ले लड़के भी बीच-बीच में नजर बचाकर मेरा रुख देखना नहीं भूलते।

उस पार शहर में दूध बेचने जाते या लौटते हुए ग्वाले, किले में काम

ला।

ते जाते या घर आते हुए मजदूर, नाव बांधते या खोलते हुए मल्लाह भी-कभी 'चुनरी त रंगाउब लाल मजीठी हो' गीत गाते मुझ पर दृष्टि ड़ते ही अकचका कर चुप हो जाते हैं। कुछ विशेष सभ्य होने का गर्व रनेवालों से मुझे एक सलज्ज नमस्कार भी प्राप्त हो जाता है।

कह नहीं सकती, कब और कैसे मुझे उन बालकों को कुछ सिखाने ा ध्यान आया। पर जब बिना कार्यकारिणी के निर्वाचन के, बिना दाधिकारियों के चुनाव के, बिना भवन के, बिना चंदे की अपील के और ारांश यह कि बिना किसी चिर-परिचित समारोह के मेरे विद्यार्थी पीपल े पेड़ की घनी छाया में मेरे चारों ओर एकत्र हो गये तब मैं बड़ी कठि-ाई से गुरु के उपयुक्त गम्भीरता का भार वहन कर सकी।

और वे जिज्ञासु कैसे थे सो कैसे बताऊँ! कुछ कानों में बालियां और ाथ में कड़े पहने धुले कुरते और ऊँची मैली धोती में नगर और ग्राम का सम्मिश्रण जान पड़ते थे, कुछ अपने बड़े भाई का पांव तक लम्बा कुरता पहने हुए खेत में डराने के लिए खड़े किये हुए नकली आदमी का स्मरण दिलाते थे, कुछ उभरी पसलियों, बड़े पेट और टेढ़ी दुर्बल टांगों के कारण अनुमान से ही मनुष्य-संतान की परिभाषा में आ सकते थे और कुछ अपने दुर्बल रूखे और मलिन मुखों की करुण सौम्यता और निष्प्रभ पीली आंखों में संसार भर की अपेक्षा बटोरे बैठे थे। पर घीसा उनमें अकेला ही रहा और आज भी मेरी स्मृति में अकेला ही आता है।

वह गोधूली मुझे अब तक नहीं भूली। सन्ध्या के लाल सुनहली आभा वाले उड़ते हुए दुकूल पर रात्रि ने मानों छिप कर अंजन की मूठ चला दी थी। मेरा नाववाला कुछ चिन्तित-सा लहरों की ओर देख रहा था; बूढ़ी भक्तिन मेरी किताबें, कागज, कलम आदि सँभाल कर नाव पर रख कर बढ़ते अन्धकार पर खिझला कर बुदबुदा रही थी या मुझे कुछ सनकी बनाने-

वाले विधाता पर, यह समझना कठिन था। बेचारी मेरे साथ रहते-रहते दस लम्बे वर्ष काट आई है, नौकरानी से अपने आपको एक प्रकार की अभिभाविका मानने लगी है, परन्तु मेरी सनक का दुष्परिणाम सहने के अतिरिक्त उसे क्या मिला है ! सहसा ममता से मेरा मन भर आया, परन्तु नाव को ओर बढ़ते हुए मेरे पैर, फैलते हुए अन्धकार में से एक स्त्री-मूर्त्ति को अपनी ओर आते देख ठिठक रहे। सांवले कुछ लम्बे-से मुखड़े में पतले स्याह होठ कुछ अधिक स्पष्ट हो रहे थे। आंखें छोटी, पर व्यथा से आर्द्र थीं। मलिन बिना किनारी की गाढ़े की धोती ने उसके सलूका-रहित अंगों को भली भांति ढँक लिया था, परन्तु तब भी शरीर की सुडौलता का आभास मिल रहा था। कन्धे पर हाथ रख कर वह जिस दुर्बल अर्धनग्न बालक को अपने पैरों से चिपकाए हुए थी, उसे मैंने सन्ध्या के झुटपुटे में ठीक से नहीं देखा।

स्त्री ने रुक-रुक कर कुछ शब्दों और कुछ संकेतों में जो कहा, उससे मैं केवल यह समझ सकी कि उसके पति नहीं हैं, दूसरों के घर लीपने-पोतने का काम करने वह चली जाती है और उसका यह अकेला लड़का ऐसे ही घूमता रहता है। मैं इसे भी और बच्चों के साथ बैठने दिया करूँ तो यह कुछ तो सीख सके। दूसरे इतवार को मैंने उसे सब से पीछे अकेले एक ओर दुबक कर बैठे हुए देखा। पक्का रंग, पर गठन में और अधिक सुडौल मलिन मुख जिसमें दो पीली पर सचेत आंखें जड़ी-सी जान पड़ती थीं। कस कर बन्द किये हुए पतले होठों की दृढ़ता और सिर पर खड़े हुए छोटे-छोटे रूखे बालों की उग्रता उसके मुख की संकोच-भरी कोमलता से विद्रोह कर रही थी। उभरी हुई हड्डियोंवाली गर्दन को सँभाले हुए झुके कन्धों से, रक्त-हीन मटमैली हथेलियों और टेढ़े-मेढ़े कटे हुए नाखूनोंयुक्त हाथों-वाली पतली बांहें ऐसी झूलती थीं जैसे ड्रामा में विष्णु बनने-

सा
ले की दो नकली भुजाएँ। निरन्तर दौड़ते रहने के कारण उस लचीले
रीर में दुबले पैर ही विशेष पुष्ट जान पड़ते थे।—बस ऐसा ही था वह
सा। न नाम में कवित्व की गुञ्जाइश, न शरीर में।

पर उसकी सचेत आंखों में न जाने कौन-सी जिज्ञासा भरी थी। वे
रन्तर घड़ी की तरह खुली मेरे मुख पर टिकी ही रहती थीं। मानों मेरी
ारी विद्या-बुद्धि को सोख लेना ही उनका ध्येय था।

लड़के उससे कुछ खिंचे-खिंचे-से रहते थे। इसीलिए नहीं कि वह कोरी
ा। वरन् इसलिए कि किसी की मां, किसी की नानी, किसी की बुआ आदि
ने घीसा से दूर रहने की नितान्त आवश्यकता उन्हें कान पकड़-पकड़ कर
मझा दी थी।—यह भी उन्हीं ने बताया और बताया घीसा के सब से
धिक कुरूप नाम का रहस्य। बाप तो जन्म से पहले ही नहीं रहा। घर में
ोई देखने-भालने-वाला न होने के कारण मां उसे बँदरिया के बच्चे के
मान चिपकाये फिरती थी। उसे एक ओर लिटा कर जब वह मजदूरी
के काम में लग जाती थी, तब पेट के बल घसिट-घसिट कर बालक संसार
के प्रथम अनुभव के साथ-साथ इस नाम की योग्यता भी प्राप्त करता
जाता था।

फिर धीरे-धीरे अन्य स्त्रियां भी मुझे आते-जाते रोक कर अनेक प्रकार
की भावभंगिमा के साथ एक विचित्र सांकेतिक भाषा में घीसा की जन्म-
जात अयोग्यता का परिचय देने लगीं। क्रमशः मैंने उसके नाम के अतिरिक्त
और कुछ भी न जाना।

उसका बाप था तो कोरी, पर बड़ा ही अभिमानी और भला आदमी
बनने का इच्छुक था। डलिया आदि बुनने का काम छोड़कर वह थोड़ी बढ़ई-
गीरी सीख आया और केवल इतना ही नहीं, एक दिन चुपचाप दूसरे गांव

से युवती वधू लाकर उसने अपने गांव की सब सजातीय सुन्दरी बालिकाओं को उपेक्षित और उनके योग्य माता-पिता को निराश कर डाला। मनुष्य इतना अन्याय सह सकता है, परन्तु ऐसे अवसर पर भगवान् की असहिष्णुता प्रसिद्ध ही है। इसी से जब गांव के चौखट किवाड़ बनाकर और ठाकुरों के घरों में सफेदी करके उसने कुछ ठाट-बाट से रहना आरम्भ किया तब अचानक हैजे के बहाने वह वहां बुला लिया गया जहां न जाने का बहाना न उसकी बुद्धि सोच सकी, न अभिमान। पर स्त्री भी कम गर्वीली न निकली। गांव के अनेक विधुर और अविवाहित कोरियों ने केवल उदारतावश ही उसकी जीवन-नैया पार लगाने का उत्तरदायित्व लेना चाहा, परन्तु उसने केवल कोरा उत्तर ही नहीं दिया, प्रत्युत उसे नमक-मिर्च लगा कर तीता भी कर दिया। कहा 'हम सिंह कै मेहरारू होइके का सियारन के जाब।' और बिना स्वर-ताल के आंसू गिरा कर, बाल खोल कर, चूड़ियां फोड़कर और बिना किनारे की धोती पहन कर जब उसने बड़े घर की विधवा का स्वांग भरना आरम्भ किया तब तो सारा समाज क्षोभ के समुद्र में डूबने-उतराने लगा। उस पर घीसा बाप के मरने के बाद हुआ है। हुआ तो वास्तव में छः महीने बाद, परन्तु उस समय के सम्बन्ध में क्या कहा जाय जिसका कभी एक क्षण वर्ष-सा बीतता है और कभी एक वर्ष क्षण हो जाता है। इसी से वह छः माह का समय रबर की तरह खिंच कर एक साल की अवधि तक पहुँच गया तो इसमें गांव वालों का क्या दोष।

यह कथा अनेक क्षेपकोमय विस्तार के साथ सुनाई तो गई थी मेरा मन फेरने के लिए और मन फिरा भी, परन्तु किसी सनातन नियम से कथावाचकों की ओर न फिर कथा के नायकों की ओर फिर गया और इस प्रकार घीसा मेरे और अधिक निकट आ गया। वह अपना जीवन-सम्बन्धी अपवाद कदाचित् पूरा नहीं समझ पाया था, परन्तु अधूरे का भी प्रभाव उस

पर न था क्योंकि वह सब को अपनी छाया से इस प्रकार बचाता रहता था मानों उसे कोई छूत की बीमारी हो।

पढ़ने, उसे सबसे पहले समझने, उसे व्यवहार के समय स्मरण रखने, पुस्तक में एक भी धब्बा न लगाने, स्लेट को चमचमाती रखने और अपने छोटे से छोटे काम का उत्तरदायित्व बड़ी गम्भीरता से निभाने में उसके समान कोई चतुर न था। इसी से कभी-कभी मन चाहता कि उसकी मां से उसे मांग ले जाऊँ और अपने पास रख कर उसके विकास की उचित व्यवस्था कर दूं---परन्तु उस उपेक्षिता, पर मानिनी विधवा का वही एक सहारा था। वह अपने पति का स्थान छोड़ने पर प्रस्तुत न होगी, यह भी मेरा मन जानता था और उस बालक के बिना उसका जीवन कितना दुर्बल हो सकता है, यह भी मुझसे छिपा न था। फिर नौ साल के कर्तव्यपरायण घीसा की गुरु-भक्ति देख कर उसकी मातृ-भक्ति के सम्बन्ध में कुछ सन्देह करने का स्थान ही नहीं रह जाता था और इस तरह घीसा वहीं और उन्हीं कठोर परिस्थितियों में रहा जहां क्रूरतम नियति ने केवल अपने मनोविनोद के लिए ही उसे रख दिया था।

शनिश्चर के दिन ही वह अपने छोटे दुर्बल हाथों से पीपल की छाया को गोबर-मिट्टी से पीला चिकनापन दे आता था। फिर इतवार को मां के मजदूरी पर जाते ही एक मैले फटे कपड़े में बँधी मोटी रोटी और कुछ नमक या थोड़ा चबेना और एक डली गुड़ बगल में दबाकर, पीपल की छाया को एक बार फिर झाड़ने-बुहारने के पश्चात् वह गंगा के तट पर आ बैठता और अपनी पीली सतेज आंखों पर क्षीण सांवले हाथ की छाया कर दूर-दूर तक दृष्टि को दौड़ाता रहता। जैसे ही उसे मेरी नीली सफेद नाव की झलक दिखाई पड़ती वैसे ही वह अपनी पतली टांगों पर तीर के समान उड़ता और बिना नाम लिए ही साथियों

को सुनाने के लिए गुरु साहब गुरु साहब कहता हुआ फिर पेड़ के नीचे पहुंच जाता जहां न जाने कितने बार दुहराये-तिहराये हुए कार्यक्रम की एक अन्तिम आवृत्ति आवश्यक हो उठती। पेड़ की नीची डाल पर रखी हुई मेरी शीतलपाटी उतार कर बारम्बार झाड़-पोंछ कर बिछायी जाती, कभी काम न आने वाली सूखी स्याही से काली कच्चे कांच की दावात अपने टूटे निब और उखड़े हुए रंगवाले भूरे कलम के साथ पेड़ के कोटर से निकाल कर यथास्थान रख दी जाती और इस विचित्र पाठशाला का विचित्र मंत्री और निराला विद्यार्थी कुछ आगे बढ़ कर मेरे सप्रणाम स्वागत के लिए प्रस्तुत हो जाता।

महीने में चार ही दिन मैं वहां पहुंच सकती थी और कभी-कभी काम की अधिकता से एक-आध छुट्टी का दिन और भी निकल जाता था, पर उस थोड़े से समय और इने-गिने दिनों में भी मुझे उस बालक के हृदय का जैसा परिचय मिला, वह चित्रों के एल्बम के समान निरन्तर नवीन-सा लगता है।

मुझे आज भी वह दिन नहीं भूलता जब मैंने बिना कपड़ों का प्रबन्ध किये हुए ही उन बेचारों को सफाई का महत्त्व समझाते-समझाते थका डालने की मूर्खता की। दूसरे इतवार को सब जैसे के तैसे ही सामने थे—केवल कुछ गंगा जी में मुंह इस तरह धो आये थे कि मैल अनेक रेखाओं में विभक्त हो गई थी, कुछ ने हाथ-पांव ऐसे घिसे थे कि शेष मलिन शरीर के साथ में अलग जोड़े से हुए लगते थे और कुछ 'न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी' की कहावत चरितार्थ करने के लिए कीट से मैले फटे कुरते घर ही छोड़ कर ऐसे अस्थिपंजरमय रूप में आ उपस्थित हुए थे जिसमें उनके प्राण, 'रहने का आश्चर्य है गये अचम्भा कौन' की घोषणा करते जान पड़ते थे। पर घीसा गायब था। पूछने पर लड़के काना-फूंसी करने या एक साथ

सभी उसकी अनुपस्थित का कारण सुनने को आतुर होने लगे। एक-एक शब्द जोड़-तोड़ कर समझाना पड़ा कि घीसा मां से कपड़ा धोने के साबुन के लिए तभी से कह रहा था—मां को मजदूरी के पैसे मिले नहीं और दूकानदार ने नाज लेकर साबुन दिया नहीं। कल रात को मां को पैसे मिले और आज सबेरे वह सब काम छोड़ कर पहले साबुन लेने गयी। अभी लौटी है, अतः घीसा कपड़े धो रहा है क्योंकि गुरु साहब ने कहा था कि नहा-धोकर साफ कपड़े पहन कर आना। और अभागे के पास कपड़े ही क्या थे! किसी दयावती का दिया हुआ एक पुराना कुरता जिसकी एक आस्तीन आधी थी और एक अंगौछा-जैसा फटा टुकड़ा। जब घीसा नहा कर गीला अंगौछा ही लपेटे और आधा भीगा कुरता पहने अपराधी के समान मेरे सामने आ खड़ा हुआ तब आंखें ही नहीं मेरा रोम-रोम गीला हो गया। उस समय समझ में आया कि द्रोणाचार्य ने अपने भील शिष्य से अंगूठा कैसे कटवा लिया था।

एक दिन न जाने क्या सोच कर मैं उन विद्यार्थियों के लिए ५-६ सेर जलेबी ले गयी। पर कुछ तौलनेवाले की सफाई से, कुछ तुलवाने वाले की समझदारी से और कुछ वहां की छीना-झपटी के कारण प्रत्येक को पांच से अधिक न मिल सकीं। एक कहता था मुझे एक कम मिली, दूसरे ने बताया मेरी अमुक ने छीन ली, तीसरे को घर में सोते हुए छोटे भाई के लिए चाहिए, चौथे को किसी की और याद आ गयी। पर इस कोलाहल में अपने हिस्से की जलेबियां लेकर घीसा कहां खिसक गया, यह कोई न जान सका। एक नटखट अपने साथी से कह रहा था 'सार एक ठो पिलवा पाले है ओही को देय गवा होई' पर मेरी दृष्टि से संकुचित होकर चुप रह गया। और तब तक घीसा लौटा हरे।

उसका सब हिसाब ठीक था—जलखईवाले छन्ने में तीन जलेबियां लपेट कर वह माई के लिए छप्पर में खोंस आया है, एक उसने अपने पाले हुए, बिना मां के, कुत्ते के पिल्ले को खिला दी और दो स्वयं खा लीं। और चाहिये पूछने पर उसकी संकोचभरी आंखें झुक गयीं —ओंठ कुछ हिले। पता चला कि पिल्ले को उससे कम मिली है। दें तो गुरु साहब पिल्ले को ही एक और दे दें।

और होली के पहले की एक घटना तो मेरी स्मृति में ऐसे गहरे रंगों से अंकित है जिसका धुल सकना सहज नहीं। उन दिनों हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य धीरे-धीरे बढ़ रहा था और किसी दिन उसके चरम सीमा तक पहुंच जाने की पूर्ण संभावना थी। घीसा दो सप्ताह से ज्वर में पड़ा था—दवा मैं भेजवा देती थी परन्तु देख-भाल का कोई ठीक प्रबन्ध न हो पाता था। दो-चार दिन उसकी मां स्वयं बैठी रही, फिर एक अन्धी बुढ़िया को बैठा कर काम पर जाने लगी।

इतवार की सांझ को मैं यथाक्रम बच्चों को विदा दे घीसा को देखने चली परन्तु पीपल से पचास पग पहुंचते न पहुंचते उसी को डगमगाते पैरों पर गिरते-पड़ते अपनी ओर आते देख मेरा मन उद्विग्न हो उठा। वह तो इधर पन्द्रह दिन से उठा ही नहीं था, अतः मुझे उसके सन्निपात-ग्रस्त होने का ही सन्देह हुआ। उसके सूखे शरीर में तरल विद्युत-सी दौड़ रही थी, आंखें और भी सतेज और मुख ऐसा था जैसे हल्की आंच में धीरे-धीरे लाल होनेवाला लोहे का टुकड़ा।

पर उसके वात-ग्रस्त होने से भी अधिक चिन्ताजनक उसकी समझदारी की कहानी निकली। वह प्यास से जाग गया था, पर पानी पास मिला नहीं और अंधी मनियां की आजी से मांगना ठीक न समझ कर चुपचाप कष्ट सहने लगा। इतने में मुल्लू के कक्का ने पार से लौट

र दरवाजे से ही अन्धी को बताया कि शहर में दंगा हो रहा है और
ब उसे गुरु साहब का ध्यान आया। मुल्लू के कक्का के हटते ही वह
से हौले-हौले उठा कि बुढ़िया को पता ही न चला और कभी दीवार
ा, कभी पेड़ का सहारा लेता-लेता वह इस ओर भागा। अब वह
रु साहब के गोड़ धर कर यहीं पड़ा रहेगा, पर पार किसी तरह भी
जाने देगा।

तब मेरी समस्या और भी जटिल हो गयी। पार तो मुझे पहुँचना
ा ही, पर साथ ही बीमार घीसा को ऐसे समझा कर जिससे उसकी
स्थिति और गम्भीर न हो जाय। पर सदा के संकोची नम्र और
ाज्ञाकारी घीसा का इस दृढ़ और हठी बालक में पता ही न चलता
ा। उसने पारसाल ऐसे ही अवसर पर हताहत दो मल्लाह देखे थे
ौर कदाचित् इस समय उसका रोग से विकृत मस्तिष्क उन चित्रों में
ौर गहरा रंग भर कर मेरी उलझन को और उलझा रहा था।
र उसे समझाने का प्रयत्न करते-करते अचानक ही मैंने एक ऐसा तार
दिया जिसका स्वर मेरे लिये भी नया था। यह सुनते ही कि मेरे पास
ल में बैठ कर दूर-दूर से आये हुए बहुत-से विद्यार्थी हैं जो अपनी मां
पास साल भर में एक बार ही पहुँच पाते हैं और जो मेरे न जाने से
केले घबरा जायँगे, घीसा का सारा हठ, सारा विरोध ऐसे बह गया
से वह कभी था ही नहीं।—और तब घीसा के समान तर्क की क्षमता
समें थी! जो सांझ को अपनी माई के पास नहीं जा सकते, उनके
स गुरु साहब को जाना ही चाहिए। घीसा रोकेगा तो उसके
गवान् जी गुस्सा हो जायंगे क्योंकि वे ही तो घीसा को अकेला बेकार
ाता देखकर गुरु साहब को भेज देते हैं आदि आदि। उसके तर्कों का
रण कर आज भी मन भर आता है। परन्तु उस दिन मुझे आपत्ति से
ाने के लिए अपने बुखार से जलते हुए अशक्त शरीर को घसीट लाने-

वाले घीसा को जब उसकी टूटी खटिया पर लिटा कर मैं लौटी तब मेरे मन में कौतूहल की मात्रा ही अधिक थी।

इसके उपरान्त घीसा अच्छा हो गया और धूल और सूखी पत्तियों को बांध कर उन्मत्त के समान घूमनेवाली गर्मी की हवा से उसका रोज संग्राम छिड़ने लगा—झाड़ते-झाड़ते वही पाठशाला धूल-धूसरित होकर, भूरे, पीले और कुछ हरे पत्तों की चादर में छिप कर, तथा कंकाल-शेष शाखाओं में उलझते, सूखे पत्तों को पुकारते, वायु की संतप्त सरसर से मुखरित होकर उस भ्रान्त बालक को चिढ़ाने लगती। तब मैंने तीसरे पहर से सन्ध्या समय तक वहां रहने का निश्चय किया परन्तु पता चला घीसा किस-किसाती आंखों को मलता और पुस्तक से बराबर धूल झाड़ता हुआ दिन भर वहीं पेड़ के नीचे बैठा रहता है मानों वह किसी प्राचीन युग का तपोव्रती अनागरिक ब्रह्मचारी हो जिसकी तपस्या भंग करने के लिए ही लू के झोंके आते हैं।

इस प्रकार चलते-चलते समय ने जब दाईं छूने के लिए दौड़ते हुए बालक के समान झपट कर उस दिन पर उँगली धर दी जब मुझे उन लोगों को छोड़ जाना था तब तो मेरा मन बहुत ही अस्थिर हो उठा। कुछ बालक उदास थे और कुछ खेलने की छुट्टी से प्रसन्न। कुछ जानना चाहते थे कि छुट्टियों के दिन चूने की टिकियां रखकर गिने जायें या कोयले की लकीरें खींचकर। कुछ के सामने बरसात में चूते हुए घर में आठ पृष्ठ की पुस्तक बचा रखने का प्रश्न था और कुछ कागजों पर अकारण ही चूहों की समस्या का समाधान चाहते थे। ऐसे महत्त्वपूर्ण कोलाहल में घीसा न जाने कैसे अपना रहना अनावश्यक समझ लेता था। अतः सदा के समान आज भी मैंने उसे न खोज पाया। जब मैं कुछ चिन्तित-सी वहां से चली तब मन भारी-भारी हो रहा था, आंखों में कोहरा-सा घिर

आता था। वास्तव में उन दिनों डाक्टरों को मेरे पेट में फोड़ा होने का सन्देह हो रहा था—आपरेशन की सम्भावना थी। कब लौटूंगी या नहीं लौटूंगी यही सोचते-सोचते मैंने फिर कर चारों ओर जो आर्द्र दृष्टि डाली, वह कुछ समय तक उन परिचित स्थानों को भेंट कर वहीं उलझ रही।

पृथ्वी के उच्छ्वास के समान उठते हुए धुंधलेपन में वे कच्चे घर आकण्ठ मग्न हो गए थे—केवल फूस के मटमैले और खपरैल के कत्थई सेवार वाले छप्पर, वर्षा में बढ़ी गंगा के मिट्टी-जैसे जल में पुरानी नावों के समान जान पड़ते थे। कछार की बालू में दूर तक फैले तरबूज के खेत अपने सिरकी और फूस के मुठियों, टट्टियों और रखवाली के लिए बनी पर्णकुटियों के कारण जल में बसे किसी आदिम द्वीप का स्मरण दिलाते थे। उनमें एक-दो दिए जल चुके थे तब मैंने दूर पर एक छोटा-सा काला धब्बा आगे बढ़ता देखा। वह घीसा ही होगा, यह मैंने दूर से ही जान लिया। आज गुरु साहब को उसे विदा देनी है, यह उसका नन्हा हृदय अपनी पूरी संवेदन-शक्ति से जान रहा था, इसमें सन्देह नहीं था। परन्तु उस उपेक्षित, बालक के मन में मेरे लिए कितनी सरल ममता और मेरे विछोह की कितनी गहरी व्यथा हो सकती है, यह जानना मेरे लिए शेष था।

निकट आने पर देखा कि उस धूमिल गोधूली में बादामी कागज पर काले चित्र के समान लगनेवाला नंगे बदन घीसा एक बड़ा तरबूज दोनों हाथों में सँभाले था जिसमें बीच के कुछ कटे भाग में से भीतर की ईषत-लक्ष्य ललाई चारों ओर के गहरे हरे-पन में कुछ खिले, कुछ बन्द गुलाबी फूल-जैसी जान पड़ती थी।

घीसा के पास न पैसा था न खेत—तब क्या वह इसे चुरा लाया है! मन का सन्देह बाहर आया ही और तब मैंने जाना कि जीवन का खरा सोना छिपाने के लिए उस मलिन शरीर को बनानेवाला ईश्वर उस बूढ़े आदमी

से भिन्न नहीं जो अपनी सोने की मोहर को कच्ची मिट्टी की दीवार में रखकर निश्चिंत हो जाता है। घीसा गुरु साहब से झूठ बोलना भगवान् जी से झूठ बोलना समझता है। वह तरबूज कई दिन पहले देख आया था। माई के लौटने में न जाने क्यों देर हो गई तब उसे अकेले खेत पर जाना पड़ा। वहां खेतवाले का लड़का था जिसकी उसके नये कुरते पर बहुत दिन से नजर थी। प्रायः सुना-सुना कर कहता था कि जिनकी भूख जूठी पत्तल से बुझ सकती है उनके लिए परोसा लगानेवाले पागल होते हैं। उसने कहा——पैसा नहीं है तो कुरता दे जाओ। और घीसा आज तरबूज न लेता तो कल उसका क्या करता। इससे कुरता दे आया——पर गुरु साहब को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि गर्मी में वह कुरता पहनता ही नहीं और जाने-आने के लिए पुराना ठीक रहेगा। तरबूज सफेद न हो इसलिए कटवाना पड़ा——मीठा है या नहीं यह देखने के लिए उँगली से कुछ निकाल भी लेना पड़ा।

गुरु साहब न लें तो घीसा रात भर रोयेगा——छुट्टी भर रोयेगा, ले जावें तो वह रोज नहा-धोकर पेड़ के नीचे पड़ा हुआ पाठ दोहराता रहेगा और छुट्टी के बाद पूरी किताब पट्टी पर लिख कर दिखा सकेगा।

और तब अपने स्नेह में प्रगल्भ उस बालक के सिर पर हाथ रखकर मैं भावातिरेक से ही निश्चल हो रही। उस तट पर किसी गुरु को किसी शिष्य से कभी ऐसी दक्षिणा मिली होगी, ऐसा मुझे विश्वास नहीं। परन्तु उस दक्षिणा के सामने संसार के अब तक के सारे आदान-प्रदान फीके हो गये।

फिर घीसा के सुख का विशेष प्रबन्ध कर मैं बाहर चली गई और लौटते-लौटते कई महीने लग गये। इस बीच में उसका कोई समाचार न मिलना ही सम्भव था। जब फिर उस ओर जाने का मुझे

अवकाश मिल सका तब घीसा को उसके भगवान् जी ने सदा के लिए पढ़ने से अवकाश दे दिया था—आज वह कहानी दोहराने की मुझमें शक्ति नहीं है। पर सम्भव है आज कल, कल के कुछ दिन, दिनों के मास और मास के वर्ष बन जाने पर मैं दार्शनिक के समान धीर भाव से उस जीवन का उपेक्षित अन्त बता सकूंगी। अभी मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है कि मैं अन्य मलिन मुखों में उसकी छाया ढूंढती रहूँ।

—

राधाकृष्ण

(जन्म—१९१२ ई०)

आपका जन्म विहार के रांची जिले में हुआ है। प्रारम्भिक शिक्षा भी आपने वहीं के स्कूल में पाई। लड़कपन ही से आपको कहानियां लिखने का शौक रहा। आपने गम्भीर और हास्य-व्यंग-पूर्ण कहानियां लिखी हैं। आपने व्यंग और हास्य-पूर्ण कहानियां "घोस, बोस, बनर्जी, चटर्जी" नाम से लिखी हैं जिनकी अच्छी प्रशंसा हुई है। आप बहुत सरल-स्वभाव एवं अपने सम्बन्ध में स्पष्ट-भाषी हैं। जीवन के विविध संघर्षों से आपने अपनी कहानियों के लिए सर्वापेक्षा अधिक उपकरण चुने हैं।

प्रोफेसर भीमभंटा राव

श्रीयुत गोलमिर्चफोरनदास भट्टाचार्य आजकल बड़े आदमी गिने जाते हैं। पहले कालेज में हम लोग नित्य इनका नवीन नाम-करण-संस्कार करते थे, लेकिन अब उन्होंने खुद अपना एक विकटाकार नाम रख लिया है। तब से हम लोग भी अपने-अपने काम-धन्धों में लग गये और उनका नामकरण बन्द हो गया। अब वे भीमभंटा सिंह राव कुलकर्णी के नाम से अपना परिचय देते हैं, और हम लोग भी उन्हें इसी नाम से पुकारते हैं। बाकी नामों को दिमाग के किसी अण्डमन टापू में भेज दिया गया या बंगाल की खाड़ी में डुबा डाला गया।

इससे यह न समझा जाय कि इनके माता-पिता इनको जन्म देने के बाद इनका नाम रखना ही भूल गये। उन्होंने बहुत सोच-विचार और तर्क-वितर्क करके इनका नाम रखा था—भामिनी-भूषण भट्टाचार्य। मेरे ही मुहल्ले में रहते थे और मेरे सहपाठी थे। पढ़ने-लिखने और तिलंगी उड़ाने में उन्हें कमाल हासिल था। लेकिन एक बात जरूर थी; पढ़ने की ओर ज्यादा झुकाव होने के कारण दोस्तों की चकल्लसबाजी की ओर इनका ध्यान कम जाता था। फलतः मिडिल क्लास में इनका नाम बुद्ध भट्टाचार्य रखा गया। मैट्रिक पहुँचते-पहुँचते इनके कई नाम और भी रखे गये, जिनमें चापड़चन्द्रम् एक मुख्य और प्रसिद्ध नाम था। मैट्रिक पास करके हम लोग कलकत्ता गये। प्रेसिडेंसी कालेज में जगह न मिली तो विद्यासागर-कालेज में भर्ती हुए। वहां होस्टल में बंगालियों की एक जबरदस्त जमात थी, जो रोज-रोज इनका नवीन नाम रख-रख कर प्रसन्न होती थी। पीछे तो इन्हें भी नाम की आदत हो गई। अपने नामों की याद करके ये भी उतना ही हँसते, जितना इनके मित्र और सहपाठी लोग हँसा करते थे।

हम लोग साथी थे। पढ़ाई-लिखाई की नौका किसी-किसी तरह बी० ए० के पास-घाट तक लगी, और मैंने मोटी-मोटी साइकोलॉजी और संस्कृत की पोथियों को प्रणाम करके सीधे घर का रास्ता लिया। फिर उसके बाद, जैसा कि दस्तूर है, डिप्टी मैजिस्ट्रेटी, आई० पी०, रजिस्ट्रारी आदि की उम्मीदवारी करते-करते अन्त में ३५) मासिक की किरानीगीरी की कुर्सी पर विश्राम ले लिया। भट्टाचार्य डिप्टी मैजिस्ट्रेटी से लेकर सब-रजिस्ट्रारी और बी० इ० डी० की उम्मीदवारी तक तो साथ था, लेकिन बाद में किधर 'फिरण्ट' हो गया, यह मुझे नहीं मालम। एक दिन गर्मी के दिनों में अकस्मात् आपके दर्शन हुए; कछ दुबले-पतले नजर आते थे। नाक जरा कुछ संगीन की तरह निकल आई थी, और आंखों पर चश्मा चढ़ गया था। मैंने पूछा—कोथाय भट्टाचार्य ?

भट्टाचार्य ने जवाब दिया—अब तो भाई, 'लॉ' ज्वायन किया है। वकील होकर आऊँगा। केस-टेस होने से दिया करना, उसमें से फीस का आधा दस्तूर के मुताबिक जरूर दे दिया करूँगा।

मैंने आश्वासन दिया कि पहले तुम वकील तो हो जाओ, पीछे केस-टेस देखा जायगा। गुड़ के निकट जिस तरह चींटे बिना किसी निमंत्रण या आह्वान के आपसे आप जमा हो जाते हैं उसी तरह वकील के निकट मुअक्किल मक्खियों की भांति भनभनाने लगते हैं।

भट्टाचार्य ने चश्मे को पोंछकर कहा—सो भाई, यह गलत बात है। इस पर मैं तुमसे बहुत 'डिफर' करके अलग चला जाता हूँ। अब वकीलों के सत्ययुग के दिन नहीं रहे। दिन भर बहस करने के बाद भी चार आना खैरात की तरह मिलता है, सो भी अगर उधार में चला गया तो और मुश्किल !

'ठीक है।'—मैंने कहा—'बचपन से ही तुम एक से एक चुस्त बात

कह दिया करते हो, तुम्हारी बात को आरा भी नहीं काट सकता। तो क्या विचार है? मैं अभी से तुम्हारे लिए 'केस' पकड़ने की कोशिश करता रहूँ?'

भट्टाचार्य की बांछें खिल गयीं। कुर्सी पर अकड़ कर बोले—हम लोग जीवन-पर्यन्त एक ही साथ रहे। एक ही साथ पढ़ा-लिखा, सब कुछ किया। घर भी हम लोगों का पड़ोस में ही है। यह तुम्हारा घर है, तो,वह देखो——मेरा घर है। ख्याल करो, मैं यहीं से बैठा-बैठा अपना घर देख सकता हूँ। हमारे समय पर तुम काम आओगे, तुम्हारे समय पर मैं भी यथाशक्ति काम आऊँगा। हां, तो तुम ऐसा करो, तुम्हारे पास जितने देहाती-शहरी मुकदमेबाज आया करें, सब से तुम यही कहा करना कि एक मेरा मित्र भट्टाचार्य कानून पढ़ रहा है। एक साल के बाद वकील होकर आवेगा तो हाकिमों के छक्के छुड़ा देगा। कैसा भी सड़ा हुआ 'केस' हो, वह उसे जरूर जीत लेगा—जरूर जीत लेगा—तुम ख्याल रखो, वह उसे जीते बिना हरगिज नहीं छोड़ेगा, कभी नहीं छोड़ेगा !

कहते समय भट्टाचार्य के दांत आपस में किटकिटाने लगे। आंखें चढ़ गयीं, ललाट सिकुड़ गया और आवेश के साथ अपनी बात की समाप्ति के विराम-स्वरूप जो उसने टेबल पर घूंसा मारा, तो मेरा 'पेपर वेट' साफ बित्ता भर ऊपर उछल गया।

मैंने कहा—बेशक! तुम जरूर मुकद्दमा जीतोगे।

भट्टाचार्य प्रसन्न होकर बोला—इससे हमारा.... नहीं-नहीं, तुम्हारा भी क्या लाभ होगा, इसे भी समझ लो। बार-बार एक ही बात को कहने से आदमी का विचार कुछ दूसरा हो जाता है। मनुष्य सोचता है कि जिस आदमी की इतनी प्रशंसा हो रही है, उसमें कुछ वास्तविक

तथ्य भी है या नहीं। तब आदमी मुकद्दमा लेकर मेरे पास आवेगा, और फिर जो आदमी इस मकड़ी के जाले में फँसा, सो फँसा !

यह कह कर उसने अपने भाव-प्रदर्शन के द्वारा मकड़ी के जाले का एक मानसिक चित्र अंकित करके बतला दिया। बोला—इसमें जो घुस गया, वह घुस गया। फिर तुम्हीं बोलो—किधर से निकल सकता है ?

मैंने उसके विचित्र भाव-प्रदर्शन को लक्ष्य करके कहा—यार अगर तुम सिनेमा में चले जाओ तो नाम कमा लो। सहगल की तरह नाम निकाल लोगे।

भट्टाचार्य ने नाक-भौं सिकोड़ कर कहा—सहगल तो वैसा नामी नहीं है; हां अलबत्ता कानन और पहाड़ी सान्याल का नाम सिनेमा लाइन में बहुत ज्यादा है। लेकिन तुम से मैं अन्तिम बार कहे जाता हूँ कि मेरे लिए 'केस-टेस' जरूर ठीक रखना।

मैंने यथाशक्ति तथाभक्ति का आश्वासन देकर उन्हें विदा कर दिया। जाते समय भी वे कहते गये—उसमें आधा तुम्हारा और आधा मेरा !

बस, यही हमारे भट्टाचार्य का अति संक्षिप्त परिचय है; बाकी अगर उनमें कोई खास बात थी, तो यही कि वे नास बहुत सूंघते थे और जरा भी नहीं छींकते थे।

(२)

उसके ठीक दो-तीन महीने बाद मैंने भट्टाचार्य को उसके घर में घुसते हुए देखा। तबीयत हुई—पुकारें; फिर कहा, चलो जरा चलकर मिल ही लें। पुनः विचार आया कि अब नाश्ता-पानी करके चलना ठीक होगा।

थोड़ी देर बाद जलपान करके भट्टाचार्य के घर के समीप पहुँचा, तो देख रहा हूँ कि भट्टाचार्य का चेहरा कभी खिड़की से दिखलाई देता है, और फिर गायब हो जाता है। क्षण भर में ही खिड़की पर दिखाई दिया, और गायब हो गया! पुनः दिखलाई दिया, पुनः अन्तर्धान हो गया! आखिर बात क्या है?

देखा, चेहरा तमतमाया हुआ, आंखें लाल-लाल सुर्ख! और दिखलाई देता है, फिर गायब हो जाता है, कैसा जादू है? मैंने घबरा कर किवाड़ खटखटाये। भीतर से उसने पूछा—कौन? क्या मांगता है?

मैंने लक्ष्य किया, आवाज भारी है और हांफती हुई निकल रही है। क्या बात है? घपले में पड़ा हुआ मैंने एक कुर्सी खींच ली और बाहर ही बैठ गया। सहसा कुछ ही क्षणों में कमरे के अन्दर से धमाधम-धमाधम की आवाज आने लगी। ऐसा मालूम हुआ, जैसे कमरे के अन्दर किसी के साथ उसकी उठा-पटक हो रही है। मैंने घबरा कर कई बार पुकारा; लेकिन भीतर से 'हूँ हूँ' की आवाज के सिवा कोई उत्तर नहीं मिला। उसके बाद कमरे की आपाधापी और उठा-पटक की आवाज विलुप्त हो गई। मैंने सोचा, अब दरवाजा खुलेगा; लेकिन दूसरे ही क्षण मालूम हुआ कि कमरे के अन्दर कोई उछल रहा है। कभी इस कोने में उछलता है, कभी उस कोने में, कभी अररंधम्म, अररंधम्म किसी के गिरने की आवाज भी आती है।

आखिर बात क्या है? भट्टाचार्य को हो क्या गया? अन्दर वह नाच रहा है या दस-पांच आदमियों से कुश्ती लड़ रहा है, कुछ पता नहीं लगता। इसी समय कमरे का दरवाजा खुला और दुबले-पतले शरीर पर लँगोट कसे भट्टाचार्य महोदय के दिव्य दर्शन हुए। नमस्कार करके कहा—मैंने तो समझा था कि कोई तुम्हें उठा-उठा कर पटक रहा है!

भट्टाचार्य ने कहा—मुझे कोई भला क्या पटकेगा; बल्कि मैं ही अभी पचास काल्पनिक पहलवानों को कुश्ती में पछाड़ कर आया हूँ।.... आओ, अन्दर आओ, बैठें।

अन्दर पहुँचकर मैंने देखा, कमरे की हुलिया ही बिलकुल बदल गई है। जहां एक वृहदाकार टेबुल थी, वहां अब सिर्फ उसकी दो टांगें ही पृथक् पृथक् विद्यमान थीं, जिनसे सम्भवतः मुगदर का काम लिया जाता था। चेस्ट एक्सपैंडर, डम्बल आदि कई ऐसी अनोखी चीजें मैंने उस कमरे में देखीं। मुझे कभी स्वप्न में भी अनुमान नहीं था कि भट्टाचार्य को कभी भी व्यायाम से इस प्रकार रुचि होगी। मैंने कहा—मेरा ख्याल है, अभी तुम व्यायाम कर रहे थे।

भट्टाचार्य कुर्सी पर बैठ कर बोला—हां; बस, व्यायाम ही इन दिनों मेरा जीवन-सर्वस्व हो गया है। मेरी स्पष्ट धारणा है कि व्यायाम से ही भारतवर्ष का उद्धार हो सकता है।

मैं आखिर क्या कहता! उसी की हां में हां मिलाया।

बोला—विचार तो बहुत ही उज्ज्वल है।

वह धोती पहनने लगा। धोती बांध कर उसने कहा—आज मैं महात्मा गांधी, आचार्य कृपलानी और राजेन्द्र बाबू के पास एक पत्र लिखने वाला हूँ। मेरा ख्याल है कि सत्याग्रह-संग्राम में भी व्यायाम की सख्त जरूरत है। सत्याग्रह-संग्राम वस्तुतः क्या है? उसमें यही है कि हमें मारो, लेकिन बदले में हम तुम्हें न मारेंगे। इसके लिए शरीर में ताकत होनी चाहिए, मिजाज में धैर्य होना चाहिए। इसके लिए व्यायाम की कितनी सख्त जरूरत है, यह तुम अच्छी तरह समझ सकते हो।

मैंने कहा--यह तो ठीक है; लेकिन मेरा ख्याल है कि आजकल तुम कानून के लेक्चरों को व्यर्थ ही छोड़ रहे हो।

उसने कहा--कानून तो मैंने कतई छोड़ ही दिया। अब मैंने व्यायाम को अपनाया है। तुम देखते हो, आजकल मैं दुगुना हो गया हूँ। बहुत सम्भव है, दो-चार दिनों के अन्दर ही मोटरें रोकने लगूंगा। तो तुम समझ गये होगे कि कानून पढ़ने से तो व्यायाम करना कहीं ज्यादा हितकर है। इसमें फायदा होगा ही। कानून पढ़ने से झख मारना पड़ता है। महीने में तीस रूपये निकल आये तो बहुत समझ लो। आज मैं दुगुना दिखलाई देता हूँ, कल तिगुना दिखलाई दूंगा, परसों चौगुना हो जाऊँगा।

मैंने गौर से उसे देखा; लेकिन कोई तबदीली नहीं मालूम होती थी--बिलकुल वही का वही! मैंने अविश्वासपूर्वक कहा--भाई, जो कहो, लेकिन दुगुना तो नहीं मालूम होते!

भट्टाचार्य चौंक कर बोला--नहीं कैसे मालूम होता; अवश्य मालूम होता हूँ। मेरी 'मस्ल' देखते हो? लो, देख लो!

यह कहते हुए वह विचित्र रूप से अकड़ गया, सांस फुला ली और भुजदण्ड मरोड़ कर पीठ की 'मस्ल' दिखलाने लगा। अगर शरीर में कहीं मांस-वांस हो, तो मस्ल दिखलाई भी दे जाय; लेकिन हड्डी की 'मस्ल' न आज तक किसी ने देखी है, और न मैं ही देख सका। मन ही मन सोचा, शायद यह माइक्रोस्कोप से अपनी 'मस्ल' देखा करता होगा! पीठ, पेट, छाती, भुजा आदि सभी प्रकार की 'मस्लों' का दर्शन कराने के बाद भट्टाचार्य ने पूछा--देख लिया?

मैंने धीरे से कहा--खूब देख लिया! क्या शरीर है! गामा से भी आगे निकल जाओगे।

भट्टाचार्य पुनः कुर्सी पर बैठ गया और निश्चिंत होकर बोला-- अभी गामा की क्या बात, थोड़े दिनों में देखना, मैं बंगाल के सुप्रसिद्ध पहलवान 'गोबर' से भी हेल्थ में आगे बढ़ जाऊँगा।

विचित्र विश्वास था! यदि मैं इसके विरुद्ध कुछ कहूं तो डर था, कहीं बिगड़ न जाय। लेकिन बचपन की दोस्ती तकाजा कर रही थी कि मैं कुछ जरूर कहूँ। पूछा--भाई, तुम्हें अपने दिमाग में कहीं गड़बड़ तो नहीं मालूम होता?

भट्टाचार्य तेज होकर बोला--तुम समझते होगे, मैं गलत रास्ते पर हूँ; लेकिन वस्तुतः मैं ठीक हूँ। तुम्हारी तरह मैं किरानी होकर झख नहीं मारना चाहता। मैंने तुमसे पहले ही कह दिया है कि मैं जिस दिन अपने को समतल भूमि पर खड़ा पाऊँगा, उसी दिन मैं समझूंगा कि मैं मर गया। तुम जानते हो, तीस-बत्तीस की वकालत से मेरा पेट नहीं भर सकता। मुझे हमेशा सौ से ऊपर चाहिए, नहीं तो मैं समतल भूमि पर खड़ा हो जाऊँगा।

विचित्र बात थी। मैं सुनता रहा, लेकिन कुछ भी नहीं समझ सका। उसने जोर से कहा--मैंने सिगरेट, चाय और कानून, तीनों चीजों को छोड़ दिया है। यह मेरी अक्लमन्दी की निशानी है, मैं बड़ा आदमी होना चाहता हूँ, किरानी होकर मेरी गुजर नहीं हो सकेगी। आज मेरा नाम है--भीमभंटा राव कुलकर्णी, व्यायाम-विशारद, मुदगराभिभूषित, डम्बल-द्वयी, त्रिदण्डकारक!

मैंने निश्चय किया कि यह अवश्य पागल हो गया है। यदि अभी तक पूरा पागल नहीं हुआ, तो दो-चार दिनों के अन्दर पागलखाने ले जाने लायक जरूर हो जायगा।

उसने पुनः कहा——मैंने अपना नाम बदल दिया है, हेल्थ भी बढ़ा लिया है; अब मैं संसार में अवश्य ही कुछ कर सकूंगा ।

लेकिन जैसा उसका हेल्थ था, उससे मेरा हेल्थ ही कहीं अच्छा था। उसके उज्ज्वल भविष्य की कल्पना का आनन्द लेता हुआ मैं घर लौट आया। उसी दिन रात को मैंने भीमभंटा राव की कहानी क्लब में सुनायी, तो लोगों ने आश्चर्य से सुना और हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये !

(३)

किरानीगिरी के वेतन से पेट भर तो जरूर जाता है , लेकिन जिन चीजों से पेट भरने की इच्छा रहती है उन चीजों के बदले किन्हीं दूसरी चीजों को ही पेट में ठूंसना पड़ता है ! बीवी का कहना है, मैंने तुमसे विवाह करके अपना 'फिउचर प्रास्पेक्ट' बिलकुल बरबाद कर दिया——न ईयररिंग, न नेकलेस और न हेलियो ट्रैप की साड़ी ही ! ठीक है, बिना अलंकारों के कविता भी जब अच्छी नहीं लगती, तो अलंकार-विहीना नारी कैसी लगेगी। श्रीमती जी के मुंह से यह भी सुना है कि पांच-छः महीने के अन्दर ही मेरे घर में निर्घोष वर्मा नामक कोई पुत्र या खद्योतकुमारी नाम की एक पुत्री पैदा होने वाली है। कहीं दोनों जुड़वां अवतीर्ण हो गये तो और भी गजब होगा ! फलतः किरानीगिरी से मुझे वितृष्णा होती है। दूर-दूर तक आंखें पसारता हूँ; लेकिन डरबी के दौड़नेवाले घोड़ों के अतिरिक्त कुछ भी नजर नहीं आता। कई बार लाटरी के टिकट भी लिये; लेकिन मेरे टिकट ऐसे फिसड्डी निकले कि दौड़ कर दौड़ने या न दौड़नेवाले घोड़ों तक भी नहीं पहुँच पाये और रास्ते में ही उनका अस्तित्व विलुप्त

हो गया। उन्हीं दिनों सुना, मेरे आफिस के नन्दबाबू को, ,इलस्ट्रेटेड वीकली' की 'वर्ग-पहेली' की खानापूरी करने में तीन सौ रुपये मिले हैं। मजा तो यह कि इन्होंने जो पूर्ति भेजी थी, उसमें तीन गलतियां भी मौजूद थीं। मैंने सोचा, मैं ऐसी गलती नहीं करूँगा। मुझसे तीन गलतियां तो कभी हो नहीं सकतीं। मैंने अपने जीवन भर में केवल एक ही गलती की है; और वह गलती यही है कि मैंने इस मृत्युलोक में जन्म ले लिया। यही सब कुछ सोच-विचार कर मैंने तय किया कि तीन गलतियां तो मुझ से कभी होंगी नहीं, बहुत होगी तो एक गलती, जो सदा होती आयी है। इसके लिये कम से कम १०००) पुरस्कार! वाकई यह 'इलस्ट्रेटेड वीकली' ही है, जो गलतियों के लिये भी पुरस्कार देता है! और नहीं तो हम सदा से सुनते आये हैं कि गलती करने पर दण्ड मिलता है। मैंने प्रण किया कि अब से बराबर वर्ग-पहेली में भाग लेकर अपना भाग्य जगाऊंगा। अब भाग्य जगाने के संकल्प के लिये कम से कम छः आने सप्ताह बहुत ही जरूरी है, उसके बाद वर्ग-पूर्ति की दक्षिणा अट्ठारह आने। कुल मिलाकर साढ़े सात रुपयों का मासिक खर्च था। मेरा मासिक बजट था पैंतीस रुपयों का, मैंने उस बजट में कमी करने के विषय में जितनी अक्ल लड़ाई उतनी अक्ल अगर जगदीश बोस या एडिसन साहब लड़ाते तो अवश्य ही कोई-न-कोई आविष्कार कर डालते; लेकिन मेरा बजट सुरसा की भांति मुंह बाये ही रहा। अन्त में मैंने अपनी अँगूठी और फाउण्टेनपेन बेंच कर किसी तरह दो महीने का खर्च निकाला। और वर्ग-पूर्ति भेजना शुरू किया। मेरी सारी पूर्तियों का नतीजा वही निकलता था, जैसा कि निकलना चाहिये। तस्वीरों से भरे हुए साप्ताहिक के अतिरिक्त मुझे कोई लाभ नहीं होता था। सहसा एक दिन उस पत्र में भीमभंटा राव कुलकर्णी

का नाम और तस्वीर देख कर मैं चौंका। तस्वीर तो अवश्य ही भट्टाचार्य की थी; लेकिन नाक और मुंह छोड़ कर बाकी सब कुछ किसी पहलवान का था। या भगवान्! फोटोग्राफ में भी जालसाजी होने लगी! उस फोटो में भीमभंटा जी के एक-एक बाजू भट्टाचार्य की दोनों जांघ के बराबर थे। 'मस्लें' इस तरह निकली हुईं कि मालूम होता था जैसे मेढ़े के दोनों सींग! देख कर तो म भौंचक हो गया। आज ही सवेरे भट्टाचार्य को देखा था। वही शिखण्डी सूरत, वही बदनसीब चेहरा और अभी...! आधे पृष्ठ में छपा उनका विज्ञापन भी बड़े मजे का था:—

यदि आप या आपकी स्त्री या आपके कोई भी—

दुबले हैं तो मोटे हो जायँगे,

नाटे हैं तो लम्बे हो जायँगे,

यदि तोंद निकल आयी है तो तोंद भसका दी जायगी।

यदि गाल पिचक गये हैं तो गाल डबल रोटी-से फुला दिये जायँगे।

कायापलट हो गयी!

चर्बी घट गयी!!

वजन बढ़ गया!!!

कमाल हो गया! कमाल हो गया!!

और यह कमाल प्रो० भीमभंटाराव की अपनी व्यायाम-पद्धति से ही सम्भव है। नियम के लिये पांच आने का स्टाम्प भेजिये।"

वाह रे प्रो० भीमभंटा राव! तुमने तो गजब कर दिया! सलाई

की लकड़ी सरीखे हाथ-पांव रख कर तुमने अपनी व्यायाम-प्रणाली ही निकाल डाली। जो लोग भैंस को बड़ी कहते हैं वे गलती करते हैं, अक्ल ही सबसे बड़ी चीज है। विज्ञापन देखने के बाद मुझसे स्थिर होकर बैठा नहीं गया। तुरंत भीमभंटा राव के पास पहुँचा। आज पांच-छः महीने के बाद देखा कि कमरे के डम्बल-वम्बल गायब हो गये हैं और वहां बाकायदा आफिस बना है। प्रोफेसर भीमभंटा राव मौज से टाइप कर रहे थे। मैंने कहा—यार, तुमने तो गजब कर डाला !

प्रोफेसर साहब ने मेरी पीठ ठोंक कर, कहा—गुड लक! मैं अभी तुम्हारे पास जानेवाला था। मुझे आज से... अभी से ... इसी वक्त से ४५) माहवारी पर एक ग्रेजुएट किरानी की सख्त जरूरत है। काम ज्यादा नहीं है; दो घंटे सुबह और तीन घंटे रात को। मेरा विश्वास है कि तुम इस काम को कर सकोगे। मेरे यहां एक किरानी प्रोस्पेक्टस विभाग में काम करता है; लेकिन मैं तुम्हें प्राइवेट काम के लिए रखना चाहता हूँ। रहोगे ?

मैंने प्रसन्नतापूर्वक कहा—तथास्तु! सोऽहं। भई भीमभंटा राव? तुम्हारा जादू चल गया।

जरूर चल गया!—प्रोफेसर भीम ने कहा—अगर वकील होता तो मारा-मारा फिरता। आज व्यायाम-पद्धति के चलते मैं ३००) मासिक कमा रहा हूँ। मेरा विश्वास है, विलायत के पत्रों में विज्ञापन देते ही मेरी आमदनी चौगुनी हो जायगी। यहां कोई थोड़े ही देखने आता है कि प्रोफेसर भीमराव कैसे आदमी हैं! जैसे-जैसे मेरा आर्डर बढ़ेगा, वैसे-वैसे तुम्हारे वेतन में भी तरक्की होती जायगी। यह लो, अभी से ही काम करना शुरू कर दो। आओ इधर, टाइपराइटर सँभालो

लो। यह देखो, यह एक मिनिस्टर साहब की पर्दानशीन बीबी की चिट्ठी है। वे लिखती हैं कि मैं बहुत मोटी हो गयी हूँ, क्या करूँ? इन्हें जवाब में लिखो--माई डियर सो ऐण्ड सो, आप अपने आंगन में एक बीस हाथ का खूंटा गाड़ कर रोज सुबह और शाम बीस दफे चढ़ा और उतरा कीजिये। खाने के लिये सुबह आध पाव छुहारा और आधा सेर दूध, शाम को पापड़ और बिस्कुट। चलो, हटाओ। अब दूसरा पत्र दो।···

दूसरा पत्र एक मेम साहबा का था। बेचारी ने कलप कर बड़ी कारुणिक भाषा में लिखा था--मेरे गाल पिचक गये हैं, इसी अपराध के कारण मेरे पतिदेव मुझे तलाक देना चाहते हैं। यदि आपकी व्यायाम-प्रणाली से मैं कुछ भी लाभ उठा सकी तो अपना अहोभाग्य समझूंगी, नहीं तो मैंने भी एक दूसरा पति तलाश कर लिया है; लेकिन वह अधिक उपहार नहीं दे सकता।

प्रोफेसर भीमभंटा राव कुलकर्णी ने जवाब भेजा--रोज पांच बार नाक को, जितना मसल सको, उतना मसला करो। खूब अधिक मसलने पर सिर्फ एक महीने के अन्दर ही अन्दर तुम्हारे गाल उभर आयेंगे, बल्कि सेव की तरह लाल भी रहा करेंगे।

एक विद्यार्थी ने लिखा था--मैं पुलिस की सब-इन्सपेक्टरी के लिए खड़ा होना चाहता हूँ; लेकिन मैं कद में सिर्फ दो इंच कम हूँ। कृपा कर के मेरी ऊँचाई बढ़ा दीजिए।

उसे जवाब दिया गया--आप किसी पेड़ की डाली पकड़ कर लटक जाइये। रोज कभी चमगादड़ की तरह लटकिये, कभी बन्दर की तरह डाल पकड़ कर झूलिये; शर्तिया लम्बे हो जाइयेगा। खाने के लिये मुर्गी का अंडा और दूध।

इसी भांति प्रोफेसर साहब की नौकरी बजा कर खुशी-खुशी घर लौटा, तो श्रीमती जी ने जताया—नौवां महीना सिर पर सवार है, निर्घोष वर्मा वा खद्योतकुमारी कभी भी आ सकती हैं।

मैंने गर्वपूर्वक डट कर कहा—आने दो, कुछ परवाह नहीं है!

अज्ञेय

(जन्म—१९११ ई०)

आपका पूरा नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन है। पिता डाक्टर हीरानन्द शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी० पुरातत्त्व-विभाग में हैं तथा कर्तारपुर (पंजाब) के निवासी हैं। वे कसिया, गोरखपुर में जब खुदाई का काम करा रहे थे, तब वहीं अज्ञेय जी का जन्म हुआ। अज्ञेय जी अपने पिता के साथ अनेक प्रान्तों में रह चुके हैं और वहां के स्कूलों में पढ़ चुके हैं। १९२५ में एक मद्रासी मास्टर से पढ़ कर प्राइवेट तौर पर मैट्रिक पास किया। तदनन्तर इंटर भी मद्रास से पास किया। बी० एस-सी० की परीक्षा १९२९ में लाहौर से पास की। एम० ए० में अंग्रेजी लेकर डेढ़ बरस तक पढ़ चुके थे जब नवम्बर १९३० में क्रान्तिकारी आन्दोलन में गिरफ्तार हो गए। लिखने की रुचि तभी से है जब से विद्याध्ययन आरम्भ हुआ। सन् २४ में पहली कहानी इलाहाबाद की स्काउटर-पत्रिका 'सेवा' में छपी। जेल में बहुत-सी कहानियां तथा कविताएं लिखीं, जो क्रमशः १९३२ से पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगीं। अब तक ७०-८० कहानियां आप लिख चुके हैं। कविताओं के भी तीन संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। एक उपन्यास भी हाल में छपा है।

रोज

दोपहरिए में उस घर के सूने आंगन में पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा, मानों उस पर किसी शाप की छाया मँडरा रही हो, उसके वातावरण में कुछ ऐसा अकथ्य, अस्पृश्य, किन्तु फिर भी बोझल और प्रकम्पमय और घना-सा फैल रहा था · · ।

मेरी आहट सुनते ही मालती बाहर निकली । मुझे देख कर, पहचान कर उसकी मुरझाई हुई मुख-मुद्रा तनिक-से मीठे विस्मय से जागी-सी और फिर पूर्ववत् हो गई । उसने कहा—आ जाओ ।—और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये भीतर की ओर चली । मैं भी उसके पीछे हो लिया ।

भीतर पहुँच कर मैंने पूछा—वे यहां नहीं हैं ?

'अभी आये नहीं, दफ्तर में हैं । थोड़ी देर में आ जायँगे । कोई डेढ़-दो बजे आया करते हैं ।',

'कब के गए हुए हैं ?'

'सबेरे उठते ही चले जाते हैं—'

मैं 'हूँ' कह कर पूछने को हुआ, 'और तुम इतनी देर क्या करती हो ?' पर फिर सोचा, आते ही एकाएक यह प्रश्न ठीक नहीं है । मैं कमरे के चारों ओर देखने लगा ।

मालती एक पंखा उठा लाई, और मुझे हवा करने लगी । मैंने आपत्ति करते हुए कहा—नहीं, मुझे नहीं चाहिए । पर वह नहीं मानी, बोली—वाह ! चाहिए कैसे नहीं ? इतनी धूप में तो आए हो । यहां तो—

मैंने कहा—अच्छा लाओ मुझे दे दो।

वह शायद 'ना' करने को थी; पर तभी दूसरे कमरे से शिशु के रोने की आवाज सुन कर उसने चुपचाप पंखा मुझे दे दिया और घुटनों पर हाथ टेक कर एक थकी हुई 'हुँह' कर के उठी और भीतर चली गई।

मैं उसके जाते हुए दुबले शरीर को देख कर सोचता रहा—यह क्या है ... यह कैसी छाया-सी इस घर पर छाई हुई है ...

मालती मेरी दूर के रिश्ते की बहिन है, किन्तु उसे सखी कहना ही उचित है, क्योंकि हमारा परस्पर सम्बन्ध सख्य का ही रहा है। हम बचपन से इकट्ठे खेले हैं, इकट्ठे लड़े और पिटे हैं, और हमारी पढ़ाई भी बहुत-कुछ इकट्ठे ही हुई थी। और हमारे व्यवहार में सदा सख्य की स्वेच्छा और स्वच्छन्दता रही है, वह कभी भ्रातृत्व के, या बड़े-छोटेपन के बन्धनों में नहीं घिरा।

मैं आज कोई चार वर्ष बाद उसे देखने आया हूँ। जब मैंने उसे इससे पूर्व देखा था, तब वह लड़की ही थी। अब वह विवाहिता है, एक बच्चे की मां भी है। इससे कोई परिवर्तन उसमें आया होगा और यदि आया होगा तो क्या, यह मैंने अभी तक सोचा नहीं था; किन्तु अब उसकी पीठ की ओर देखता हुआ मैं सोच रहा था, यह कैसी छाया इस घर पर छाई हुई है ... और विशेषतया मालती पर ...

मालती बच्चे को लेकर लौट आई और फिर मुझसे कुछ दूर नीचे बिछी हुई दरी पर बैठ गई। मैंने अपनी कुर्सी घुमा कर कुछ उसकी ओर उन्मुख होकर पूछा,—इसका नाम क्या है ?

मालती ने बच्चे की ओर देखते हुए उत्तर दिया—नाम तो कोई निश्चित नहीं किया, वैसे टिटी कहते हैं।

मैंने उसे बुलाया--टिटी ! टिटी ! आ जा !--पर वह अपनी बड़ी-बड़ी आंखों से मेरी ओर देखता हुआ अपनी मां से चिपट गया, और रुआंसा-सा होकर कहने लगा--उहुँ, उहुँ-उहुँ-ऊँ . . . ।

मालती ने फिर उसी ओर एक नजर देखा, और फिर बाहर आंगन की ओर देखने लगी।

काफी देर तक मौन रहा। थोड़ी देर तक तो वह मौन आकस्मिक ही था, जिससे मैं प्रतीक्षा में था कि मालती कुछ पूछे; किन्तु उसके बाद एकाएक मुझे ध्यान हुआ, मालती ने कोई बात ही नहीं की--यह भी नहीं पूछा कि मैं कैसा हूँ, कैसे आया हूँ . . .चुप बैठी है, क्या विवाह के दो वर्ष में ही वे बीते दिन भूल गई ? या अब मुझे दूर--इस विशेष अन्तर पर--रखना चाहती है ? क्योंकि वह निर्बाध स्वच्छन्दता अब तो नहीं हो सकती . . .पर फिर भी, ऐसा मौन, जैसा अजनबी से भी नहीं होना चाहिए . . .

मैंने कुछ खिन्न-सा होकर, दूसरी ओर देखते हुए कहा--जान पड़ता है, तुम्हें मेरे आने से विशेष प्रसन्नता नहीं हुई ।

उसने एकाएक चौंक कर कहा--हूँ ?

यह 'हूँ' प्रश्नसूचक था; किन्तु इसलिए नहीं कि मालती ने मेरी बात सुनी नहीं थी, केवल विस्मय के कारण । इसलिए मैंने अपनी बात दुहराई नहीं, चुप बैठा रहा । मालती कुछ बोली ही नहीं, तब थोड़ी देर बाद मैंने उसकी ओर देखा । वह एकटक मेरी ओर देख रही थी; किन्तु मेरे उधर उन्मुख होते ही उसने आंखें नीची कर लीं । फिर भी मैंने देखा--उन आंखों में कुछ विचित्र-सा भाव था; मानों मालती के भीतर कहीं कुछ चेष्टा कर रहा हो, किसी बीती हुई बात को याद करने की, किसी बिखरे हुए वायुमण्डल को पुनः जगा कर गतिमान करने की, किसी

टूटे हुए व्यवहार-तन्तु को पुनरुज्जीवित करने की, और चेष्टा में सफल न हो रहा हो...वैसे, जैसे बहुत देर से प्रयोग में न लाए हुए अंग को कोई व्यक्ति एकाएक उठाने लगे और पाए कि वह उठता ही नहीं है, चिर-विस्मृति में मानों मर गया है, उतने क्षीण बल से (यद्यपि वह सारा प्राप्य बल है) उठ नहीं सकता...मुझे ऐसा जान पड़ा, मानों किसी जीवित प्राणी के गले में किसी मृत जन्तु का तौक डाल दिया गया हो, वह उसे उतार कर फेंकना चाहे, पर उतार न पाए...।

तभी किसी ने किवाड़ खटखटाए। मैंने मालती की ओर देखा; पर वह हिली नहीं। जब किवाड़ दूसरी बार खटखटाए गये तब वह शिशु को अलग कर के उठी और किवाड़ खोलने गई।

वे, यानी मालती के पति आए। मैंने उन्हें पहली ही बार देखा था, यद्यपि फोटो से उन्हें पहचानता था। परिचय हुआ। मालती खाना तैयार करने आंगन में चली गई, और हम दोनों भीतर बैठ कर बातचीत करने लगे। उनकी नौकरी के बारे में, उनके जीवन के बारे में, उस स्थान के बारे में, आबोहवा के बारे में और ऐसे अन्य विषयों के बारे में, जो पहले परिचय पर उठा करते हैं, एक तरह का स्वरक्षात्मक कवच बन कर...।

मालती के पति का नाम है महेश्वर। वे एक पहाड़ी गांव में सरकारी डिस्पेंसरी के डाक्टर हैं। उसी हैसियत से इन क्वाटर्स में रहते हैं। प्रातःकाल सात बजे डिस्पेंसरी चले जाते हैं और डेढ़ या दो बजे लौटते हैं। उसके बाद दोपहर भर छुट्टी रहती है, केवल शाम को एक-दो घण्टे फिर चक्कर लगाने के लिए जाते हैं, डिस्पेंसरी के साथ के छोटे-से अस्पताल में पड़े हुए रोगियों को देखने और अन्य जरूरी हिदायतें करने से उनका जीवन भी बिलकुल एक निर्दिष्ट ढर्रे पर चलता है। नित्य

वही काम, उसी प्रकार के मरीज, वही हिदायतें, वही नुस्खे, वही दवाइयां। वे स्वयं उकताए हुए हैं। इसलिए और साथ ही इस भयंकर गर्मी के कारण वे अपने फुरसत के समय में भी सुस्त ही रहते हैं...

मालती हम दोनों के लिए खाना ले आई। मैंने पूछा—तुम नहीं खाओगी? या खा चुकी?

महेश्वर बोले, कुछ हँसकर—वह पीछे खाया करती है...।

पति ढाई बजे खाना खाने आते हैं! इसलिए पत्नी तीन बजे तक भूखी बैठी रहेगी!

महेश्वर खाना आरम्भ करते हुए मेरी ओर देख कर बोले—

आपको तो खाने का मजा क्या ही आयेगा, ऐसे बेवक्त खा रहे हैं।

मैंने उत्तर दिया—वाह! देर से खाने पर तो और भी अच्छा लगता है—भूख बढ़ी हुई होती है! पर शायद मालती बहिन को कष्ट होगा।

मालती टोककर बोली—उँहुँ, मेरे लिए तो यह नई बात नहीं है। रोज ही ऐसा होता है...।

मालती बच्चे को गोद में लिए हुए थी। बच्चा रो रहा था; पर उसकी ओर कोई भी ध्यान नहीं दे रहा था।

मैंने कहा—यह रोता क्यों है?

मालती बोली—हो ही गया है चिड़चिड़ा-सा, हमेशा ही ऐसा रहता है!—फिर बच्चे को डांट कर कहा—चुप रह! जिससे वह और भी रोने लगा। मालती ने भूमि पर बिठा दिया और बोली—अच्छा ले,! रो ले,! और रोटी लेने आंगन की ओर चली गई।

जब हमने भोजन समाप्त किया, तब तीन बजने वाले थे। महेश्वर ने बताया कि उन्हें आज जल्दी अस्पताल जाना है, वहां एक-दो चिन्ता-

जनक केस आए हुए हैं, जिनका आपरेशन करना पड़ेगा—दो की शायद टांगें काटनी पड़ें, Gangrene हो गया है...थोड़ी ही देर में वे चले गये। मालती किवाड़ बन्द कर आई और मेरे पास बैठने ही लगी थी कि मैंने कहा—अब खाना तो खा लो, मैं उतनी देर टिटी से खेलता हूँ।

वह बोली—खा लूंगी, मेरे खाने की कौन बात है,—किन्तु चली गई। मैं टिटी को हाथ में लेकर झुलाने लगा, जिससे वह कुछ देर के लिए शान्त हो गया।

दूर—शायद अस्पताल में ही, तीन खड़के। एकाएक मैं चौंका। मैंने सुना, मालती वहां आंगन में बैठी, अपने आप ही, एक लम्बी-सी, थकी हुई सांस के साथ कह रही है—तीन बज गए...मानों बड़ी तपस्या के बाद कोई कार्य सम्पन्न हो गया हो...।

थोड़ी ही देर में मालती फिर आ गई। मैंने पूछा—तुम्हारे लिए कुछ बचा भी था? सब कुछ तो...।

'बहुत था—'।

'हां, बहुत था! भाजी तो सारी मैं ही खा गया था, वहां बचा कुछ होगा नहीं, यों ही रोब तो न जमाओ कि बहुत था!'—मैंने हँसकर कहा।

मालती मानों किसी और विषय की बात कहती हुई बोली—यहां सब्जी-वब्जी तो कुछ होती नहीं, कोई आता-जाता है, तो नीचे से मँगा लेते हैं। मुझे आए पन्द्रह दिन हुए हैं, जो सब्जी साथ लाए थे, वही अभी बर्ती जा रही है...।

मैंने पूछा—नौकर कोई नहीं है?

'कोई ठीक मिला नहीं, शायद दो-एक दिन में हो जाय।'

'बर्तन भी तुम्हीं मांजती हो?'

'और कौन?'—कह कर मालती क्षण भर आंगन में जाकर लौट आई।

मैंने पूछा—कहां गई थीं?

'आज पानी ही नहीं है, बर्तन कैसे मँजेंगे?'

'क्यों, पानी को क्या हुआ?'

'रोज ही होता है—कभी वक्त पर तो आता नहीं। आज शाम को सात बजे आएगा, तब बर्तन मँजेंगे।'

'चलो तुम्हें सात बजे तक छुट्टी तो हुई'—कहते हुए मैं मन-ही-मन सोचने लगा, 'अब इसे रात के ग्यारह बजे तक काम करना पड़ेगा, छुट्टी क्या खाक हुई!'

यही उसने कहा। मेरे पास कोई उत्तर नहीं था; पर मेरी सहायता टिटी ने की, एकाएक फिर रोने लगा और मालती के पास जाने की चेष्टा करने लगा। मैंने उसे दे दिया।

थोड़ी देर फिर मौन रहा। मैंने जेब से अपनी नोटबुक निकाली और पिछले दिनों के लिखे हुए नोट देखने लगा। तब मालती को याद आया कि उसने मेरे आने का कारण तो पूछा नहीं, और बोली—यहां आए कैसे?

मैंने कहा ही तो—अच्छा, अब याद आया? तुमसे मिलने आया था, और क्या करने?

'तो दो-एक दिन रहोगे न?'

'नहीं, कल चला जाऊँगा, जरूरी जाना है।'

मालती कुछ नहीं बोली, कुछ खिन्न-सी हो गई। मैं फिर नोटबुक की तरफ देखने लगा।

थोड़ी देर बाद मुझे भी ध्यान हुआ, मैं आया तो हूँ मालती से मिलने, किन्तु यहां वह बात करने को बैठी है और मैं पढ़ रहा हूँ! पर बात भी क्या की जाय? मुझे ऐसा लग रहा था कि इस घर पर जो छाया घिरी हुई है, वह अज्ञात रह कर भी मानों मुझे भी वश कर रही है, मैं भी वैसा ही नीरस निर्जीव-सा हो रहा हूँ, जैसे—हां, जैसे यह घर, जैसे मालती...

मैंने पूछा—तुम कुछ पढ़ती-लिखती नहीं?—मैं चारों ओर देखने लगा कि कहीं किताबें दीख पड़ें।

'यहां!'—कह कर मालती थोड़ा-सा हँस दी। वह हँसी कह रही थी—यहां पढ़ने को है क्या?

मैंने कहा—अच्छा, मैं वापस जाकर जरूर कुछ पुस्तकें भेजूंगा... और वार्तालाप फिर समाप्त हो गया।

थोड़ी देर बाद मालती ने फिर पूछा,—आये कैसे हो, लारी में?

'पैदल।'

'इतनी दूर? बड़ी हिम्मत की!'

'आखिर तुमसे मिलने आया हूँ।'

'ऐसे ही आए हो?'

'नहीं, कुली पीछे आ रहा है, सामान लेकर।—मैंने सोचा—बिस्तरा ले ही चलूं।'

'अच्छा किया, यहां तो बस...' कह कर मालती चुप रह गई। फिर बोली—तब तुम थके होगे, लेट जाओ।

'नहीं, बिलकुल नहीं थका।'

'रहने भी दो, थके नहीं हैं! भला थके नहीं हैं?'

'और तुम क्या करोगी ?'

'बर्तन मांज रखती हूँ, पानी आयगा तो धुल जायँगे !'

मैंने कहा—वाह !—क्योंकि और कोई बात मुझे सूझी नहीं...।

थोड़ी देर में मालती उठी और चली गई, टिटी को साथ लेकर। तब मैं लेट गया और छत की ओर देखने लगा, और सोचने लगा... मेरे विचारों के साथ आंगन से आती हुई बर्तनों के घिसने की खन-खन ध्वनि मिल कर एक विचित्र एक-स्वरता उत्पन्न करने लगी, जिसके कारण मेरे अंग धीरे-धीरे ढीले पड़ने लगे, मैं ऊँघने लगा...।

एकाएक वह एकस्वरता टूट गई। मौन हो गई। इससे मेरी तन्द्रा भी टूटी, मैं उस मौन में सुनने लगा—

चार खड़क रहे थे, और इसी का पहला घण्टा सुन कर मालती रुक गई थी...।

वही तीन बजेवाली बात मैंने फिर देखी, अब की बार और भी उग्र रूप में। मैंने सुना, मालती एक बिलकुल अनैच्छिक, अनुभूतिहीन, नीरस, यन्त्रवत्—वह भी थके हुए यन्त्र की भांति—स्वर में कह रही है—'चार बज गए...' मानों इस अनैच्छिक समय गिनने-गिनाने में ही उसका मशीन-तुल्य जीवन बीतता हो, वैसे ही, जैसे मोटर का स्पीड मीटर यन्त्रवत् फासला नापता जाता है, और यन्त्रवत् विश्रान्त-स्वर में कहता है (किससे !) कि मैंने अमित शून्यपथ का इतना अंश तय कर लिया...।

न-जाने कब, कैसे मुझे नींद आ गई...

तब छः कभी के बज चुके थे, जब किसी के आने की आहट से मेरी नींद खुली, और मैंने देखा कि महेश्वर लौट आये हैं, और उनके साथ ही बिस्तर लिए हुए मेरा कुली। मैं मुंह धोने को पानी मांगने ही को था

कि मुझे याद आया, पानी नहीं होगा। मैंने हाथों से मुंह पोंछते-पोंछते महेश्वर से पूछा—आपने बड़ी देर की?

उन्होंने किञ्चित् ग्लानि-भरे स्वर में कहा—हां, आज वह Gangrene का आपरेशन करना ही पड़ा। एक कर आया हूँ, दूसरे को एम्बुलेन्स में बड़े अस्पताल भिजवा दिया है।

मैंने पूछा—Gangrene कैसे हो गया?

'एक कांटा चुभा था, उसी से हो गया। बड़े लापरवाह लोग होते हैं यहां के...'

मैंने पूछा—यहां आप को केस अच्छे मिल जाते हैं? आय के लिहाज से नहीं, डाक्टरी के अभ्यास के लिए?

बोले—हां, मिल ही जाते हैं। यही , हर दूसरे-चौथे दिन एक केस आ जाता है। नीचे बड़े अस्पतालों में भी...।

मालती आंगन से ही सुन रही थी, अब आ गई, बोली—हां, केस बनाते देर क्या लगती है? कांटा चुभा था, उस पर टांग काटनी पड़े, यह भी कोई डाक्टरी है? हर दूसरे दिन किसी की टांग, किसी की बांह काट आते हैं, इसी का नाम है अच्छा अभ्यास!

महेश्वर हँसे। बोले—न काटें तो उसकी जान गवाएँ?

'हां! पहले तो दुनिया में कांटे ही नहीं होते होंगे? आज तक तो सुना नहीं था कि कांटों के चुभने से लोग मर जाते हों।'

महेश्वर ने उत्तर नहीं दिया, मुस्करा दिये। मालती मेरी ओर देख कर बोली—ऐसे ही होते हैं डॉक्टर! सरकारी अस्पताल है न, क्या परवाह है। मैं तो रोज ही ऐसी बातें सुनती हूँ। अब कोई मर-मुर जाय

तो खयाल ही नहीं होता। पहले तो रात-रात भर नींद नहीं आया करती थी!

तभी आंगन में खुले हुए नल ने कहा—टिप, टिप, टिप,टटटिप...।

मालती ने कहा—'पानी!'—और उठ कर चली गई। 'खन-खन' शब्द से हमने जाना, बर्तन धोए जाने लगे हैं।

टिटी महेश्वर की टांगों के सहारे खड़ा मेरी ओर देख रहा था। अब एकाएक उन्हें छोड़कर मालती की ओर खिसकता हुआ चला। महेश्वर ने कहा—'उधर मत जा!'—और उसे गोद में उठा लिया। वह मचलने और चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा।

महेश्वर बोले—अब रो-धोकर सो जायगा, तभी घर में चैन पड़ेगी!

मैंने पूछा—आप लोग भीतर ही सोते हैं? गर्मी तो बहुत होती है?

'होने को तो मच्छर भी बहुत होते हैं, पर ये लोहे के पलंग उठा कर बाहर कौन ले जाए! अब की नीचे जाएंगे, तो चारपाइयां ले आएंगे।'—फिर कुछ रुक कर बोले—आज तो बाहर ही सोएंगे। आपके आने का इतना लाभ ही होगा!

टिटी अभी तक रोता ही जा रहा था। महेश्वर ने उसे एक पलंग पर बिठा दिया, और पलंग बाहर खींचने लगे। मैंने कहा—'मैं मदद करता हूँ'—और दूसरी ओर से पलंग उठाकर बाहर निकलवा दिए।

अब हम तीनों—महेश्वर, टिटी और मैं, दो पलंगों पर बैठ गए और वार्त्तालाप के लिए उपयुक्त विषय न पाकर उस कमी को छिपाने के लिए टिटी से खेलने लगे। बाहर आकर वह कुछ चुप हो गया था; किन्तु बीच-बीच में जैसे एकाएक कोई भूला हुआ कर्तव्य याद करके रो

उठता था और फिर एक दम चुप हो जाता था...और तब कभी-कभी हम हँस पड़ते थे, या महेश्वर उसके बारे में कुछ बात कह देते थे....।

मालती बर्तन धो चुकी थी। जब वह उन्हें लेकर आंगन के एक ओर रसोई के छप्पर की ओर चली, तब महेश्वर ने कहा--थोड़े से आम लाया हूँ, वे भी धो लेना।

'कहां हैं ?'

'अँगीठी पर रखे हैं--कागज में लिपटे हुए।'

मालती ने भीतर जाकर आम उठाए और अपने आंचल में डाल लिए। जिस कागज में वे लिपटे हुए थे, वह किसी पुराने अखबार का टुकड़ा था। मालती चलती-चलती सन्ध्या के उस क्षीण प्रकाश में उसी को पढ़ती जा रही थी...वह नल के पास जाकर खड़ी उसे पढ़ती रही, जब दोनों ओर पढ़ चुकी, तब एक लम्बी सांस लेकर उसे फेंक कर आम धोने लगी।

मुझे एकाएक याद आया...बहुत दिनों की बात थी--जब हम अभी स्कूल में भरती हुए ही थे। जब हमारा सब से बड़ा सुख, सब से बड़ी विजय थी, हाजिरी हो चुकने के बाद चोरी से क्लास से निकल भागना और स्कूल से कुछ दूर पर आम के बगीचे में पेड़ों पर चढ़ कर कच्ची अमियां तोड़-तोड़ कर खाना। मुझे याद आया--कभी जब मैं भाग आता था और मालती नहीं आ पाती थी, तब मैं भी खिन्न मन लौट जाया करता था...।

मालती कुछ नहीं पढ़ती थी, उसके माता-पिता तंग थे। एक दिन उसके पिता ने उसे एक पुस्तक लाकर दी, और कहा कि इसके बीस पेज रोज पढ़ा करो। हफ्ते भर बाद मैं देखूं कि इसे समाप्त कर चुकी हो।

नहीं तो मार-मार कर चमड़ी उधेड़ दूंगा। मालती ने चुपचाप किताब ले ली; पर क्या उसने पढ़ी ? वह नित्य ही उसके दस पन्ने, बीस पेज फाड़ कर फेंक देती, अपने खेल में किसी भांति फर्क न पड़ने देती। जब आठवें दिन उसके पिता ने पूछा, 'किताब समाप्त कर ली ?' तो उत्तर दिया--'हां, कर ली।' पिता ने कहा--'लाओ, मैं प्रश्न पूछूंगा।' --तो चुप खड़ी रही। पिता ने फिर कहा, तो उद्धत स्वर में बोली--किताब मैंने फेंक दी है। मैं नहीं पढ़ूँगी !

उसके बाद वह बहुत पिटी, पर वह अलग बात है.....इस समय मैं यही सोच रहा था कि वही उद्धत और चञ्चल मालती आज कितनी सीधी हो गई है, कितनी शान्त, और एक अखबार के टुकड़े को तरसती है...यह क्या है--

तभी महेश्वर ने पूछा--रोटी कब बनेगी ?

'बस, अभी बनाती हूँ।'

पर, अब की बार जब मालती रसोई की ओर चली, तब टिटी की कर्तव्य-भावना बहुत विस्तीर्ण हो गई। वह मालती की ओर हाथ बढ़ाकर रोने लगा और नहीं माना, नहीं माना। मालती उसे भी गोद में लेकर चली गई। रसोई में बैठकर एक हाथ से उसे थपकने और दूसरे से कई एक छोटे-छोटे डिब्बे उठा कर अपने सामने रखने लगी ...

और हम दोनों चुपचाप रात्रि की, और भोजन की; और एक-दूसरे के कुछ कहने की, और न जाने किस-किस न्यूनता की पूर्ति की, प्रतीक्षा करने लगे।

हम भोजन कर चुके थे, और बिस्तरों पर लेट गये थे। टिटी सो गया था, मालती उसे अपने पलंग के एक ओर मोमजामा बिछाकर उस

पर लिटा गई थी। वह सो तो गया था; पर नींद में कभी-कभी चौंक उठता था। एक बार तो उठकर बैठ भी गया था; तुरन्त ही लेट गया।

मैंने महेश्वर से पूछा--आप तो थके होंगे, सो जाइए।

वे बोले--थके तो आप अधिक होंगे--अठारह मील पैदल चल कर आए हैं।--किन्तु उनके स्वर ने मानों जोड़ दिया--थका तो मैं भी हूँ।

मैं चुप हो रहा। थोड़ी ही देर में किसी अपर संज्ञा ने मुझे बताया, वे ऊँघ रहे हैं।

तब लगभग साढ़े दस बजे थे। मालती भोजन कर रही थी।

मैं थोड़ी देर मालती की ओर देखता रहा। वह किसी विचार में (यद्यपि बहुत गहरे विचार में नहीं) लीन हुई धीरे-धीरे खाना खा रही थी। फिर मैं इधर-उधर खिसक कर, पलंग पर आराम से होकर आकाश की ओर देखने लगा।

पूर्णिमा थी। आकाश अनभ्र था।

मैंने देखा--उस सरकारी क्वार्टर की दिन में अत्यन्त शुष्क और नीरस लगनेवाली स्लेट की छत की स्लेटें भी चांदनी में चमक रही हैं, मानों चन्द्रिका उन पर से बहती हुई आ रही हो, झर रही हो...।

मैंने देखा--पवन में चीड़ के वृक्ष--गर्मी से सूख कर मटमैले हुए चीड़ के वृक्ष--धीरे-धीरे गा रहे हैं--कोई राग जो कोमल है, किन्तु करुण नहीं; अशान्तिमय है, किन्तु उद्वेगमय नहीं...।

मैंने देखा--प्रकाश से धुंधले नील आकाश के पट पर जो चमकदार नीरव उड़ान से चक्कर काट रहे हैं, वे भी सुन्दर दीखते हैं...

मैंने देखा--दिन भर की तपन, अशान्ति, थकान, दाह, पहाड़ों में

से भाप की नाईं उठ कर वातावरण में खोए जा रहे हैं, और ऊपर से एक कोमल, शीतल, सम्मोहन, आह्लाद-सा बरस रहा है, जिसे ग्रहण करने के लिए पर्वत-शिशुओं ने अपनी चीड़-वृक्ष-रूपी भुजाएँ आकाश की ओर बढ़ा रखी हैं...।

पर वह सब मैंने ही देखा, अकेले, मैंने... महेश्वर ऊँघ रहे थे, और मालती उस समय भोजन से निवृत्त होकर, दही जमाने के लिए मिट्टी का बर्तन गरम पानी से धो रही थी और कह रही थी, 'बस, अभी छुट्टी हुई जाती है।' और मेरे कहने पर कि 'ग्यारह बजनेवाले हैं,' धीरे से सिर हिलाकर जता रही थी कि रोज ही इतने बज जाते हैं,... मालती ने वह सब कुछ नहीं देखा। मालती का जीवन अपनी रोज की नियत गति से बहा जा रहा था और एक चन्द्रमा की चन्द्रिका के लिए, एक संसार के सौन्दर्य के लिए, रुकने को तैयार नहीं था...।

चांदनी में शिशु कैसा लगता है, इस अलस जिज्ञासा से मैंने टिटी की ओर देखा। और वह एकाएक मानों किसी शैशवोचित कामना से उठा और खिसककर पलंग से नीचे गिर पड़ा, और चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा। महेश्वर ने चौंक कर कहा—'क्या हुआ ?' मैं झपट कर उसे उठाने दौड़ा, मालती रसोई से बाहर निकल आई, मैंने उस 'खट !' शब्द को याद करके, धीरे से करुणा-भरे स्वर में कहा—चोट बहुत लग गई बिचारे के...!

यह सब मानों एक ही क्षण में, एक ही क्रिया की गति में हो गया।

मालती ने रोते हुए शिशु को मुझसे लेने के लिए हाथ बढ़ाते हुए कहा—इसके चोटें लगती ही रहती हैं, रोज ही गिर पड़ता है।

एक छोटे क्षण-भर के लिए, मैं स्तब्ध हो गया। फिर एकाएक मेरे

मन ने, मेरे समूचे अस्तित्व ने, विद्रोह के स्वर में कहा--कहा मेरे मन के भीतर ही, बाहर एक शब्द भी नहीं निकला !--मां, युवती मां ! यह तुम्हारे हृदय को क्या हो गया है, जो तुम अपने एकमात्र बच्चे के गिरने पर ऐसी बात कह सकती हो और यह अभी, जब तुम्हारा सारा जीवन तुम्हारे आगे है ।

और तब एकाएक मैंने जाना कि वह भावना मिथ्या नहीं है। मैंने देखा कि सचमुच उस कुटुम्ब में कोई गहरी, भयंकर छाया घर कर गई है, उनके जीवन के इस पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गई, उसका इतना अभिन्न अंग हो गई है कि वे उसे पहचानते ही नहीं, उसी की परिधि में घिरे हुए चले जा रहे हैं, इतना ही नहीं, मैंने उस छाया को देख भी लिया ।

इतनी देर में, पूर्ववत् शान्ति हो गई थी। महेश्वर फिर लेट कर ऊँघ रहे थे। टिटी मालती के लेटे हुए शरीर से चिपट कर चुप हो गया था, यद्यपि कभी एक-आध सिसकी उसके छोटे-से शरीर को हिला देती थी। मैं भी अनुभव करने लगा था कि बिस्तर अच्छा-सा लग रहा है। मालती चुपचाप ऊपर आकाश में देख रही थी; किन्तु क्या चंद्रिका को? या ताराओं को?...

तभी ग्यारह का घंटा बजा। मैंने अपनी भारी हो रही पलकें उठा कर अकस्मात् किसी अस्पष्ट प्रतीक्षा से मालती की ओर देखा। ग्यारह के पहले घंटे की खड़कन के साथ ही मालती की छाती एकाएक फफोले की भांति उठी और धीरे-धीरे बैठने लगी और घंटाध्वनि के कम्पन के साथ ही मूक हो जाने वाली आवाज में उसने कहा--ग्यारह बज गए !..

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

(जन्म १९१० ई०)

आपका जन्म जालंधर (पंजाब) में हुआ है। प्रारंभिक शिक्षा भी वहीं पाई। १९३१ में बी० ए० की परीक्षा पास की और जालंधर के अपने स्कूल में अध्यापक हो गए। पर शीघ्र ही उस जीवन से ऊब कर लाहौर चले आए। वहां कई उर्दू के पत्रों तथा पत्रिकाओं के सम्पादकीय विभाग में काम करते रहे। जब कालेज में पढ़ते थे, तभी उर्दू-कहानियों का एक संग्रह 'नौरतन' प्रकाशित हो चुका था। १९३३ में उर्दू कहानियों का एक दूसरा संग्रह भी प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष हिंदी में पहली कहानी 'हंस' में छपी। यह कहानी प्रेमचंद जी को बहुत पसन्द आई और इससे उत्साहित होकर हिन्दी में भी आपने कहानियां लिखना आरंभ कर दिया। १९३४ में समाचार-पत्रों की नौकरी छोड़कर कानून पढ़ने लगे, परन्तु कानून की डिग्री लेने के बाद भी प्रेक्टिस नहीं की। साहित्य-सेवा में ही लगे रहे। अब तक आप सौ से अधिक कहानियां लिख चुके हैं। कहानियों के अतिरिक्त आपने एकांकी नाटक तथा उपन्यास भी लिखे हैं। आपकी कविताओं के भी दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

पिंजरा

शान्ति ने ऊब कर कागज के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और उठ कर अनमनी-सी कमरे में घूमने लगी। उसका मन स्वस्थ नहीं था, लिखते-लिखते उसका ध्यान बँट जाता था। केवल चार पंक्तियां वह लिखना चाहती थी, पर वह जो कुछ लिखना चाहती थी, उससे लिखा न जाता था। भावावेश में कुछ का कुछ लिख जाती थी। छः पत्र वह फाड़ चुकी थी, यह सातवां था।

घूमते-घूमते, वह चुपचाप खिड़की में जा खड़ी हुई। सन्ध्या का सूरज दूर पश्चिम में डूब रहा था। माली ने क्यारियों में पानी छोड़ दिया था और दिन भर के मुरझाये फूल जैसे जीवन-दान पाकर खिल उठे थे। हल्की-हल्की ठंढी हवा चलने लगी थी। शान्ति ने दूर सूरज की ओर निगाह दौड़ाई--पीली-पीली सुनहरी किरणें, जैसे डूबने से पहले, उन छोटे-छोटे बच्चों के खेल में जी भर हिस्सा ले लेना चाहती थीं जो सामने के मैदान की हरी-भरी घास पर उन्मुक्त खेल रहे थे। सड़क पर दो कमीन युवतियां हँसती, चुहलें करती, उछलती-कूदती चली जा रही थीं। शान्ति ने एक दीर्घ निश्वास छोड़ा और मुड़कर उसने अपने इर्द-गिर्द एक थकी हुई निगाह दौड़ाई--छत पर बड़ा पंखा धीमी आवाज से अनवरत चल रहा था। दरवाजों पर भारी पर्दे हिल रहे थे और भारी कौच और उन पर रखे हुए रेशमी गद्दे, गलीचे और दरम्यान में रखे हुए छोटे-छोटे अठकोने मेज और उन पर पीतल के नन्हें-नन्हें हाथी और फूलदान--और उसने अपने-आप को उस पक्षी-सा महसूस किया जो विशाल स्वच्छंद आकाश के नीचे, खुली स्वतन्त्र हवा में आम की डाली से बँधे हुए पिंजरे में लटक रहा हो।

तभी नौकर उसके छोटे लड़के को जैसे बरबस खींचता-सा लाया।

धोबी की लड़की के साथ वह खेल रहा था। आव देखा न ताव और शान्ति ने लड़के को पीट दिया—क्यों तू उन कमीनों के साथ खेलता है ! क्यों खेलता है तू ! इतने बड़े बाप का बेटा होकर ! और उसकी आवाज चीख की हद को पहुँच गई। हैरान-से खड़े नौकर ने बढ़कर जबर्दस्ती बच्चे को छुड़ा लिया। शान्ति जाकर धम से कौच में धँस गई और उसकी आंखों से अनायास ही आंसू बह निकले !

तब वहीं बैठे-बैठे उसकी आंखों के सामने अतीत के कई चित्र फिर गये !

उसके पति तब लांडरी का काम करते थे। बाइबिल सोसाइटी के सामने जहां आज एक दन्दानसाज बड़े धड़ल्ले से लोगों के दांत उखाड़ने में निमग्न रहते हैं, उनकी लांडरी थी। आय अच्छी थी, पर खर्च भी कम न था। ३५ रुपया तो दूकान का किराया ही देना पड़ता था और फिर कपड़े धोने और इस्तिरी करने के लिए जो तबेला ले रखा था, उसका किराया अलग था। इसके अतिरिक्त धोबियों को वेतन, कोयला, मसाला और सौ दूसरे पचड़े ! इस सब खर्च की व्यवस्था के बाद जो थोड़ा-बहुत बचता था, उससे बड़ी कठिनाई के साथ घर का खर्च चलता था और घर उन्होंने दूकान के पीछे ही महीलाल स्ट्रीट में ले रखा था।

महीलाल स्ट्रीट जैसी अब है वैसी ही तब भी थी। मकानों का रूप यद्यपि इन दस वर्षों में कुछ बदल गया है, किन्तु मकानों में कुछ अधिक अन्तर नहीं आया। अब भी इस इलाके में कमीन बसते हैं और तब भी बसते थे। सील-भरी अँधेरी कोठरियां चमारों, धीवरों और शुद्ध हिन्दुओं का निवासस्थान थीं। एक ही कोठरी में रसोई, बैठक, शयन-गृह—और वह भी ऐसा, जिसमें सास-ससुर, बेटा-बहू, लड़कियां-लड़के, सब एक साथ सोते हों।

जिस मकान में शान्ति रहती थी, उसके नीचे टेंडी चमार अपने आठ लड़के-लड़कियों के साथ रहता था, दूसरी चौड़ी गली में मारवाड़ी की दूकान थी और जिधर दरवाजा था, उधर भंगी रहते थे। उनके दरवाजे से जरा ही परे भंगियों ने तंदूर लगा रखा था जिसका धुआं सुबह-शाम उनकी रसोई में आ जाया करता था, जिससे शान्ति को प्रायः रसोई की खिड़की बन्द रखनी पड़ती थी। दिन-रात वहां चारपाइयां बिछी रहती थीं और कपड़ा बचाकर निकलना प्रायः असम्भव होता था।

गर्मियों के दिन थे और म्यूनिसिपैलिटी का नल काफी दूर अनारकली के पास था, इसलिए गरीब लोगों की सहूलियत के खयाल से शान्ति ने अपने पति की सिफारिश पर नीचे डेवढ़ी के नल से उन्हें पानी लेने की इजाजत दे दी थी। किन्तु जब उन्हें उस मकान में आये कुछ दिन बीते तो शान्ति को मालूम हो गया कि यह उदारता बड़ी मँहगी पड़ेगी। एक दिन जब उसके पति नहाने के बाद साबुन की डिबिया नीचे ही भूल आये और शान्ति उसे उठाने गई तो उसने उसे नदारद पाया, फिर कुछ दिन बाद तौलिया गायब हो गया, और इसी तरह दूसरे-तीसरे कोई न कोई चीज गुम होने लगी। हार कर एक दिन शान्ति ने अपने पति के पीछे पड़कर नल की टोंटी पर लकड़ी का छोटा-सा बक्स लगवा दिया और चाबी उसकी अपने पास रख ली।

दूसरे दिन, जब एक ही धोती से शरीर ढांपे वह पसीने से निचुड़ती हुई, चूल्हे के आगे बैठी रोटी की व्यवस्था कर रही थी तो उसने अपने सामने एक काली-सी लड़की को खड़ी पाया।

लड़की उसकी समवयस्क ही थी। रंग उसका बेहद काला था और शरीर पर उसने अत्यन्त मैली-कुचैली धोती और बंडी पहन रखी थी। वह अपने गहरे काले बालों में सरसों ही का तेल डालती होगी, क्योंकि

उसके मस्तक पर बालों के नीचे पसीने के कारण तेल में मिली हुई मैल की एक रेखा बन रही थी। चौड़ा-सा मुंह और चपटी-सी नाक ! शान्ति के हृदय में क्रोध और घृणा का तूफान उमड़ आया। आज तक घर में जमादारिन के अतिरिक्त नीचे रहनेवाली किसी कमीन लड़की को ऊपर आने का साहस न हुआ था और न स्वयं ही उसने किसी से बातचीत करने की कोशिश की थी।

लड़की मुस्करा रही थी, और उसकी आंखों में विचित्र-सी चमक थी।

'क्या बात है'—जैसे आंखों ही आंखों में शान्ति ने क्रोध से पूछा।

तनिक मुस्कराते हुए लड़की ने प्रार्थना की कि बीवी जी पानी लेना है।

'हमारा नल भंगी-चमारों के लिए नहीं!'

'हम भंगी हैं न चमार!'

'फिर कौन हो?'

'मैं बीबी जी, सामने के मन्दिर के पुजारी की लड़की'...।

लेकिन शान्ति ने आगे न सुना था। उसे लड़की से बातें करते-करते घिन आती थी। धोती के छोर से चाबी खोलकर उसने फेंक दी।

इस काले-कलूटे शरीर में दिल काला न था। और शीघ्र ही शान्ति को इस बात का पता चल गया। रोज ही पानी लेने के वक्त चाबी के लिए गोमती आती। गली में पूर्बियों का जो मंदिर था, वह उसके पुजारी की लड़की थी! अमीरों के मंदिरों के पुजारी भी मोटरों में घूमते हैं। यह मंदिर था गरीब पूर्बियों का, जिनमें प्रायः सब चौकीदार, चपरासी, साईस अथवा मजदूर थे। पुजारी का कुटुम्ब भी खुली गली के

एक ओर भंगियों की चारपाइयों के सामने सोता था। और जब रात को कोई तांगा उधर गुजरता तो प्रायः किसी न किसी की चारपाई उसके साथ घसिटती हुई चली जाती। मंदिर में कुआं तो था, पर जब से इधर नल आया, उस पर डोर और रस्सी कभी ही रही और फिर जब समीप ही किसी की डेवढ़ी के नल से पानी मिल जाय तो कुएँ पर बाजू तोड़ने की क्या जरूरत है, इसलिए गोमती पानी लेने और कुछ पानी लेने के बहाने बातें करने रोज ही सुबह-शाम आ जाती। बटलोही नल के नीचे रखकर जिसमें सदैव पान के कुछ पत्ते तैरा करते, वह ऊपर चली आती और फिर बातों-बातों में भूल जाती कि वह पानी लेने आई है और उस समय तक न उठती जब तक उसकी बुढ़िया दादी गली में अपनी चारपाई पर बैठी हुई चीख-चीख कर गालियां देती हुई उसे न पुकारती।

इसका यह मतलब नहीं, कि इस बीच में शान्ति और गोमती में मित्रता हो गई थी। हां, इतना अवश्य हुआ कि शान्ति जब रसोई में खाना बनाती अथवा अन्दर कमरे में बैठी कपड़े सीती, तो उसको गोमती का सीढ़ियों में बैठकर बातें करते रहना बुरा नहीं लगता था। कई तरह की बातें होतीं—मुहल्ले के भंगियों की बातें, चमारों के घरेलू झगड़ों की बातें और फिर कुछ गोमती की निजी बातें। इस बीच में शान्ति को मालूम हो गया कि गोमती का विवाह हुए वर्षों बीत चुके हैं, पर उसने अपने पति की सूरत नहीं देखी ! बेकार है, इसलिए न वह उसे लेने आता है और न उसके पिता उसे उसके साथ भेजते हैं।

कई बार छेड़ने की गर्ज से, या कई बार मात्र आनन्द लेने की गर्ज से ही शान्ति उससे उसके पति के सम्बन्ध में और उसके अपने मनोभावों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछती। उत्तर देते समय गोमती शर्मा जाती थी।

किन्तु इतना सब होते हुए भी उसकी जगह वहीं सीढ़ियों में ही बनी रही।

फिर किस प्रकार पुजारी की वह काली-कलूटी लड़की वहां से उठकर, उसके इतने समीप आ गई कि शान्ति ने एक बार अनायास आलिंगन में लेकर कह दिया—आज से तुम मेरी बहन हुई गोमती—वह सब आज भी शान्ति को स्मरण था।

सर्दियों की रात थी और अनारकली में सब ओर धुआं-धुआं हो रहा था। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे लाहौर के समस्त तंदूरों, होटलों, घरों और कारखानों से सारे दिन उठनेवाले धुएँ ने सांझ होते ही इकट्ठे होकर अनारकली पर आक्रमण कर दिया हो। शान्ति अपने नन्हें को कंधे से लगाए, हाथों में कुछ हल्के-फुल्के लिफाफे थामे क्रय-विक्रय करके चली आ रही थी। वह कई दिन के अनुरोध के बाद अपने पति को इधर ला सकी थी और उन्होंने जी भर खाया-पिया और खरीद किया था। अनारकली के मध्य बंगाली रसगुल्लों की जो दूकान है, वहां से रसगुल्ले खाने को शान्ति का बड़ा मन होता था, पर उसके पति को कभी इतनी फुर्सत ही न हुई थी कि वहां तक सिर्फ रसगुल्ले खाने के लिए जा सकें। अस्पताल रोड के सिरे पर हलवाई के साथ चाटवाले की जो दूकान है, वहां से चाट खाने को शान्ति की बड़ी इच्छा थी, पर चाट ऐसी निकम्मी चीज खाने के लिए काम छोड़कर जाने का अवकाश शान्ति के पति के पास कहां? कई दिनों से वह अपने उम्मी के लिए कुछ गर्म कपड़ों के टुकड़े खरीदना चाहती थी। सर्दी बढ़ रही थी और उसके पास एक भी कोट न था। और फिर गरम कपड़ा न सही, वह चाहती थी कि कुछ ऊन ही मोल ले ली जाय, ताकि नन्हें का स्वेटर बुन दिया जाय। पर उसके पति 'हूँ, हां' करके टाल जाते थे, किन्तु उस दिन वह निरन्तर महीने भर तक अनुरोध करने के बाद

उन्हें अपने साथ अनारकली ले जाने में सफल हुई थी। और उस दिन उन्होंने जी-भर बंगाली के रसगुल्ले और चाटवाले की चटपटी चाट खाई थी, बल्कि घलुए में मोहन के पकौड़े और मटरोंवाले आलुओं के स्वाद भी चक्खे थे। फिर उम्मी के लिए कपड़ा भी खरीदा था और ऊन भी मोल ली थी और दो आने दर्जन ब्लेडोंवाली गुडवोग की डिबिया तथा एक कालगेट साबुन की दो आनेवाली टिकिया उसके पति ने भी खरीदी थी। कई दिनों से वे उन्हीं पुराने ब्लेडों को शीशे के ग्लास में तेज करके नहानेवाले साबुन ही से हजामत बनाते आ रहे थे और उस दिन शान्ति ने यह सब खरीदने के लिए उन्हें विवश कर दिया था। और दोनों जने यह सब खरीद कर खर्च करने के आनन्द की अनुभूति से पुलकित चले आ रहे थे।

दिसम्बर का महीना था और सूखा जाड़ा पड़ रहा था। शान्ति ने अपने सस्ते पर गरम शाल को नन्हें के गिर्द और अच्छी तरह लपेटते हुए अचानक कहा--निगोड़ा सूखा जाड़ा पड़ रहा है। सुनती हूं नगर में बीमारी फैल रही है।

पर उसके पति चुपचाप धुएं के कारण कड़वी हो जाने वाली अपनी आंखों को रूमाल से मलते चले आ रहे थे।

शान्ति ने फिर कहा--हमारी अपनी गली में कई लोग बीमार हो गये हैं। परसों टेंडी चमार का लड़का निमोनिया से मर गया।

तभी शाल में लिपटा-लिपटा बच्चा हल्के-हल्के दो बार खांसा और शान्ति ने उसे और भी अच्छी तरह शाल में लपेट लिया।

उसकी बात को सुनी-अनसुनी करके उसके पति ने कहा—आज बेहद बदपरहेजी की है, पेट में सख्त गड़बड़ी हो रही है।

घर आकर शान्ति ने जब लड़के को चारपाई पर लिटाया और मस्तक पर हाथ फेरते हुए उसके बालों को पिछली तरफ किया तो वह चौंककर पीछे हटी। उसने डरी हुई निगाहों से अपने पति की ओर देखा। वे सिर को हाथों में दबाये नाली पर बैठे थे।

'उम्मी का माथा तो तवे की तरह तप रहा है'—उसने बड़ी कठिनाई से गले को अचानक अवरुद्ध कर देनेवाली किसी चीज को बरबस रोक कर कहा।

लेकिन उसके पति को कै हुई।

शान्ति का कण्ठ अवरुद्ध-सा होने लगा था और उसकी आंखें भर-सी आईं थीं, पर अपने पति को कै करते देख बच्चे का खयाल छोड़ वह उनकी ओर भागी। पानी लाकर उनको कुल्ला कराया। निढाल-से होकर वे चारपाई पर पड़ गये पर कुछ ही क्षण बाद उन्हें फिर कै हुई।

शान्ति के हाथ-पांव फूल गये। घर में वह अकेली। सास, मा पास नहीं, कोई दूसरा नाता-रिश्ता भी समीप नहीं और नौकर—नौकर रखने की गुंजाइश ही कभी नहीं निकली। वह कुछ क्षण के लिए घबरा गई। एक उड़ी-उड़ी-सी दृष्टि उसने अपने ज्वर से तपते हुए बच्चे और बदहजमी से निढाल पति पर डाली। अचानक उसे गोमती का ख्याल आया। शान्ति अकेली कभी गली में नहीं उतरी थी, पर सब संकोच छोड़ वह भागी-भागी नीचे गई। अपनी कोठरी के बाहर, गली की ओर, मात्र ईंटों के छोटे-से पर्दे की ओट से बने हुए, रसोईघर में बैठी गोमती रोटी बेल रही थी और चूल्हे की आग से उसका काला मुख चमक-सा रहा था। शान्ति ने देखा—उसका बड़ा भाई अभी खाना खाकर उठा है। तब आगे बढ़कर उसने इशारे से गोमती को बुलाया। तवे को नीचे उतार और लकड़ी को बाहर खींचकर गोमती उसी तरह भागी आई। तब विनीत

भाव से संक्षेप में शान्ति ने अपने पति तथा बच्चे की हालत का उल्लेख किया और फिर प्रार्थना की कि वह अपने भाई से कहकर तत्काल किसी डाक्टर को बुला दे। उनकी लांडरी के साथ ही जिस डाक्टर की दूकान है, वह सुना है पास ही लाजपति रोड पर रहता है, यदि वह आ जाय तो बहुत ही अच्छा हो। और फिर साड़ी के छोर से पांच रुपये का एक नोट खोल शान्ति ने गोमती के हाथ में रख दिया कि फीस पहले ही क्यों न देनी पड़े, पर डाक्टर को ले अवश्य आये। और फिर चलते-चलते उसने यह भी प्रार्थना की कि रोटी पकाकर सम्भव हो तो तुम ही जरा आ जाना, उम्मी....।

शान्ति का गला भर आया था। गोमती ने कहा था।––आप घबरायें नहीं, मैं अभी भाई को भेज देती हूँ और मैं भी अभी आई और यह कहकर वह भागती-सी चली गई थी।

शान्ति वापस मुड़ी, तो सीढ़ियां चढ़ते-चढ़ते उसने महसूस किया कि शंका और भय से उसके पांव कांप रहे हैं और उसका दिल धक-धक कर रहा है।

ऊपर जाकर उसने देखा––उसके पति ऊपर से उतर रहे हैं। हाथ में उनके खाली लोटा है, चेहरा पहले से भी पीला हो गया है, और माथे पर पसीना छूट गया है।

शान्ति के उड़े हुए चेहरे को देखकर उन्होंने हँसने का प्रयत्न करते हुए कहा––घबराओ नहीं, सर्दियों में हैजा नहीं होता।

शान्ति ने रोते हुए कहा––आप ऊपर क्यों गये, वहीं नाली पर बैठ जाते। किन्तु जब पति ने नाली की ओर और फिर चारपाई पर पड़े हुए बीमार बच्चे की ओर इशारा किया, तो शान्ति चुप हो गई। उसने पहले

सहारा देकर पति को बिस्तर पर लिटाया। फिर नाली पर पानी गिराया, फिर दूसरे कमरे में बिस्तर बिछा; बच्चे को उस पर लिटा आई। तभी गोमती आ गई। खाना तो सब खा चुके थे, अपने हिस्से का आटा उठा, आग बुझा, वह भाग आई थी।

शान्ति ने कहा—मैं उम्मी को उधर कमरे में लिटा आई हूँ। मुझे डर है उसे सर्दी लग गई है। सांस उसे और भी कठिनाई से आने लगी है और खांसी भी बढ़ गई है। निचली कोठरी में पड़े हुए पुराने लिहाफ से कपड़े ले लो और अँगीठी में कोयले डाल उसकी छाती पर जरा उससे सेंक दो। इनके पेट में गड़बड़ है। मैं इधर इसका कुछ उपचार करती हूँ। कुछ नहीं तो गरम पानी करके बोतल ही फेरती हूँ।

गोमती ने कहा—इन्हें बीबी जी कोई हाजमे की चीज दो। हमारे घर तुम्मे की अजवाइन है! मैं उसमें से कुछ लेती आई हूँ, जब तक डाक्टर आये, उसे ही जरा गरम पानी से इन्हें दे दो।

बिना किसी तरह की हिचकिचाहट के शान्ति ने मैली सी पुड़िया में बँधी काली-सी अजवाइन ले ली थी और गोमती अँगीठी में कोयले डाल नीचे कपड़े लेने भाग गई थी।

बाहर शाम बढ़ चली थी। वहीं कमरे के अँधेरे में बैठे-बैठे शान्ति की आंखों के आगे चिन्ता और फिक्र के वे सब दिन-रात फिर गये। उनके पति को हैजा तो न था, किन्तु गैस्ट्रो ऐन्टिराइटिस (Gastroenteritis) तीव्र किस्म का था। डाक्टर के आने तक शान्ति ने गोमती के कहने पर उन्हें तुम्मे की अजवाइन दी थी, प्याज भी सुंघाया था और गोमती अँगीठी उठाकर दूसरे कमरे में बच्चे की छाती पर सेंक देने चली गई थी। डाक्टर के आने पर मालूम हो गया था कि उसे निमोनिया हो गया है और अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है।

शान्ति अपने पति और अपने बच्चे, दोनों की एक साथ कैसे तीमारदारी करती, उसने अपनी विवशता से गोमती की ओर देखा था। पर उसे होंठ हिलाने की जरूरत न पड़ी थी, बच्चे की सेवा-शुश्रूषा का समस्त भार गोमती ने अपने कंधों पर ले लिया था। शान्ति को मालूम भी न हुआ था कि वह कब घर जाती है, कब घरवालों को खाना खिलाती है या खाती है या खिलाती-खाती भी है या नहीं। उसने तो जब देखा, उसे छाया की भांति बच्चे के पास पाया। कई दिन तक एक ही जून खाकर गोमती ने बच्चे की तीमारदारी की थी।

दोपहर का समय था, उसके पति दूकान पर गये हुए थे। उम्मी को भी अब आराम था और वह उसकी गोद से लगा सोया पड़ा था और उसके पास ही फर्श पर टाट बिछाये गोमती पुराने ऊन के धागों से स्वेटर बुनना सीख रही थी। इतने दिनों की थकी-हारी उनींदी शान्ति की पलकें धीरे-धीरे बन्द हो रही थीं, वह उन्हें खोलती थी पर वे फिर बन्द हो-हो जाती थीं। आखिर वह वैसे ही पड़ी-पड़ी सो गई थी। जब वह फिर उठी तो उसने देखा, उम्मी रो रहा है, और गोमती उसे बड़े प्यार से सुरीली आवाज में थपक-थपक कर लोरी दे रही है। शान्ति ने फिर आंखें बन्द कर लीं। उसने सुना गोमती धीमे-धीमे स्वर से गा रही थी—

आ री कक्को, जा री कक्को, जंगल पक्को बेर
भय्या हाथे ढेला, चिड़ैया उड़े जा!

और फिर:

आ री चिड़ैया! दो पप्पड़ पकाए जा!
भय्या हाथे ढेला, चिड़ैया उड़े जा!

बच्चा चुप कर गया था। लोरी खत्म करके उसने बच्चे को गले से लगाकर चूम लिया। शान्ति ने अर्ध-निमीलित आंखों से देखा, बच्चे के

पीले जर्द सूखे से मुख पर गोमती का काला स्वस्थ मुख झुका हुआ है। सुख के आंसू उसकी आंखों में उमड़ आये। उसने उठ कर गोमती से बच्चे को ले लिया था और जब वह फिर टाट पर बैठने लगी थी तो दूसरे हाथ से शान्ति ने उसका हाथ पकड़ चारपाई पर बिठाते हुए, उसे अपने बाजू से बांध लिया था और कहा था—आज से तुम मेरी बहिन हुईं गोमती!

आंखें बन्द किये शान्ति इन्हीं स्मृतियों में गुम थी, उसकी आंखों से चुपचाप आंसू बह रहे थे कि अचानक उसके पति अन्दर दाखिल हुए। किसी जमाने में लांडरी चलानेवाले और समय पड़ने पर, स्वयं अपने हाथ से इस्त्री गरम करके कपड़ों को प्रेस करने में भी हिचकिचाहट न महसूस करने वाले ला० दीनदयाल और लाहौर की प्रसिद्ध फर्म 'दीनदयाल एन्ड सन्स' के मालिक प्रख्यात शेयर ब्रोकर लाला दीनदयाल में महान् अन्तर था। इस दस वर्ष के अर्से में उनके बाल यद्यपि पक गये थे, किन्तु शरीर कहीं अधिक स्थूल हो गया था। ढीले-ढाले और प्रायः लांडरी के मालिक होते हुए भी मैले कपड़े पहनने की जगह अब उन्होंने अत्यन्त बढ़िया किस्म का रेशमी सूट पहन रखा था और पांवों में श्वेत रेशमी जुराबें तथा काले सेंडल पहने हुए थे।

शान्ति ने झट रूमाल से आंखें पोंछ लीं।

बिजली का बटन दबाते हुए उन्होंने कहा—यहां अँधेरे में क्या पड़ी हो। उठो बाहर बाग में घूमो-फिरो और फिर बोले—इन्द्रानी का फोन आया था कि बहिन यदि चाहें तो आज सिनेमा देखा जाय।

बहिन—दिल ही दिल में विषाद से शान्ति मुस्करायी और उसके सामने एक और काली-कलूटी-सी लड़की का चित्र खिंच गया जिसे कभी उसने बहिन कहा था। किन्तु प्रकट उसने सिर्फ इतना कहा—मेरी तबीयत ठीक नहीं!

मुंह फुलाए हुए ला० दीनदयाल बाहर चले गये।

तब आंखों को फिर एक बार पोंछ कर और तनिक स्वस्थ होकर, शान्ति मेज के पास आई और कुर्सी पर बैठ, पैड अपनी ओर को खिसका, कलम उठा कर उसने लिखा--

बहिन गोमती,

तुम्हारी बहिन अब बड़ी बन गई है। बड़े आदमी की बीबी है। बड़े आदमियों की बीवियां अब उसकी बहनें हैं। पिंजरे में बन्द पक्षी को कब इजाजत होती है कि स्वच्छन्द, स्वतन्त्र विहार करनेवाले अपने हमजोलियों से मिले? मैंने तुम्हें कल फिर आने के लिए कहा था, पर अब तुम कल न आना। अपनी इस बंदिनी बहिन को भूलने की कोशिश करना।

--शान्ति

इस बार उसने एक पंक्ति भी नहीं काटी और न कागज ही फाड़ा। हां, एक बार लिखते-लिखते फिर आंखें भर आने से जो एक-दो आंसुओं की बूंदें पत्र पर अनायास ही गिर पड़ी थीं, उन्हें उसने ब्लाटिंग पेपर से सुखा दिया था। फिर पत्र को लिफाफे में बन्द करके उसने नौकर को आवाज दी और उसके हाथ में लिफाफा देकर कहा कि महीलाल स्ट्रीट में पूर्वियों के मंदिर के पुजारी की लड़की गोमती को दे आये। और फिर समझाते हुए कहा--गोमती, कुछ ही दिन हुए अपनी ससुराल से आई है।

पत्र लेकर नौकर चला ही था कि शान्ति ने उसे फिर आवाज दी और पत्र उसके हाथ से लेकर फाड़ डाला। फिर धीरे से उसने कहा--तुम गोमती से कहना कि बीबी अचानक आज मैके जा रही हैं और दो महीने तक वापस न लौटेंगी।

पोले-यह कहकर वह फिर खिड़की में जा खड़ी हुई और अस्त हो जाने-वाले सूरज के स्थान पर ऊपर की ओर बढ़ते हुए अँधेरे को देखने लगी।

बात इतनी ही थी कि आज दोपहर को जब वे ब्रिज खेल रहे थे तब नौकर ने आकर खबर दी थी कि महीलाल स्ट्रीट के पुजारी की लड़की गोमती आई है। तब खेल को बीच ही में छोड़कर, और भूलकर कि उसके पार्टनर राय साहब लाला बिहारीलाल हैं, वह भाग गई थी और उसने गोमती को अपनी भुजाओं में भींच लिया था और फिर वह उसे अपने कमरे में ले गई थी, तब दोनों बहुत देर तक अपने दुःख-सुख की बातें करती रही थीं। शान्ति ने जाना था कि किस प्रकार गोमती का पति काम करने लगा, उसे ले गया और उसे चार बच्चों की मा बना दिया और गोमती ने उम्मी का और दूसरे बच्चों का हाल पूछा था। ला० दीनदयाल इस बीच में कई बार बुलाने आये थे, पर वह न गई थी और जब दूसरे दिन आने का वादा लेकर उसने गोमती को विदा किया था तो उसके पति ने कहा था--तुम्हें शर्म नहीं आती, उस उजड्ड और गँवार औरत को लेकर तुम बैठी रहीं, तुम्हें मेरी इज्जत का जरा भी ख्याल नहीं। उसे बगल में लिए उन सब के सामने से गुजर गईं। राय साहब और उनकी पत्नी हँसने लगे और आखिर प्रतीक्षा कर करके चले गये.....।

इसके बाद उन्होंने और भी बहुत कुछ कहा था, लेकिन शान्ति ने तो फैसला कर लिया था कि वह पिंजरे को पिंजरा ही समझेगी और उड़ने का प्रयास न करेगी।

भरके
जाने-
गी।
रहे
की
लकर
ई थी
उसे
बातें
काम
और
याल
दूसरे
उसके
ौरत
उसे
नकी

ने तो
उड़ने